राज्यों के शासन व उनकी राजनीति में राज्यपालों की भूमिका-(1967 के उपरान्त)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डॉ० ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

प्रो० हर्षनाथ मिश्रा

राजनीति विज्ञान विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता

नीलिमा सिंह
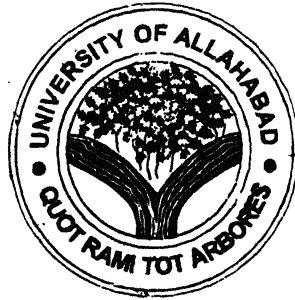
राजनीति विज्ञान विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद (उ0 प्र0)

2001

CERTIFICATE

This is to certify that Smt. Neelima Singh has completed this work under my supervision and guidance. This is her own work and I recommend that the Thesis be submitted to the Allahabad University for the award of the degree of Doctor of Philosophy in Political Science.

(Harsha Nath Misra)

Date:
12.12.2001

प्राक्कथन

1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व कांग्रेस को केन्द्र व अधिकांश राज्यों में पूर्ण बहुमत प्राप्त था। एक ही दल द्वारा शासति होने के कारण केन्द्र वा राज्यों के मध्य विवाद उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत कम थी और जो विवाद उत्पन्न हुये भी, उन्हें दलीय स्तर पर दूर भी कर दिया गया। राज्यपालों की भूमिका विवादों से दूर थी, एवं उन्हें संवैधानिक प्रमुख के रूप में नाममात्र के कार्य करने थे। यही कारण है कि उत्तर प्रदेश की राज्यपाल सरोजनी नायडू ने राज्यपाल को 'सोने के पिंजड़े में बन्द पक्षी'' कहा था।

चतुर्थ आम चुनाव (1967) के पश्चात् भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में आधारभूत परिवर्तन हुआ और कई राज्यों में गैर कांग्रेसी दल या गैर कांग्रेसी संयुक्त मोर्चा की सरकारें बनीं। दल-बदल सामान्य प्रक्रिया हो गयी तथा राज्य सरकारों की स्थिरता पर प्रश्न चिन्ह लग गया। इन स्थितियों में केन्द्र की कांग्रेस सरकारों ने राज्यों में राज्यपालों के माध्यम से दल-बदल को प्रोत्साहन दिया और अपने दल की सरकार गठित करने का प्रयत्न किया। यहीं से राज्यपालों की भूमिका का विवादास्पद रूप प्रकट हुआ। कालान्तर में, अन्य दलों की़ केन्द्र में सरकार बनने के पश्चात् भी इस पद का दुरूपयोग करने की परम्परा समाप्त नहीं हुयी।

भारतीय संविधान में राज्यपालों की स्थिति से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण अध्ययन हो चुके हैं और एन. एस. गहलौत, जे. आर. सिवाच तथा एम. एस. डाहिया द्वारा राज्यपालों की संवैधानिक स्थिति के साथ ही साथ व्यवहारिक स्थिति का महत्वपूर्ण अध्ययन किया गया है। परन्तु इस शोध में राज्यपालों की भूमिका से सम्बन्धित अन्य पहलुओं पर ध्यान दिया गया है एवं न्यायिक निर्णयों का भी इस सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। केन्द्र में गठबन्धन सरकार बनने के पश्चात्, राज्यपालों की भूमिका पर क्या प्रभाव पड़ा और राज्यपाल की भूमिका के सम्बन्ध में सरकारिया आयोग के सुझावों का भी विश्लेषण किया गया है।

शोध प्रारम्भ करते समय गैर कांग्रेसी (आई) शासित राज्यों द्वारा राज्यपालों की भूमिका की बहुत निंदा की गयी और एक सी परिस्थितियों में राज्यपालों द्वारा की गयी अलग-अलग कार्यवाहियों की आलोचना की गयी। विशेष रूप से सरकार के गठन व बर्खास्गी, राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा,

विधान सभा भंग करने सम्बन्धी कार्यों में केन्द्र द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति व पदच्युति राजनीतिक हितों की पूर्ति को ध्यान में रख के की गयी। इन सब विवादों के कारण इस शोध विषय में मेरी रूचि उत्पन्न हुयी।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में 1967 के पश्चात् राज्यों के शासन व राजनीति में राज्यपालों की भूमिका के विभिन्न आयामों का अध्ययन किया गया है। प्रथम अध्याय राज्यपाल पद के विकास अर्थात् उसकी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि से सम्बन्धित है। संघात्मक शासन व्यवस्था में प्रान्तीय कार्यपालक की महत्ता को समझने के लिए इसका अध्ययन आवश्यक है। द्वितीय अध्याय में संविधान निर्माताओं द्वारा राज्यपाल पद व उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में किये गये विचार-विमर्श व अन्त में भारतीय संविधान में स्वीकृत राज्यपाल पद सम्बन्धी प्रावधानों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में राज्यपाल की नियुक्ति व पदच्युति का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार प्रत्येक केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल ने इस पद को राजनीतिक हितों की पूर्ति हेतु प्रयोग किया और राज्यपाल पद का राजनीतिकरण किया। चतुर्थ अध्याय में राज्य द्वारा राज्य मंत्रिपरिषद के गठन में अपनाये गये अलग-अलग मापदण्डों का उल्लेख करते हुये, राज्य सरकारों की बर्खास्तगी में उसकी विवादास्पद भूमिका का वर्णन किया गया है। पंचम अध्याय में राज्यपाल की राष्ट्रपति शासन में भूमिका का वर्णन तथा छठे अध्याय में उसकी कतिपय अन्य विवादास्पद भूमिका वाली शक्तियों का वर्णन किया गया है। सातवें अध्याय में केन्द्र- राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने हेतु गठित सरकारिया आयोग की राज्यपाल की भूमिका सम्बन्धी सुझावों का वर्णन किया गया है एवं उसके परिप्रेक्ष्य में राज्यपालों की भूमिका की विवेचना की गयी है। अन्त में राज्यपालों की भूमिका से उत्पन्न पद की समाप्ति की माँग को अनुचित बताते हुए राज्यपाल पद की महत्ता व आवश्यकता बतायी गयी है तथा विवादित पहलुओं को दूर करने हेतु कुछ सुझाव दिये गये हैं।

इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध में एक विस्तृत एवं जटिल विषय का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है, जिसमें मानवीय स्वभाववश कमी होना स्वाभाविक है, अतः यदि कोई कमियाँ हो तो उसके लिए मैं क्षमा चाहती हूँ।

'राज्यों के शासन व उनकी राजनीति में राज्यपालों की भूमिका - (1967 के उपरान्त)' जैसे विस्तृत विषय का अध्ययन करने हेतु मेरे गुरू परम् आदरणीय प्रो० हर्षनाथ मिश्राजी राजनीति शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने अपना जो अमूल्य समय प्रदान किया और और कुशल पथ प्रदर्शक केरूप में शोध कार्य को पूर्ण करने में योगदान दिया है उसके प्रति आभार व्यक्त करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं और इसके लिए मैं आजीवन उनकी ऋणी रहूँगी। उन्होंने जिस प्रकार धैर्यपूर्वक

मेरे अस्पष्ट व अपरिपक्व विचारों को सुना और अपने असीमित ज्ञान व अनुभव से उन विचारों को सही दिशा प्रदान की, उस मार्गदर्शन के अभाव में मेरे लिये यह शोध कार्य पूर्ण करना सम्भव नहीं था।

मैं श्री हरिमोहन जैन, विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्याल की आभारी हूँ जिन्होंने शोध का विषय चयन करने में मेरी सहायता की और शोध कार्य करने का अवसर प्रदान किया।

मैं अपने महाविद्यालय, राजर्षि टण्डन महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद की कार्यवाहक प्राचार्या डा० (श्रीमती) प्रमिला टण्डन जी के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिन्होंने मुझे समय–समय पर शोध कार्य पूर्ण करने हेतु प्रेरित किया और इसके लिए मुझे आवश्यक अवसर प्रदान किए।

मैं अपने पिता आदरणीय श्री भानु प्रताप सिंह जी अवकाश प्राप्त उपनिदेशक केन्द्रीय आसूचना ब्यूरो, गृह मंत्रालय, की भी ऋणी हूँ जिन्होंने मेरे शोध प्रबन्ध को पूरा करने में मुझे प्रोत्साहन एवं पूर्ण सहयोग दिया। मैं अपनी माता श्रीमती रीता सिंह की भी आभारी हूँ, जिनके आशीर्वाद व सहयोग से मैं शोध कार्य पूर्ण करने में सफल हो सकी हूँ।

मैं इण्डियन काउन्सिल ऑफ सोशल साइन्स एण्ड रिसर्च (ICSSR) द्वारा स्थापित राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान प्रलेखन केन्द्र नई दिल्ली के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ, जिसने सर्वप्रथम मेरे शोध विषय से सम्बन्धित संक्षिप्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची डाक द्वारा मुझे प्रेषित की और तत्पश्चात् वहाँ से विषय सामग्री एकत्रित करने में सहयोग प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, इलाहाबाद, राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी, इलाहाबाद, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, इलाहाबाद, गोविन्द बल्लभपंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, पुस्तकालय, इलाहाबाद के समस्त पुस्ताकालयाध्यक्षों व कर्मचारियों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य को पूर्ण करने में अपना सहयोग प्रदान किया।

अंत में मैं उन समस्त विद्वानों के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहती हैँ जिनके ग्रन्थों से सन्दर्भ उद्धृत करके मैंने अपने शोध ग्रन्थ को समृद्ध बनाया है।

Singh

नीलिमा सिंह

दिनांक 20·12·2001

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद।

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि- पद का विकास

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि - पद का विकास

प्रस्तावना :

संविधान निर्माताओं ने भारत की विशालता, भाषा और संस्कृति की भिन्नता को ध्यान में रखते हुए संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की है। संघात्मक व्यवस्था में एक केन्द्रीय सरकार एवं अन्य इकाइयों की सरकारें होती हैं जो संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के अधीन स्वतंत्रता पूर्वक अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करती हैं।[1] भारत के संविधान निर्माताओं ने विश्व के कई संविधानों से प्रेरणा ली थी इसलिये संघात्मक व्यवस्था अपनाने से पूर्व उन्होंने विश्व के अन्य संघात्मक देशों की शासन प्रणालियों का भी अध्ययन किया था। संयुक्त राज्य अमरीका विश्व में प्रथम देश था जिसने संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया । वहां 1789 ई0 में संघ शासन की स्थापना हुई। कनाडा की संघीय व्यवस्था भी काफी पुरानी है। यह 1867 ई0 में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित नार्थ अमरीकन एक्ट द्वारा स्थापित हुयी। अमरीका ने प्रारम्भ में कमजोर केन्द्र की स्थापना की थी, जिसकी परिणिति 1861 के गृहयुद्व से हुयी। इसी से शिक्षा लेते हुए कनाडा ने अत्यधिक शाक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की है। इसके पश्चात आस्ट्रेलिया में जनवरी 1901 में संविधान द्वारा संघात्मक शासन की स्थापना की गयी। नाइजीरिया में संघात्मक शासन व्यवस्था 1 अक्टूबर 1979 को स्थापित की गयी है। भारत में, 1950 में लागू संविधान द्वारा केन्द्र -राज्यों के मुख्य कार्यपालक के रूप में क्रमशः राष्ट्रपति और राज्यपाल की व्यवस्था की है। चूंकि संविधान ने संसदात्मक शासन व्यवस्था को प्राथमिकता दी है, इसलिये संविधान निर्माताओं ने मुख्य कार्यपालक के प्रत्यक्ष निर्वाचन को आवश्यक न समझा। इसलिये उन्होंने राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की और राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा करने की व्यवस्था की। कनाडा में प्रान्तों के लिये लेफ्टिनेन्ट गर्वनर की व्यवस्था है, जिसकी नियुक्ति गर्वनर जनरल द्वारा पाँच

---

1. यू. एन. गुप्ता - इण्डियन फेडरलिज्म एण्ड यूनिटी ऑफ नेशन में डी.एस.एन. सोमया जुलू का लेख, पृष्ठ 135.

वर्ष के लिये होती है। कुछ अवसरों पर वे अपनी सरकार की सलाह का उल्लंघन भी करते हैं और स्वतंत्र कार्यवाही करते हैं। उन्होंने मंत्रिपरिषद को बर्खास्त किया है और सदन भंग की सलाह अस्वीकार की है।[1] अमरीका में प्रत्येक राज्य के लिये अलग-2 संविधान है। प्रान्तों का मुख्य कार्यपालक गवर्नर है जो प्रत्यक्षत: जनता द्वारा निर्वाचित होता है। उनका पुन: निर्वाचन हो सकता है।[2] कुछ राज्यों में कार्यावधि दो वर्ष और कुछ राज्यों में चार वर्ष की होती है। गवर्नरों पर महाभियोग लगाने की व्यवस्था है और वापस बुलाने की भी व्यवस्था है। अमरीकी राज्यों के गवर्नर को अत्यधिक शक्ति प्राप्त है और वह मात्र संवैधानिक प्रधान नहीं है। संघीय सरकार के राज्यों को समस्त आदेश गवर्नर द्वारा ही दिये जाते है।[3] आस्ट्रेलिया में, संघ शासन व्यवस्था में 6 इकाई राज्य हैं जिसके गवर्नर की नियुक्ति सीधे सम्राट द्वारा मंत्रिमण्डल के परामर्श से होती है।[4]

इस प्रकार अमरीका में ही केवल गवर्नर का निर्वाचन होता है तथा अन्य संघीय व्यवस्थाओं में गवर्नर के मनोनयन की व्यवस्था है। भारत ने, अमरीका के विपरीत राज्यपाल के मनोनयन का प्रावधान किया है, परिणाम स्वरूप भारतीय राज्यपाल अमरीकी गवर्नर की तुलना में अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली एवं प्रभावशाली है, परन्तु निर्विवाद रूप से वह भारत की संघ सरकार व इकाईयों की सरकार के मध्य महत्वपूर्ण सम्पर्क-सूत्र है।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में प्रान्तीय शासकों की स्थिति :-

भारत की वर्तमान शासन व्यवस्था अतीतकालीन व्यवस्थाओं एवं प्रगैतिहासिक शासनों का विकसित प्रतिरूप है। इसका प्राचीनतम रूप हमें सिन्धु-घाटी सभ्यता काल में देखने को मिलता है, जहां से उसने निरन्तर प्रगति करते हुए युगों के अनेक उतार-चढ़ावों के थपेड़ों को सहन करते हुए आधुनिकता के परिवेश को प्राप्त किया है। अपने वर्तमान रूप में यह पूर्णरूपेण ब्रिटिश शासन के विकास

---

1. विद्याधर महाजन सलेक्ट मार्डन गवर्नमेन्टस- पृष्ठ- 390
2. जे0 एस0 डाइट हैन्डबुक ऑफ वर्ल्ड कान्सटीट्यूशनस- पृष्ठ 84
3. विद्याधर महाजन - पूर्वोधृत - पृष्ठ - 274-275
4. विद्याधर महाजन - पूर्वोधृत - पृष्ठ- 558

से प्रभावित है, परन्तु इसके साथ ही भारत का प्राचीन हिन्दु-युग राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से उन्नत माना जाता था। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के अवशेषों से आभास मिलता है कि उस युग में विभिन्न समुदायों की अपेक्षा एक एकीकृत साम्राज्य था। आर्यो ने अपनी शासन प्रणाली एवं राजनीतिक संगठन वर्णों के अनुसार बनायी जो राजतंत्र में परिणित हुयी। भारतीय शासन के विकास की लम्बी यात्रा में जहां अनेक साम्राज्य बने और बिगड़े वहां इसकी दो विशेषताएं निरन्तर कायम रहीं। ये विशेषताएं हैं, प्रथम, प्रशासनिक संगठन की संरचना में प्रारम्भिक इकाई के रूप में ग्राम का महत्व और द्वितीय, प्रशासनिक संगठन में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों का सामंजस्य।[1] आज भी, उक्त दोनों विशेषताएं भारतीय प्रशासन में विद्यमान है।

आधुनिक भारतीय प्रशासन में राज्यपाल का पद संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता एवं सुचारू शासन व्यवस्था हेतु सृजित किया गया है। यदि भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करें तो प्रत्येक शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण साम्राज्य कई इकाईयों में विभक्त था, जिनके पृथक प्रशासकीय अधिकारी थे और अलग-अलग शासनकाल में इन्हें अलग-अलग नामों से पुकारा गया परन्तु उद्देश्य सभी का एक ही था साम्राज्य की एकता, शान्ति व सुरक्षा के साथ ही साथ शासन को सुदृढता प्रदान करना।

पूर्ववैदिक काल में शासन तंत्र अधिक विकसित नहीं हुआ था, परन्तु राजकीय शक्ति बढ़ने के साथ ही उत्तर वैदिक काल में शासन तंत्र का विकास हुआ। प्रान्तीय शासन की नियमित व्यवस्था का जन्म 'स्थपति' और 'शतपति' के दो पदों की स्थापना से होता है। शतपति का काम बाहरी क्षेत्रों का प्रबन्ध करना था, जिनमें बहुधा केवल आदिवासी बसते थे, जबकि शतपति सम्भवत: सौ गांवों के एक समूह की देखभाल करता था।[2]

श्री पी0वी0 काणे का मत है कि वैदिक व पुराणिक काल तथा श्रुति व स्मृतिकारों के समय में छोटे-2 राज्य थे, जिनकी संख्या के विषय में भिन्न:2 मत प्राप्त होते हैं इन उप विभाजनों की प्रकृति व

---

1. बी0 एल0 फाडिया, भारत में लोक प्रशासन - पृष्ठ-1
2. राय, चौधरी, मजूमदार, भारत का वृहत इतिहास- पृष्ठ- 37

संख्या के विषय में मतभेद हैं, परन्तु इनके अस्तित्व के विषय में कोई मतभेद नहीं हैं।[1] प्रशासन की सुविधा के लिये सम्पूर्ण साम्राज्य को विभिन्न इकाईयों में विभाजित किया गया था। सबसे छोटी इकाई ग्राम थी, जिसके ऊपर दशग्राम, विशति ग्राम, शतग्राम, सहस्त्रग्राम तथा राज्य थे। इन इकाईयों के अधिकारियों को क्रमश: ग्रामिक, विशतिय, शतग्रामी, अधिपति व राजा कहते थे, जिनका कर्तव्य लगान वसूल करना, अपराधियों को दण्डित करना व अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना था।[2] बौद्वकालीन राज्य में सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी, और राज्य सामन्तों में बंटा हुआ था। राजपूत कालीन प्रशासन में राज्य प्रान्तों में विभक्त होता था। प्राय: युवराज या राजघराने के व्यक्तियों को ही प्रान्त में शासक बनाया जाता था। प्रान्त विभागों में विभक्त होता था, और प्रत्येक विभाग का एक अधिकारी होता था।[3]

मौर्ययुग के प्रारम्भ के साथ ही भारत वर्ष में शासन प्रबन्ध का एक नया युग प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम एक विशाल साम्राज्य का निर्माण हुआ। मौर्य शासन व्यवस्था राजतंत्रीय थी, परन्तु केन्द्रीय व्यवस्था को सबल एवं सुदृढ बनाने के लिये चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभाजित किया। इस प्रकार से चन्द्रगुप्त की शासन प्रणाली में संघीय शासन व्यवस्था के गुण भी विद्यमान थे। इन प्रान्तों को चक्र कहा जाता था ।[4] इन प्रान्तों की संख्या छ: थी तथा प्रत्येक की अपनी-अपनी राजधानी थी। इन प्रान्तों का शासन सीधे सम्राट द्वारा नियंत्रित न होकर उसके प्रतिनिधि द्वारा संचालित होता था। ये प्रतिनिधि 'कुमार' (प्रान्तीय शासनाध्यक्ष) कहलाते थे। इस पद का भार अति विश्वसनीय तथा राजघराने से सम्बन्धित व्यक्ति को ही सौपा जाता था।[5]

गुप्तकाल में भी सीमाओं के विस्तार को देखते हुए साम्राज्य का विभाजन अनेक प्रान्तों में किया

---

1. राजीव धवन - प्रेसीडेन्टस रूल इन इण्डिया - पृष्ठ - 3
2. बी0 एल0 फाडिया- भारत में लोक प्रशासन, पृष्ठ - 3
3. बी0 एल0 फाडिया पूर्वोधृत - पृष्ठ-8
4. डा0 ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा, -प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म दर्शन - पृष्ठ-112
5. डा० ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा - पूर्वोधृत - पृष्ठ 115

गया, जिन्हें 'भुक्ति' कहा जाता था। प्रान्तों को 'प्रदेश' तथा 'भोग' भी कहा जाता था। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति, सम्राट द्वारा की जाती थी, तथा उन्हें 'उपरिक महाराज' 'गोप्त', 'भोगिक', 'भोगपति' तथा राजस्थानीय कहा जाता था।[1] कुछ प्रान्तपतियों को अपने अधीनस्थ, अधिकारियों की नियुक्ति का भी अधिकार था।

सन् 750 से 1200 का काल उत्तर भारत में मुख्य रूप से राजपूत काल माना जाता है। इस समय भी केन्द्रीय शासक राजा होता था तथा अन्य अनेक छोटे-2 राज्य होते थे। विजेता पराजित वंश के ही किसी व्यक्ति को राज्य सौंप देता था, जिससे सांमती परम्परा का प्रतिफलन हुआ। गृहराज्य पर सम्राट का सीधा नियंत्रण होता था। शेष साम्राज्य भुक्तियों (प्रान्तो) में[2] तथा अन्य स्थानीय इकाईयों में विभक्त था। भुक्तियों के प्रशासन हेतु सम्राट ही अधिकारियों की नियुक्ति करता था।

दक्षिण भारत में राष्ट्रकुट शासन प्रबन्ध भी सामन्ती था। दक्षिण भारत में प्रान्तों को विषय भी कहते थे जिनके अधिकारी को अलग-2 शासन व्यवस्था में सामंत, राष्ट्रकूट युवराज आदि नामों से सम्बोधित किया गया था। दक्षिण में ही प्रसिद्व विजय नगर साम्राज्य (13वीं से 16 वीं सदी) था जिसे प्रशासन की सुविधा हेतु अनेंक प्रान्तों में विभक्त किया गया था जो राज्य या मंडल कहलाते थे। सामान्यत: प्रान्तों पर राजपरिवार के व्यक्तियों को ही गवर्नर के रूप में नियुक्त किया जाता था। इन गवर्नरों को प्रान्तों में काफी स्वायत्ता प्राप्त थी। इनका कार्यकाल निर्धारित होता था और यदि वे कुशल व योग्य होते थे, तो काफी लम्बे समय तक शासन कर सकते थे। केन्द्रीय सरकार प्रान्त के प्रशासनिक मामले में सामान्यत: हस्तक्षेप नही करती थी पर यदि प्रान्तीय गवर्नर एवं उसके अधिकारी जनता का शोषण और दमन करते थे तो केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय मामलों में हस्तक्षेप करने से विमुख नहीं रहती थी। प्रान्त में कानून व व्यवस्था बनाये रखना उनका प्रमुख उत्तरदायित्व था।[3]

सल्तनतकाल में प्रान्तीय शासन केन्द्रीय शासन का प्रतिरूप था। प्रान्तपति सुल्तान की तरह

---

1. डा० ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा - पूर्वोधृत - पृष्ठ 149
2. हरिश्चन्द्र वर्मा - मध्यकालीन भारत भाग-1 - पृष्ठ - 63
3. हरिश्चन्द्र वर्मा मध्यकालीन भारत- भाग-1 पृष्ठ- 342

प्रान्तीय क्षेत्र में शासन की सभी शक्तियों का केन्द्र होता था। कानून एवं व्यवस्था, सेना का प्रबन्ध, करों की वसूली एवं न्याय व्यवस्था उसके अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आते थे। वे अपने कार्यो के लिये सुल्तान के प्रति उत्तरदायी होते थे और उनकी नियुक्ति भी सुल्तान द्वारा ही होती थी। दूर के प्रान्तपति स्वतंत्र राजाओं के समान ही व्यवहार करते थे। प्रान्तपति अपनी सेना के सेनापति होते थे किन्तु आवश्यकतानुसार केन्द्र में सेना भेजना उनका एक महत्वपूर्ण काम होता था।[1]

न्यायविदों ने प्रान्तीय शासकों के दो वर्ग बताये, एक सीमित शक्तियों वाले तथा दूसरे असीमित शक्तियों वाले। भौगोलिक कारणों से सुल्तानों ने बंगाल के प्रान्तपति को असीमित अधिकार दिये और उसके साथ अर्द्ध स्वतंत्र शासक की तरह व्यवहार किया जाता था। उन्हें दिल्ली के सुल्तान के प्रति राजभक्ति प्रकट करनी थी और उन्हें हाथियों के रूप में भेंट देनी पड़ती थी। उन्हें प्रशासन का उच्चस्तर बनाये रखना पड़ता था परन्तु व्यवहार में वे अपने मामले स्वतंत्रता पूर्वक निपटाते थे। जब सुल्तान दुर्बल हो जाता था तो कभी-2 औपचारिक राजभक्ति भी रोक दी जाती थी। दूसरे प्रान्तपति पूर्णतया अधीन थे और उनकी शक्तियां अच्छी तरह परिभाषित थीं।[2] केन्द्र के सभी विभागों का प्रान्त के सम्बद्ध विभागों पर नियन्त्रण होता था।

मुगल काल में साम्राज्य की विशालता के साथ-साथ प्रान्तों की संख्या भी बढ़ती गयी। 1579 ई० -1580 ई० में अकबर ने अपने साम्राज्य को बारह प्रान्तों में बांटा था परन्तु उसके राज्य काल के अन्त में इनकी संख्या बढ़कर पन्द्रह हो गयी। यह संख्या जहांगीर के राज्यकाल में सत्रह और औरंगजेब के समय में इक्कीस हो गयी। गवर्नर (प्रान्तीय शासक) को सिपहसालार (प्रधान सेनापति) अथवा साहिब सूबा (प्रान्तपति) अथवा सिर्फ सूबादार कहा जाता था। नाजिम उसकी सरकारी उपाधि थी।[3] वह प्रत्येक सूबे के सैनिक तथा असैनिक शासन का प्रधान था। उसके अधीन निम्नलिखित अफसर थे- दीवान, बख्शी, फौजदार, कोतवाल, काजी, सदर, आमिल, बितिकची, पोतदार तथा वाक ए नवीस

---

1. हरिश्चन्द्र वर्मा -पूर्वोधृत - पृष्ठ 382

2. राजीव धवन प्रेसीडेन्ट्स रूल इन दि स्टेट्स- के पृष्ठ- 6 पर उद्धृत आई.एस. कुरैशी का कथन

3. हरिशचन्द्र वर्मा - मध्कालीन भारत- भारत का वृहत इतिहास: द्वितीय भाग, पृष्ठ 275

दीवान (प्रान्त के राजस्व का प्रधान अधिकारी) प्रायः सूबेदार का प्रतिद्वन्दी होता था। प्रत्येक को यह आज्ञा थी कि वह "दूसरे के ऊपर कड़ी नजर रखे" ताकि दोनों में कोई अत्यधिक शक्तिशाली न बन सके।[1] पेशवाओं के अधीन तरफ परगना, सरकार तथा सूबा आदि शब्द अविवेक रूप से प्रयोग किया जाता था। प्रायः सूबे को प्रान्त कहते थे, तथा तरफ अथवा परगने को महल भी कहते थे। खानदेश, गुजरात, तथा कर्नाटक जैसे बडे-2 प्रान्त सर सूबेदार के अधीन होते थे।[2] शिवाजी का राज्य चार प्रान्तों में बंटा हुआ था। प्रत्येक प्रान्त एक वाइसराय के अधिकार में था।[3]

मुगलकाल में सामन्तवादी व्यवस्था अपने चरमोत्कर्ष पर थी और अंग्रेजों के आगमन के समय भारत में सामन्तवादी व्यवस्था ही फल फूल रही थी। अंग्रेजों ने स्वंय भी बंगाल को दीवानी प्रदान की थी। अंग्रेजी शासन ने पड़ोसी राज्यों से राजनीतिक सौदेबाजी जारी रखी। इस शासन ने शक्तिशाली प्रशासन की पुर्नस्थापना की जो सम्पूर्ण भारत को एक ही न्याय व्यवस्था के अधीन कर सके। 19 वीं शताब्दी के अन्त में कई विधिपत्र व्यावसायिक फौजदारी तथा प्रक्रियात्मक कानूनों के एकीकरण हेतु जारी किये गये। ब्रिटिश शासन व्यवस्था यद्यपि ब्रिटिश भारत को एक रखने में रूचि रखती थी परन्तु वास्तव में उसकी रूचि राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने की न थी जो थोडी बहुत राष्ट्रीय आन्दोलन के समय प्रारम्भ हुयी। अंग्रेजो ने राजनीतिक रूप से निर्वाचित प्रान्तीय सरकार की विनती तो स्वीकार कर ली परन्तु केन्द्र के प्रान्तीय सरकार के मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार बना रहा।[4]

प्रान्तों में गवर्नर का विस्तृत रूप से कार्यक्षेत्र अंग्रेजो के शासन से प्रारम्भ हुआ जो भारतीय स्वतंत्रता तक व्यापक स्तर प्राप्त कर कुछ सीमा तक आधुनिक राज्यपाल की स्थिति का आर्दश बना।

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत राज्यपालों की स्थिति :-

राज्यपाल का वर्तमान पद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिये कोई नई वस्तु नहीं है। इसकी

---

1. हरिशचन्द्र वर्मा - पूर्वोधृत - पृष्ठ 275
2. बी. एल. ग्रोवर- आधुनिक भारत का इतिहास (1707 से वर्तमान समय तक)- पृष्ठ- 54
3. डा0 आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव- भारत का इतिहास (1000 से 1707 ई0 तक) पृष्ठ- 702
4. राजीव धवन पूर्वोधृत - पृष्ठ- 7

उत्पत्ति की जड़ें ब्रिटिश शासन के अधीन भारत के इतिहास में खोजी जा सकती है। यह इतिहास 1600 ई0 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से प्रारम्भ होता है।[1] अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हितों की रक्षा हेतु गवर्नर पद का विकास हुआ । गवर्नर पद की उत्पत्ति महारानी एलिजाबेथ (1558-1603 ई0) के 31 दिसम्बर 1600 ई0 के प्रसिद्ध चार्टर द्वारा हुयी जिसके द्वारा उन्होंने लन्दन के व्यापारियों की कम्पनी को भारत में व्यापार करने की शक्ति प्रदान की।[2] इस चार्टर द्वारा कम्पनी को एक सरल संविधान प्रदान किया गया, जिसके अनुसार कम्पनी का उच्च प्रबन्ध गवर्नर और चौबीस सदस्यों की समिति में निहित था।[3] लन्दन के थामस स्मिथ एल्डरमैन प्रथम गवर्नर नियुक्त हुए।[4] 1750 ई0 में प्लासी के युद्ध के पश्चात कम्पनी व्यापारिक शक्ति के साथ साथ एक प्रमुख प्रशासनिक शक्ति भी बन गई । इसने धीरे धीरे सैनिक विजयों द्वारा एक विस्तृत भूक्षेत्र पर प्रभुसत्ता स्थापित की । यह प्रशासित क्षेत्र तीन प्रेसीडेन्सीयों - बंगाल, बिहार, उड़ीसा, प्रसीडेन्सी, बम्बई प्रेसीडेन्सी एवं मद्रास प्रेसीडेन्सी तथा अन्य इकाइयों जिन्हें प्रान्त कहा गया, में विभाजित किया गया । प्रत्येक प्रान्त व प्रत्येक प्रेसीडेन्सी एक मुख्य कार्यपालक द्वारा प्रशासित थी जिसे या तो गवर्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर कहा गया ।[5]

सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् गवर्नर का पद और अधिक महत्वपूर्ण हो गया और भारत में ब्रिटिश शासन व हित के संरक्षण हेतु गवर्नर को और अधिक शक्ति प्रदान की गई। 1773 ई0 के रेग्युलेटिंग एक्ट से लेकर 1935 ई0 के भारत सरकार अधिनियम तक गवर्नर का पद शासन के संसदीय स्वरूप, जिसका प्रारम्भ 1861 ई0 के चार्टर एक्ट द्वारा किया गया था, की अपेक्षा केन्द्रीकृत प्रवृत्ति की तरफ अधिक झुका था। 1861 ई0 के पश्चात स्वशासित संस्थाओं की स्थापना का प्रयत्न किया गया,

---

1. एम.वी. पायली- कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (1600-1950) - पृष्ठ - 1
2. पंचानन्द दास मुखर्जी - इण्डियन कान्सटीट्यूशनल डाक्यूमेन्टस - द्वितीय भाग, पृष्ठ 13-14
3. एम.वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 1
4. एच. ए. गनी - गवर्नर इन दि इण्डियन कान्सटीटयूशन -पृष्ठ 1
5. अशोक कु0 सेन - रोल आफ गवर्नर इन दि इमरजिंग पैटर्न ऑफ सेन्टर स्टेट रिलेसन्स - प्रकाशित जरनल आफ कास्न्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज वाल्यूम -V, न. 3 1969, पृष्ठ 254

विशेष रूप से भारत सरकार अधिनियम 1919 द्वारा[1] परन्तु गवर्नरों द्वारा इन संस्थाओं पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये, जिसने भारत में स्वतंत्रतापूर्वक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था स्थापित नहीं होने दिया। यद्यपि धीरे धीरे गवर्नर के पद में परिवर्तन किया गया, परन्तु इस पद की केन्द्राभिमुख स्वरूप को प्रभावित व परिवर्तित नहीं किया गया। दूसरे शब्दों में गर्वनर ब्रिटिश साम्राज्य का प्रमुख अभिकर्ता (एजेन्ट) था जिसने सफलता पूर्वक भारत में ब्रिटिश हितों की रक्षा की।[2]

1600 ई0 के चार्टर के अनुसार कम्पनी की कार्यपालक शक्तियां गवर्नर में निहित थीं। चार्टर द्वारा गवर्नर को कम्पनी से सम्बन्धित मामलों के उचित प्रबन्धन व नियन्त्रण का कार्य सौंपा गया। उसे कम्पनी के व्यापारिक हितों के रक्षार्थ कुछ निश्चित विधायी, कार्यपालिकीय एवं न्यायिक शक्तियां प्रदान की गयी थीं । ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार के उचित संचालन हेतु यदि आवश्यक प्रतीत हो, तो गवर्नर को विधि निर्माण, संविधान निर्माण, आदेश, अध्यादेश एवं राजाज्ञा जारी करने की शक्ति प्राप्त थी, परन्तु इस शर्त के साथ कि ये ब्रिटिश राज्य की विधि व परम्परा के विरूद्ध नहीं होनी चाहिए। गवर्नर को विधि का उल्लंघन करने वालों के विरूद्ध आवश्यकतानुसार जुर्माना लगाने का अधिकार था।[3]

1661 ई0 के चार्टर एक्ट के द्वारा गवर्नरों को कम्पनी के हित रक्षार्थ और अधिक असैनिक व अपराधिक शक्तियां प्रदान की गई।[4] अभी तक कम्पनी को प्रदान समस्त शक्तियों व सुविधाओं का व्यवहार में प्रयोग अकेले गवर्नर ही करता था । यद्यपि उसे लन्दन की सामान्य अदालत के निरीक्षण व निर्देशन में कार्य करना था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात क्रमिक रूप से विखण्डित होते मुगल साम्राज्य तथा भारत में फ्रान्सीसी व पुर्तगाली व्यापारिक कम्पनियों की प्रतिद्वन्दिता व लड़ाई के कारण

---

1. एन. एस. गहलौत - स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया : ट्रेन्डस एण्ड इश्यूज - पृष्ठ 1
2. एन. एस. गहलौत - पूर्वोधृत- पृष्ठ - 2
3. पंचानन्द दास मुखर्जी - इण्डियन कान्सटीट्यूशनल डाक्युमेन्टस (कलकत्ता 1918) - पृष्ठ XIII
4. इण्डियन कान्सटीट्यूशनल डाक्यूमेन्टस, वाल्यूम 1 (कलकत्ता, ए. मुखर्जी एण्ड प्राम्पेट कम्पनी लि0 1948) पृष्ठ-XIV.

उत्पन्न स्थिति में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यावसायिक व व्यापारिक हितों के रक्षार्थ गवर्नर को प्रदान शक्तियाँ अपर्याप्त थीं । अत: भारत में अखिल भारतीय नेतृत्व के अभाव के कारण एक विशेष स्थिति उत्पन्न हो गई । ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस विषम स्थिति में धीरे धीरे स्वयं को भारतीय उपमहाद्वीप के प्रतिद्वन्दीहीन स्वामी के रूप में स्थापित किया।[1] अब कम्पनी का ध्यान व्यावसायिक हितों के स्थान पर भूक्षेत्रों पर अधिकार कर कम्पनी की स्थिति सुदृढ़ करने की तरफ गया। फलस्वरूप गवर्नरों को सैनिक व नागरिक शासन की और अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी।[2]

1669 ई0 के चार्टर ने गवर्नर को इस बात के लिए अधिकृत किया कि वह प्रशासनिक के साथ ही साथ सैनिक अधिकारों का भी कप्तान या जनरल की भाँति प्रयोग करे ।

1677 ई0 और 1683 ई0 के चार्टरों द्वारा गवर्नर को और अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी, विशेषतया एशिया के किसी भी असभ्य राष्ट्र के विरूद्ध शान्ति करने व युद्ध की घोषणा करने की शक्ति।[3]

1698 ई0 के चार्टर द्वारा विशेष रूप से गवर्नर की शक्तियों को परिभाषित किया गया । इस चार्टर द्वारा गवर्नर और परिषद को दीवानी और फौजदारी मामलों में न्यायिक अधिकार दिये गये।[4]

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट :-

1758 के प्लासी के युद्ध के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि कम्पनी की हित रक्षा हेतु गवर्रनरों को दी गयी शक्तियाँ पर्याप्त नहीं थीं क्योंकि कम्पनी द्वारा समूह शासन को प्रोत्साहित किया गया था और अध्यक्ष साधारणतया अपने सहयोगियों के निर्णय को अस्वीकृत नहीं कर पांता था।[5] इसके

---

1. एम. वी. पायली- पूर्वोधृत - पृष्ठ - 3
2. पंचानन्द दास मुखर्जी - पूर्वोधृत- पृष्ठ 18
3. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ 14
4. पी.एल.माथुर - रोल आफ गवर्नरस इन नान कांग्रेस स्टेटस - पृ0 3
5. ए.बी. कीथ - ए कान्सटीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया - पृष्ठ 29

अतिरिक्त क्लाइव की फरवरी 1765 में प्रस्तावित दोहरी शासन व्यवस्था भी दयनीय रूप से असफल हो गयी थी। इन सब तथ्यों से प्रभावित होकर ब्रिटिश संसद ने भारत में कम्पनी की सत्ता को सुदृढ़ता प्रदान करने का निश्चय किया। इसके लिये ब्रिटिश संसद ने एक कानून बनाया, ''ईस्ट इण्डिया कम्पनी अधिनियम 1773'' जो साधारणतया रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के नाम से जाना गया । इस एक्ट द्वारा कम्पनी के संविधान में छिपी बुराइयों को दूर करने के लिए और संसदीय नियंत्रण द्वारा भारत में इसके और उच्च स्तरीय बनाने का प्रथम प्रयास किया गया।[1] यह अधिनियम जो शासन के एकात्मक स्वरूप का प्रथम प्रयास था। इसके द्वारा अंग्रेजों के अधीन भारत में केन्द्रीयकरण की नीति प्रस्तुत की गयी और कम्पनी को अंग्रेजी मंत्रिपरिषद के नियंत्रण के अधीन लाया गया । इस अधिनियम की निम्नलिखित विशेषताएं थीं :-

1. 1773 से पूर्व बंगाल, मद्रास व बाम्बे की प्रेसीडेन्सीयॉं एक दूसरे से स्वतंत्र थीं। प्रत्येक केवल लन्दन में स्थित कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के प्रति उत्तरदायी थी। तीनो प्रसीडेन्सियों के परस्पर कार्य निष्पादन में सामंजस्य न था। यहॉं तक कि उनकी नीतियॉं कभी-कभी एक दूसरे के प्रतिकूल हो जाती थी।[2] इस कमी को दूर करने हेतु रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 की धारा ९ के अनुसार, बम्बई व मद्रास की प्रेसीडेन्सीयॉं फोर्ट विलियम बंगाल के गवर्नर जनरल के नियंत्रण व निरीक्षण के अधीन की गयीं। बम्बई व मद्रास के गवर्नरों की स्वतंत्र भूमिका अधिनियम द्वारा सीमित कर दी गयी।[3]

2. गवर्नर की भारतीय शासकों के साथ युद्ध, शान्ति व समझौता करने की शक्ति भी सीमित कर दी गयी। अब यह शक्ति गवर्नर जनरल व परिषद की सहमति व स्वीकृति से प्रयुक्त की जाती थी। इस अधिनियम द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि उन अवस्थाओं को छोड़कर जहॉं अत्यधिक आवश्यकता है और गवर्नर जनरल एवं परिषद के आदेश के आगमन से हो रहा

---

1. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ सं 7
2. एम.वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 9
3. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ 21

विलम्ब संधि व सुविधाओं के लिये हानिपरक हो तथा ऐसी अवस्था में गवर्नर व परिषदें कम्पनी से विशेष आदेश ले सकती थीं।[1]

3. रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 के नियमों का उल्लंघन करने के दोषी पाये गये गवर्नर व उसकी परिषद के सदस्यों को सपरिषद गवर्नर जनरल द्वारा पदों से निलम्बित किया जा सकता था।

4. गवर्नरों तथा परिषद के सदस्यों के विरूद्ध लन्दन में सम्राट की अदालत की डिवीजनल बेन्च द्वारा मुकदमा चलाया एवं दण्डित किया जा सकता था , यदि वे कम्पनी के कानून के विरूद्ध किसी भी अपराध, उल्लंघन एवं दुर्व्यवहार के दोषी पाये गये।

5. बम्बई व मद्रास के गवर्नरों को सरकार, राजस्व और कम्पनी के हितों से सम्बन्धित समस्त कार्य निष्पादन को नियमित रूप से गवर्नर जनरल और परिषद को प्रेषित करना होता था। परिणामस्वरूप ये दोनों प्रेसीडेन्सियाँ कुछ सीमा तक भारत के सपरिषद गवर्नर जनरल की एजेन्सीयाँ बन गयी क्योंकि चार सदस्यीय परिषद को समस्त निर्णय बहुमत से लेने थे। मतों की समानता की स्थिति में गवर्नर जनरल को निर्णायक मत देने का अधिकार था। परिषद का निर्णय गवर्नरों के लिए बाध्यकारी था।[2]

व्यावहारिक रूप में इस अधिनियम की निम्न तीन कमियाँ थीं–[3]

1. सपरिषद गवर्नर जनरल की कार्यप्रणाली असन्तोष जनक थी। सामान्यत: चार सदस्यों में से तीन गर्वनर जनरल के विरूद्ध बहुमत के आधार पर निर्णय कर लेते थे। परिणामस्वरूप गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल के प्रथम दो वर्षों में वह पूर्णतया शक्तिहीन था।

2. गवर्नर जनरल द्वारा अधीनस्थ प्रेसीडेन्सियों पर नियंत्रण की सीमा के विषय में भी अधिनियम अस्पष्ट था और किसी भी दृष्टि से यह नियंत्रण अधिक न था। प्रमाण के रूप में मैसूर व मराठा

---

1. पूर्वोधृत पृष्ठ 71-72
2. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत - पृष्ठ 9
3. एम.वी. पायली - पूर्वोधृत - पृष्ठ - 11

युद्ध थे, जो बम्बई व मद्रास की सत्ता द्वारा प्रारम्भ किये गये थे जिनका हेस्टिंग्स ने विरोध किया था।

3. अधिनियम द्वारा सर्वोच्च न्यायालय तथा कम्पनी के न्यायालय, जिलों में स्थित दीवानी व फौजदारी न्यायालयों के मध्य सम्बन्धों जिनके ऊपर सपरिषद गवर्नर जनरल को अपील सम्बन्धी शक्तियाँ प्राप्त थीं, को परिभाषित नहीं किया गया था।

इस प्रकार बंगाल के गवर्नर जनरल के नियंत्रणों के बावजूद भी गवर्नर अपनी-अपनी प्रेसीडेन्सियों के स्वामी थे और बहुत से अधिकारों का उपभोग करते थे। उन्हें अभी भी युद्ध व शान्ति से सम्बन्धित विषयों का बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स से पत्राचार करने का अधिकार था जिसने गवर्नर जनरल की स्थिति अप्रभावी कर दी थी। यहां तक कि गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने स्वयं स्वीकारा कि, ''वह किसी भी अर्थ में बम्बई व मद्रास से सर्वोच्च न था।''[1]

पिट्स इण्डिया एक्ट 1784 -

रेग्युलेटिंग एक्ट स्थापित उद्देश्यों को प्राप्त करने में अपर्याप्त सिद्ध हुआ। कम्पनी की भारत में स्थित सरकार के गलत कार्यों की सूचना इंग्लैण्ड में पहुंची और मामले को संसद में उठाया गया। 1784 ई. में शाही अनुमति के पश्चात एक विधेयक पारित हुआ जो पिट्स इण्डिया एक्ट कहलाया। इस अधिनियम द्वारा कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स को उनकी इच्छा के अनुरूप कम्पनी के व्यावसायिक हितों के प्रबन्धन की अनुमति प्रदान की गयी परन्तु कम्पनी के राजनीतिक मामलों के नियंत्रण हेतु छः कमिश्नरों का बोर्ड जो, ''बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल'' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, की नियुक्ति की गयी। बोर्ड में एक चान्सलर आफ एक्सचेकर, एक भारत सचिव और चार प्रीवी पार्षद थे।[2] इन सबकी नियुक्ति सम्राट द्वारा होनी थी और ये सम्राट के प्रसाद पर्यन्त ही पद ग्रहण करते थे। गवर्नर जनरल व गवर्नरों के परिषदों की सदस्य संख्या घटाकर तीन कर दी गयी और चीफ कमाण्डर को एक सदस्य बनाया गया।[3]

---

1. श्रीराम शर्मा - कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया - पृष्ठ 24-29
2. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत - पृष्ठ 13
3. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत , पृष्ठ 14

1784 के इस अधिनियम द्वारा गवर्नरों की स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ। प्रत्येक प्रेसीडेन्सी के गवर्नरों की नियुक्ति कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स द्वारा होनी थी परन्तु वे सम्राट द्वारा भी पद से हटाये जा सकते थे।[1] गवर्नरों को अधिनियम की धारा 21 द्वारा मत देने का अधिकार दिया गया । गवर्नरों को फोर्ट विलियम (बंगाल प्रेसीडेन्सी) की सरकार के आदेशों व निर्देशों का न केवल युद्ध व शान्ति के मामलों में वरन् प्रेसीडेन्सीयों के प्रशासनिक मामलों में भी पालन करना होता था।[2] गवर्नरो को स्वयं द्वारा निर्मित कानूनों एवं नियमों की प्रतियाँ गवर्नर जनरल व परिषद को भेजनी होती थी। इस प्रकार बंगाल की सर्वोच्चता बम्बई व मद्रास की प्रेसीडेन्सीयों पर स्थापित हो गयी और गवर्नरों की सैनिक मामलों से सम्बन्धित शक्तियां गवर्नर जनरल के हाथों में केन्द्रित हो गयी। अवज्ञा की स्थिति में गवर्नरों को फोर्ट विलियम के सपरिषद गवर्नर जनरल की आज्ञा से पद से हटाया जा सकता था।[3] इस प्रकार से ये प्रेसीडेन्सीयां पूर्णरूप से गवर्नर जनरल के नियंत्रण व निर्देशन के अधीन आ गयी।

ब्रिटिश भारत के पुर्नएकीकरण और फोर्ट विलियम का अन्य प्रेसीडेन्सियों पर केन्द्रीय नियन्त्रण दो कारणों से सीमित था, प्रथमतः केन्द्रीय सरकार व प्रेसीडेन्सीयों के बीच दूरी अधिक थी और संचार के साधनों का इतना अधिक विकास नहीं हो पाया था कि इस दूरी को कम कर प्रत्येक प्रेसीडन्सी पर नियंत्रण किया जा सके, इसलिये प्रान्तीय गवर्नर केन्द्र के निर्देशों की प्रतीक्षा किये बिना स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकते थे । द्वितीयतः प्रत्येक प्रान्तीय सरकार का प्रशासन इतना बड़ा था कि गवर्नरों के लिये केन्द्रीय सत्ता से परामर्श लेना असम्भव था, इस प्रकार निरीक्षण, निर्देशन व नियंत्रण की शक्तियां तत्कालिक प्रशासन की अपेक्षा नीति रूप में प्रयुक्त की जाती थीं।

6 नवम्बर 1790 को लार्ड कार्नवालिस ने गवर्नरों को अपनी परिषद की सहमति के बिना विवेकाधीन कार्य करने की शक्तियां प्रदान कर गवर्नरों की शक्तियां थोड़ी और विस्तृत कर दी जिसके परिणाम स्वरूप चार्टर एक्ट 1793 बना जिसके अनुसार गवर्नरों को भारत में प्राप्त क्षेत्र की शान्ति व

---

1. पी. मुखर्जी - इण्डियन कान्सटीट्यूशनल डाक्यूमेन्टस - पृष्ठ 36
2. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ 77
3. अनिल चन्द्र बजर्नी - वही पृष्ठ 78-81 में उल्लिखित अधिनियम की धारा 34,35

सुरक्षा से सम्बन्धित सभी मामलों में अपनी अपनी परिषदों के मतों को रद्द करने की अनुमति प्रदान की गयी।[1]अधिनियम ने गवर्नरों को पड़ोसी राज्य के शासकों से शान्ति वार्ता व सन्धि से सम्बन्धित सभी मामलों को शीघ्रता से सीधे ही कम्पनी के निदेशकों की गुप्त समिति को भेजने के अधिकार से सुशोभित किया।[2] यही नहीं अधिनियम के खण्ड 24 के अनुसार प्रत्येक प्रेसीडेन्सी की सरकार गवर्नर और परिषद में निहित थी। गवर्नरों को दुर्बलता या अयोग्यता के आधार पर हुए किसी भी रिक्त पद पर काम चलाऊ (अस्थायी) उत्तराधिकारी नियुक्त करने का भी अधिकार था।[3]

इसी समय बंगाल के सपरिषद गवर्नर जनरल का बम्बई व मद्रास की प्रेसीडेन्सीयों पर नियंत्रण व निरीक्षण की सीमा और बढ़ा दी गयी । अधिनियम की धारा 41 के अनुसार गवर्नर व उनकी परिषदों को बंगाल के सपरिषद गवर्नर जनरल के आदेशों व निर्देशों को मानना बाध्यकारी था यदि प्राप्त आदेश व निर्देश कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स या निर्देशकों की गुप्त समिति के आदेशों व निर्देशों के विपरीत न हो ।[4] बम्बई व मद्रास के गवर्नरों को किसी भी भारतीय शासकों या राज्यों से शत्रुता प्रारम्भ करने या युद्ध करने, शान्ति सन्धि पर वार्ता या निर्णय करने या अन्य सन्धियाँ करने सम्बन्धित आदेशों को जारी करने से रोका गया था (अचानक उत्पन्न आपात स्थिति या सन्निकट खतरों की परिस्थितियों को छोड़कर) । ये कार्य केवल तभी कर सकते थे जब बंगाल के सपरिषद गवर्नर जनरल या कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स या लन्दन में स्थित कम्पनी की गुप्त समिति द्वारा आदेश दिये गये हों। उन्हें समय समय पर प्रशासन सम्बन्धी आदेशों की समस्त प्रतियाँ सपरिषद गवर्नर जनरल को भेजना जरूरी था। गवर्नर जनरल के निर्देशों के प्रति अवज्ञा या लापरवाही की परिस्थिति में गवर्नरों या उनके पार्षदों को हटाने , नौकरी से निकालने या निलम्बित करने की जिम्मेदारी सपरिषद गवर्नर जनरल की थी।[5]

---

1. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ 123-124
2. पंचानन दास मुखर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ 60-61
3. अनिल चन्द्र बनर्जी -पूर्वोधृत - पृष्ठ 125-127
4. अनिल चन्द्र बैनर्जी - पूर्वोधृत- पृष्ठ 130
5. अनिल चन्द्र बैनर्जी - पूर्वोधृत- पृष्ठ 132-133

अधिनियम में यह भी व्यवस्था दी गयी थी कि गवर्नर जनरल को किसी भी प्रेसीडेन्सी की यात्रा पर सम्बन्धित प्रेसीडेन्सी के गवर्नर के आदेशों को प्रत्यादिष्ट (ओवरराइड) करने की शक्ति प्राप्त थी ।

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा गवर्नर और अधिक सम्राट के प्रत्यक्ष नियंत्रण के अधीन लाये गये । गवर्नरों की नियुक्ति में सम्राट की संस्तुति आवश्यक कर दी गयी।

1833 के एक्ट द्वारा अंग्रेजों के अधीन भारत के सम्पूर्ण प्रशासन को सपरिषद गवर्नर जनरल के पूर्ण स्वामित्व में देकर केन्द्रीयकरण की उस प्रक्रिया को उच्च कोटि पर पहुंचा दिया गया जिसका प्रारम्भ रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल का पद स्थापित करके किया गया था।[1] इस अधिनियम द्वारा फोर्ट विलियम की सरकार की सर्वोच्चता पर पूर्व के अधिनियमों की अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया गया । अधिनियम की धारा 56 के अनुसार फोर्ट विलियम का सपरिषद गवर्नर जनरल ''भारत का सपरिषद गवर्नर जनरल'' बन गया और गवर्नर जनरल बंगाल का भी परिषदहीन गवर्नर जनरल बन गया ।[2] सपरिषद गवर्नर जनरल को बंगाल में फोर्ट विलियम, मद्रास में सेंट जार्ज फोर्ट, बम्बई और नवीन स्थापित आगरा प्रेसीडेन्सी के गवर्नरों व परिषदों के सैनिक व असैनिक प्रशासन से सम्बन्धित सभी मामलों के अधीक्षण व नियंत्रण का अधिकार दिया गया। गवर्नरों और परिषदों को सपरिषद गवर्नर जनरल के आदेशों एवं निर्देशों का बाध्यतापूर्वक पालन करना था। यद्यपि पूर्व उद्घृत प्रेसीडेन्सीयों के गवर्नरों को अपनी प्रेसीडेन्सियों से सम्बन्धित प्रारूपों या योजनाओं अथवा विधियों या नियमों को सपरिषद गवर्नर जनरल के समक्ष प्रस्तुत करने की अनुमति थी, जो उनके (गवर्नरों के) विचारों में सम्बन्धित प्रेसीडेन्सियों के लिए अति आवश्यक थी।[3] इस प्रकार विधि एवं नियम निर्माण की शक्ति भारत के सपरिषद गवर्नर जनरल में निहित थी और प्रेसीडेन्सियों के सपरिषद गवर्नरों को प्रान्तीय विधायन के लिये गवर्नर जनरल की पूर्वानुमति लेनी आवश्यक कर दिया गया। इसके अतिरिक्त गवर्नरों को सम्बन्धित सरकारों के समस्त आदेशों व अधिनियमों की प्रतियाँ नियमित

---

1. एम. वी. पायली पूर्वोधृत पृष्ठ 15
2. अनिल चन्द्र बनर्जी पूर्वोधृत पृष्ठ 208
3. अनिल चन्द्र बजर्नी = वही पृष्ठ 213-214 में उदघृत अधिनियम की धारा 65, 66 एवं 67

रूप से भारत के सपरिषद गवर्नर जनरल को प्रेषित करना आवश्यक था।[1] इस प्रकार सपरिषद गवर्नर जनरल का ब्रिटिश भारत की प्रेसीडेन्सियों के ऊपर पूर्ण नियत्रण स्थापित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 1833 के अधिनियम द्वारा भारत के सपरिषद गवर्नर जनरल की गर्वनर सहित किसी भी कर्मचारी को जिसने गवर्नर जनरल के आदेशों एवं निर्देशों का उल्लंघन किया हो, उनको निलम्बित करने की शक्ति जारी रखी गयी।

1853 के चार्टर द्वारा साम्राज्ञी और गवर्नर जनरल के प्रान्तों के मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार क्षेत्र बढ़ा दिया गया और भारत में एकीकृत शासन व्यवस्था को मजबूत किया गया । इसी तरह भारत सरकार अधिनियम 1854 द्वारा गवर्नर की शक्तियाँ संकुचित कर दी गयी और भारत के सपरिषद गवर्नर जनरल को सपरिषद गवर्नर की सत्ता की सीमा घोषित व सीमित करने की शक्ति प्रदान की गयी।[2] 1854 के अधिनियम द्वारा छोटे प्रान्तों की अध्यक्षता हेतु चीफ कमिश्नरों (मुख्य आयुक्तों) की नियुक्ति की गयी ।[3]

भारत से अंग्रेजी शासन को बाहर उखाड़ फेंकने के प्रथम प्रयास 1857 की क्रान्ति ने पुरानी व्यवस्था पर एक निर्णायक प्रहार किया । क्रान्ति ने ब्रिटिश संसद में नये विचार विमर्श को जन्म दिया और नयी नीति निर्धारित की गयी जो भारत शासन अधिनियम 1858 में परिणित हुयी । 1858 में ब्रिटिश साम्राज्ञी ने भारत की प्रभुसत्ता ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर स्वयं में निहित की थी और ब्रिटिश संसद ने ब्रिटेन की सरकार द्वारा सीधे शासन चलाने के लिये भारत का पहला कानून बनाया - भारत शासन अधिनियम 1858 ।[4] इस अधिनियम द्वारा साम्राज्ञी की शक्तियों का प्रयोग भारत सचिव द्वारा पन्द्रह सदस्यों की एक परिषद की सहायता से जो भारत परिषद के नाम से ज्ञात थी, किया

---

1. पंचानन दास मुखर्जी - वही पृष्ठठ 96, अनिल चन्द्र बनर्जी वही पृष्ठ 214
2. पंचानन दास मुखर्जी पूर्वोधृत पृष्ठ 133
3. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 21
4. श्री दुर्गादास बसु - भारत का संविधान : एक परिचय पृष्ठ 1

जाता था।[1] 1858 में भारत में अंग्रेजी राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत नौ बड़े व छः छोटे प्रान्त सम्मिलित थे। बम्बई, मद्रास व बंगाल प्रेसीडेन्सी गवर्नरों द्वारा, उत्तर पश्चिम प्रान्त, बंगाल, पंजाब व बर्मा लेफ्टिनेंट गवर्नर द्वारा तथा मध्य प्रान्त, आसाम, बलूचिस्तान एवं उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त मुख्य कमिश्नर द्वारा प्रशासित थी । छोटे प्रशासित क्षेत्र के अन्तर्गत कुर्ग अजमेर अण्डमान व निकोबार द्वीप तथा दिल्ली थे।[2] सपरिषद गवर्नर जनरल का प्रान्तों की स्थानीय सरकार पर कठोर नियन्त्रण था। इन सरकारों की स्वतंत्र शक्ति न थी वरन् वे गवर्नर जनरल के अभिकर्ता मात्र थे। प्रान्त जिलों में विभाजित थे, जिसका मुखिया कलक्टर, मजिस्ट्रेट या डिप्टी कमिश्नर था । इस प्रकार देश का प्रशासन न केवल एकिक था वरन् कठोरता से केन्द्रीकृत भी था, जिसे पायली ने "केन्द्रीकृत नौकरशाही" कहा है।[3] प्रान्तीय शासन को सभी मामलों में केन्द्रीय सरकार के अधीक्षण, निर्देश और नियंत्रण के अधीन काम करना पड़ता था । गवर्नरों की नियुक्ति साम्राज्ञी के विधिक आदेश द्वारा राजकीय मुद्रा सहित हस्ताक्षर (Royal Sign Manual) के अर्न्तगत होती थी । लेफ्टिनेन्ट गवर्नर साम्राज्ञी की अनुशंसा पर गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्ति किये जाते थे । उनकी सत्ता का विस्तार सपरिषद गवर्नर जनरल द्वारा घोषित किया जाता था।[4] इस प्रकार समस्त प्रान्त सपरिषद गवर्नर जनरल के माध्यम से प्रत्यक्षतः साम्राज्ञी के नियन्त्रण में आ गये। गवर्नरों की स्थिति व शक्ति के सम्बन्ध में 1858 के अधिनियम द्वारा कोई विशेष परिवर्तन नहीं किये गये। प्रेसीडेन्सी के गवर्नर, गवर्नर जनरल की परिषद के असाधारण सदस्य होते थे। यदि परिषद की बैठक प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत होती थी, तो गवर्नरों को अपने अधीन पदों पर नियुक्ति करने का विवेकाधीन अधिकार था।

भारतीय परिषद अधिनियम 1861 -

रेग्यूलेटिंग एक्ट ने केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ की थी जो, 1833 के अधिनियम से शिखर पर पहुंच गयी परन्तु भारतीय परिषद अधिनियम 1861 ने एक नयी प्रक्रिया प्रारम्भ की

---

1. श्री दुर्गा बसु - पूर्वोधृत पृष्ठ 1
2. एम. वी. पायली पूर्वोधृत पृष्ठ 31-32
3. एम. वी. पायली पूर्वोधृत पृष्ठ 26
4. एम.वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 32

विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया ।[1] इस अधिनियम ने भारत में एक विधिक तंत्र गठित किया और भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रारम्भ की नींव रक्खी।[2] इस अधिनियम द्वारा सपरिषद गवर्नर को अपनी परिषद में किसी रिक्त पद पर किसी व्यक्ति की अस्थायी नियुक्ति और अपनी परिषदों में संचालन सम्बन्धी नियम निर्माण व आदेश देने की शक्ति प्रदान की गयी जो कि सपरिषद गवर्नर के आदेश या कार्य प्रतीत हों। सपरिषद गवर्नरों को अपने अपने प्रान्तों के लिये विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त था, परन्तु उन्हें प्रत्येक विधि व नियम की प्रति गवर्नर जनरल की अनुमति हेतु प्रेषित करना जरूरी था।[3] गवर्नर को विधायी उद्देश्यों हेतु प्रेसीडेन्सी के लिये एडवोकेट जनरल व अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीत करने की भी शक्ति प्राप्त थी ।[4] वह अपनी परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता था और समान मत विभाजन की स्थिति में उसे निर्णायक मत देने का भी अधिकार था । इसके अलावा अतिरिक्त सदस्यों को गवर्नर की पूर्वानुमति के बिना प्रेसीडेन्सी के जन राजस्व को प्रभावित करने वाले किसी भी उपाय को प्रस्तुत करने का अधिकार न था। गवर्नर परिषद द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर अपनी अनुमति रोक सकता था या दे सकता था। प्रेसीडेन्सी के गवर्नर को अंग्रेजी शासन के हितों को प्रभावित करने वाले कुछ निश्चित विषयों पर गवर्नर जनरल की पुर्वानुमति लेना आवश्यक था।

इस प्रकार 1861 के अधिनियम द्वारा गवर्नरों के अपने प्रान्तों में शक्तियों की पुर्नस्थापना हुयी और उसे अपने प्रान्त के शासन को सुचारू रूप से चलाने की शक्ति प्रदान की गयी, यद्यपि अभी भी वह भारत की सपरिषद गवर्नर जनरल के अधीक्षण व नियंत्रण में था। उसके द्वारा पारित विधियों को गवर्नर जनरल अस्वीकार कर सकता था। विधि निर्माण की शक्ति गवर्नर को प्राप्त थी, लेकिन उस पर प्रभावशाली नियंत्रण लगा दिये गये थे । व्यावहारिक रूप में शक्ति प्रयोग करने से पूर्व गवर्नर जनरल की पुर्वानुमति लेनी पड़ती थी ।

---

1. एम. वी. पायली – पूर्वोधृत पृष्ठ 34
2. जी.एन. सिंह – लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्सटीटयूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेन्ट भाग–1 पृष्ठ 71
3. जी. एन. सिंह – पूर्वोधृत पृष्ठ 74
4. पंचानन दास मुखर्जी पूर्वोधृत पृष्ठ 202–3

भारतीय परिषद अधिनियम 1870 द्वारा गवर्नर को यह अधिकार दिया गया कि वह ''गैर कानूनी नियम'' घोषित क्षेत्र के लिए शान्ति व सुचारू सरकार सम्बन्धी प्रारूप भारत के गवर्नर जनरल को प्रेषित करे। ये प्रारूप भारत के गवर्नर जनरल और भारत सचिव की सहमति के पश्चात विधायिका द्वारा पारित विधि के समान प्रभावी होंगे।[1]

यद्यपि भारतीय परिषद अधिनियम 1892 द्वारा शक्तियाँ नहीं बढ़ायी गयी फिर भी गवर्नरों की शक्तियों में थोड़ी प्रगति और हुयी । गवर्नरों को विधायी परिषद में सरकारी व गैर सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार बनाये रखा गया, किन्तु उसके बजट पर चर्चा और प्रश्न पूछने सम्बन्धी विधि व नियम निर्माण की शक्ति और बढ़ा दी गयी।[2]

मोर्ले -मिन्टो सुधार :-

मोर्ले मिन्टो सुधार द्वारा अंग्रेजों के अधीन भारतीय प्रशासन में प्रतिनिधिक और लोकप्रिय तत्व का समावेश करने का प्रथम प्रयास किया गया । यह नामकरण तत्कालीन भारत सचिव मोर्ले और वाइसराय मिन्टो के नाम से हुआ । इनके द्वारा प्रस्तावित सुधारों को भारतीय परिषद अधिनियम 1909 में समायोजित किया गया । प्रान्तीय विधान परिषद से सम्बन्धित परिवर्तन प्रगामी थे। इन परिषदों के आकार में वृद्धि की गई और उसमें निर्वाचित कुछ गैर सरकारी सदस्य सम्मिलित किये गये, जिससे शासकीय बहुमत समाप्त हो गया।[3] प्रत्येक प्रान्त के गवर्नर को अपनी अपनी विधान परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार प्रदान किया गया । प्रत्येक प्रान्त के गवर्नर को अस्थायी रूप से गवर्नर पद ग्रहण व संचालित करने या गवर्नर की अनुपस्थिति में सम्मेलनों की अध्यक्षता करने के उद्देश्य से प्रान्तीय परिषद के किसी सदस्य को उपाध्यक्ष के रूप में नियुक्त करने की भी शक्ति प्रदान की गयी। प्रान्तों के लेफ्टिनेन्ट गवर्नरों को भी यह शक्ति प्राप्त थी।[4]

---

1. ए. बी. कीथ - पूर्वोधृत पृष्ठ 189
2. जी. एन. सिंह - पूर्वोधृत पृष्ठ 118
3. दुर्गा दास बसु - पूर्वोधृत पृष्ठ 5
4. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ 235

मोर्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा विधान परिषदों को बजट पर चर्चा करने व प्रस्ताव पेश करने का अधिकार दिया गया परन्तु सेंट जार्ज फोर्ट और बम्बई के सपरिषद गवर्नरों (ले. गवर्नरों सहित) को सामान्य जनहित के मामलों में वित्तीय चर्चा व वाद विवाद तथा प्रश्न पूछने के विषय पर कुछ शर्तें व पाबंदी लगाने का अधिकार था। वे परिषद की कार्यवाहीयों को रोक भी सकते थे। गवर्नर की विधायी परिषद द्वारा पारित किसी भी प्रस्ताव को मानने के लिये गवर्नर बाध्य न था। इन्हें केवल प्रान्तीय सरकार की संस्तुति के रूप में व्यवहृत करना था।[1]

यद्यपि 1909 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों की विधान परिषदों को अधिक शक्तियाँ प्रदान करने की नीति अपनायी गयी थी, परन्तु उनकी ये शक्तियों प्रान्तों के गवर्नरों के पाबन्दियों के अधीन थी। प्रान्तीय विधायिकाओं को अपनी सीमित शक्तियों का प्रयोग केन्द्रीय सरकार के विधायी व प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन करना था। गवर्नर को अपनी परिषद द्वारा पारित किसी भी विधेयक को लागू करने से पहले भारत के गवर्नर जनरल की सम्मति प्राप्त करना आवश्यक था । इस प्रकार प्रान्तों में गवर्नर के अधीन संवैधानिक निरंकुशता कार्य रूप में जारी थी जो कम या अधिक मात्रा में भारत सरकार का एजेन्ट था।

भारत सरकार अधिनियम 1919 :—

श्री मोन्टेग्यू द्वारा 1917 में घोषित मोन्ट फोर्ट रिपोर्ट के अनुसार प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों को प्राप्त करने का प्रयत्न भारत सरकार अधिनियम 1919 द्वारा किया गया । इसी सन्दर्भ में 1919 के अधिनियम द्वारा स्वायत्तशासी संस्थाओं के क्रमिक विकास का लक्ष्य रखा गया था, इस दृष्टिकोण के साथ कि अंग्रेजी साम्राज्य के एकीकृत भाग के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायी सरकार बन सके।[2] इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये एक नयी तकनीक अपनायी गयी जिसे ''द्वैध शासन[3] का नाम दिया गया

---

1. ए. बी. कीथ- पूर्वोधृत पृष्ठ 230-31
2. अनिल चन्द्र बनर्जी वाल्यूम- III- पृष्ठ 31
3. द्वैध शब्द अंग्रेजी शब्द Dyarchy का हिन्दी रूपान्तरण है। अंग्रेजी का यह शब्द ग्रीक शब्द ''di' और '' archia'''' से लिया गया है, जिसका अर्थ है दो शासको द्वारा दोहरी सरकार

जिसके द्वारा एक अंश तक उत्तरदायी सरकार का गठन सम्भव हो सका । इस व्यवस्था के अनुसार प्रान्तीय मामलों को दो भागों में विभाजित किया गया – "अनन्तरित विषय" और "आरक्षित विषय" । अनन्तरित विषयों से सम्बन्धित प्रशासन को गवर्नर विधायी परिषद के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से करता था। ..... जबकि दूसरी तरफ आरक्षित विषयों को गवर्नर और उसकी कार्यकारी परिषद, विधायी परिषद के प्रति उत्तरदायित्व के बिना प्रशासित करते थे।[1] इस प्रकार इस नये प्रयोग के अनुसार गवर्नर को संवैधानिक प्रमुख के रूप में भूमिका निभानी थी, विशेष रूप से उन विषयों से सम्बन्धित जिन्हें अनन्तरित विषयों में प्रान्तों के हितों हेतु वर्गीकृत किया गया था। इस अधिनियम से पूर्व प्रान्तों के तीन स्तर थे – गवर्नर के अधीन, ले0 गवर्नर के अधीन एवं मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) के अधीन भारत । इस नयी व्यवस्था द्वारा यह वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया और , सभी निम्नक्रम प्रान्तों को उच्चतर क्रम प्रदान करते हुये गवर्नर के अधीन कर दिया गया। ले0 गवर्नर की उपाधि समाप्त कर दी गयी । हालांकि बंगाल, मद्रास व बाम्बे प्रेसीडेन्सीयों के गवर्नरों को कुछ विशेष सुविधायें अभी भी प्राप्त थीं, जो कि नव स्थापित या उच्चतर क्रम प्राप्त प्रान्तों के गवर्नरों को प्राप्त नहीं थीं।[2]

1919 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश प्रान्तों – बम्बई, बंगाल व मद्रास के गवर्नरों की नियुक्ति पहले की भाँति ब्रिटिश क्राउन द्वारा पांच वर्ष की अवधि के लिये की जाती थी, लेकिन अन्य प्रान्तों के गवर्नरों की नियुक्ति क्राउन के मुहर के अधीन गवर्नर जनरल से विचार विमर्श के उपरान्त होती थी। इस अधिनियम द्वारा गवर्नरों को विधायी परिषद से मंत्रियों की नियुक्ति सम्बन्धी शक्ति प्रदान की गयी। वह किसी मंत्री को अपनी अभिसूचना द्वारा नियुक्त कर सकता था जो कि छः मास की अवधि के अर्न्तगत विधायी परिषद का सदस्य बनना आवश्यक था। मंत्री को गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त ही पद धारण करना था, यद्यपि स्थानीय विधायकों के अविश्वास प्रस्ताव द्वारा वह पदमुक्ति के लिये उत्तरदायी था। अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि अनन्तरित विषयों से सम्बन्धित कार्यों

---

1. एम. एस. डाहिया – ऑफिस ऑफ दि गवर्नर इन इण्डिया , पृष्ठ 18

2. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ट 51

को गवर्नर, मंत्रियों की सलाह से तब तक सम्पन्न करेगा जब तक कि गवर्नर को उनके सुझाव अस्वीकृत करने के पर्याप्त कारण न मिल जांय यहाँ तक कि वह आपात स्थिति या पद रिक्तता की स्थिति में अनन्तरित विषयों के प्रशासन का अस्थायी कार्यभार संभाल सकता था।[1] अपनी कार्यकारी परिषद और मंत्रियों के साथ कार्य सम्पादन के और अधिक सुविधाजनक संचालन हेतु भी गवर्नर नियम निर्माण व आदेश जारी कर सकता था।

गवर्नर को विधायी शक्तियाँ भी प्राप्त थीं। वह विधान परिषद का सदस्य नहीं था लेकिन उसे परिषद को सम्बोधित करने का अधिकार था । उसे आसाम के मामले में विशेष जानकारी रखने वाले एक व्यक्ति तथा अन्य प्रान्तों से सम्बन्धित दो से अनधिक व्यक्तियों को मनोनीत करने का अधिकार था, ताकि विधायिका में प्रस्तुत विधेयक या प्रस्तुति हेतु प्रस्तावित विधेयक पर उचित विचार विमर्श हो सके। विधान परिषद को कुछ निश्चित विधायी शक्तियां प्रदत्त थी, लेकिन कोई भी विधेयक गवर्नर की सहमति के बिना प्रान्त की विधि नहीं बन सकता था। वह परिषद द्वारा पास विधेयक पर अपनी सहमति दे सकता था, रोक सकता था अथवा विधेयक को पुनर्विचार हेतु परिषद को लौटा सकता था या गवर्नर जनरल के विचार हेतु आरक्षित कर सकता था।[2] विधेयक सम्राट के विचार हेतु भी आरक्षित किया जा सकता था। प्रान्तीय परिषदों को प्रान्तों के वार्षिक आय एवं व्यय पर विचार विमर्श करने, सहमति देने या न देने का अधिकार था, परन्तु परिषद द्वारा अस्वीकृत या कटौती किये हुये अनुदान को गवर्नर अपने उत्तरदायित्व निर्वहन हेतु ''आवश्यक'' प्रमाणित करके प्राप्त कर सकता था।[3] इसके अतिरिक्त इस अधिनियम ने प्रमाणिक रूप से गवर्नर को ऐसे विधेयको के पास करने का अधिकार दे दिया जिन्हें परिषद द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया था। इस रूप में गवर्नर द्वारा हस्ताक्षरित एवं संस्तुति प्राप्त ऐसा विधेयक स्थानीय विधायिका का वैसा ही प्रभावी नियम बन जायेगा जैसा कि वह मूल रूप में विधायिका में प्रस्तावित किया गया था, परन्तु ऐसे प्रत्येक अधिनियम की प्रति

---

1. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ 34-36
2. अनिल चन्द्र बनर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ 42
3. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 57

गवर्नर जनरल के सम्मुख प्रस्तुत करनी थी, जो इसे सहमति प्रदान कर सकता था या सम्राट के विचार हेतु आरक्षित कर सकता था। गवर्नर को प्रान्त की शान्ति एवं सुरक्षा हेतु आवश्यक प्रतीत होने पर व्यय करने की शक्ति भी प्राप्त थी । यहाँ तक कि गवर्नर परिषद को निर्देश भी दे सकता था कि वह ऐसा कोई विधेयक न प्रारम्भ करे या ऐसा कोई संशोधन प्रस्तावित न करे जो उस प्रान्त की या किसी भाग की या दूसरे प्रान्त की सुरक्षा एवं शान्ति को प्रभावित करे। गवर्नर यह भी निर्देश दे सकता था कि इस सम्बन्ध में परिषद कोई कार्यवाही न करे ।[1]

इस प्रकार 1919 का अधिनियम अंग्रेजों के अधीन भारत की केन्द्रीय स्थिति बनाये रखने का प्रयास था जिसकी नीति के अन्तर्गत गवर्नर को गवर्नर जनरल के निरीक्षण, नियन्त्रण एवं निर्देशन में कार्य करना था।

भारत सरकार अधिनियम 1935 : —

भारत शासन अधिनियम 1919 द्वारा स्थापित द्वैध शासन के कार्यरूप में स्पष्ट हुयी अनेक त्रुटियों को 1930 में प्रस्तुत साइमन कमीशन रिपोर्ट द्वारा उल्लिखित किया गया जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने अगस्त 1935 में भारत शासन अधिनियम प्रस्तुत किया। भारत की स्वतंत्रता के पूर्व में राज्यपाल पद के विकास के अन्तिम भाग का आधार 1935 का अधिनियम माना जा सकता है।[2] 1935 के अधिनियम की प्रमुख विशेषता थी द्वैध शासन का अन्त और इस अधिनियम के अन्तर्गत जिस प्रकार की शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी उसे प्रान्तीय स्वायत्तता का नाम दिया गया।[3] भारतीय जनता के लिये इसका अर्थ था प्रान्तों में एक ऐसे प्रकार की शासन व्यवस्था जिन्हें कुछ मात्रा में स्वतंत्रता प्राप्त है और जो अधिनियम द्वारा प्रदत्त कार्यों को बिना किसी ऊपरी हस्तक्षेप के करने के लिये स्वतंत्र है। शायद सबसे उचित परिभाषा द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अन्त में दिये गये रैम्जे मैकडोनाल्ड के भाषण में थी । उन्होंने कहा, ''हम सब सहमत हैं कि भविष्य में गवर्नरों के प्रान्त

---

1. अनिल चन्द्र बनर्जी पूर्वोधृत पृष्ठ 41-43
2. एच. ए. गनी - पूर्वोधृत पृष्ठ 2
3. हरिहर दास - सेन्टर स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया, पृष्ठ 84

उत्तरदायित्व पूर्ण शासित इकाई के रूप में बाहरी हस्तक्षेपों से अप्रभावित और अपनी परिधि के अन्तर्गत स्वनिर्मित नीतियों को लागू करने में सक्षम होंगे ''।[1]

1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रथम बार ब्रिटिश भारत के लिये संघीय ढांचे की स्थापना की गयी। इसके द्वारा केन्द्र के लिये एक केन्द्रीय विधायिका तथा प्रान्तों के लिए प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना की गयी, जिनके मध्य विधायी कार्यों को संवैधानिक वितरण किया गया। इस वर्गीकरण द्वारा विधायी विषयों की तीन सूची बनायी गयी। प्रथम सूची केन्द्रीय विधान के लिये आरक्षित विषय, द्वितीय सूची में प्रान्तीय विधायन हेतु अनन्य विषय थे, परन्तु गवर्नर जनरल की आपात घोषणा के उपरान्त केन्द्र को इस सूची पर विधायन का अधिकार प्राप्त था। तृतीय सूची में वर्णित विषयों पर केन्द्र व प्रान्त दोनों को विधि बनाने का अधिकार था।[2]

इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्त की कार्य पालिका सत्ता गवर्नर में निहित थी जिसकी नियुक्ति भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के परामर्श पर सम्राट (हिज मैजस्टी) द्वारा होती थी।[3]

सामान्यत: भारतीय सिविल सेवा के वरिष्ठ अधिकारी गवर्नर नियुक्त किये जाते थे यद्यपि दूसरों के लिये कोई बाधा नहीं थी। गवर्नर को उच्च वेतन व भत्ते प्राप्त होते थे, जो कि प्रान्तीय राजस्व पर भारित थे इसलिये विधायिका में वे मतदान के विषय न थे।[4]

कार्यपालिका प्रधान होने के नाते गवर्नर को विशेषतया तीन भिन्न प्रकार से कार्य करना था- प्रथमत: मंत्रियों की सलाह पर कार्य करना, द्वितीयत: अपने व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करना, जिस सम्बन्ध में वह मंत्रियों से सलाह कर सकता था परन्तु उनके सुझाव मानने के लिए बाध्य न था और तृतीयत: अपने विवेकानुसार कार्य करना अर्थात मंत्रियों की सलाह लिये बिना ही कार्य करना। गवर्नर को एक मुख्य कार्य पालक की समस्त सुविधा प्राप्त थी जिसके अर्न्तगत कुछ कानूनी मुक्तता

---

1. एम. वी. पायली -पूर्वोधृत पृष्ठ 84-85 पर उदघृत
2. दुर्गादास बसु - पूर्वोधृत पृष्ठ 10-11
3. एम.वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 84-85
4. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 85

(रियायते) भी निहित थी ।[1] इस प्रकार अधिनियम के अर्न्तगत गवर्नर को दोहरे कार्य करने थे - एक ओर उसे स्वायत्तशासी प्रान्त के संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करना था और दूसरी ओर उसे केन्द्र सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करना था, विशेष रूप से तब जब उसे या तो स्वविवेकानुसार या व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करना था।[2]

गवर्नर को उसके कार्यों में सहायता व सुझाव देने के लिए एक मंत्रिपरिषद थी, उन कार्यों को छोड़कर जहां गवर्नर को स्वविवेकनुसार कार्य करना था। गवर्नर मंत्रियों को नियुक्त करता था और वे उसके प्रसाद पर्यन्त ही पद पर बने रहते थे। कार्यपालिका प्रधान के रूप में वह किस प्रकार अपनी शक्तियों का प्रयोग करें, इस हेतु अधिनियम में 'अनुदेश विलेख'[3] का एक भाग था। इसके अनुसार उसे मंत्रियों को नियुक्ति से पूर्व व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त नेता से परामर्श करने की आशा की जाती थी। गवर्नर के निम्नलिखित विशेष उत्तरदायित्व थे[4] :-

1. प्रान्त या उसके किसी भाग की शान्ति व सुरक्षा के गंभीर खतरे को रोकना।
2. अल्पसंख्यकों के विधिक अधिकारों की रक्षा करना।
3. विधिक एवं साम्य योग्य (Equitable) अधिकारो की सुरक्षा करना तथा सार्वजनिक सेवाओं के कानूनी अधिकारों की रक्षा करना।
4. ब्रिटेन में स्थायी रूप से निवासित ब्रिटिश प्रजा या उस देश में संयुक्त रूप से स्थापित कम्पनियों के मध्य भेद को रोकना।
5. आंशिक रूप से पृथक भाग की शान्ति व अच्छी सरकार की सुरक्षा करना।

---

1. एम. वी. पायली - पूर्वोधृत- पृष्ठ 85 और हरिहर दास - पूर्वोधृत पृष्ठ 60
2. नरेन्द्र सिंह गहलौत - स्टैट गर्वनरस इन इण्डिया : ट्रेन्डस एण्ड इश्यूज - पृष्ठ 3
3. अधिनियम में इसके लिए 'Instrument of Instruction' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो गवर्नर को विभिन्न परिस्थितियों में कर्तव्य निर्वहन हेतु सहायक निर्देशों के समूह के लिये प्रयुक्त किया गया है।
4. हरिहरदास- पूर्वोधृत पृष्ठ- 60-61

6. किसी भी भारतीय राज्य और वहां के किसी भी शासक के अधिकारों एवं शान की रक्षा करना।

71 गवर्नर जनरल के स्वविवेकानसुार पारित आदेशों व निर्देशों के सम्पादन को निश्चित करना ।

इन विशेष उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त गवर्नर को व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर प्रान्त के एडवोकेट जनरल को नियुक्त एवं पदच्युत करने का अधिकार था।[1] प्रान्तीय गवर्नर को विधि व्यवस्था के क्षेत्र में अत्यधिक एवं अलग अधिकार थे। उसे प्रान्तीय सरकार के अधिक सुविधा जनक कार्य व्यापार हेतु नियम निर्माण का अधिकार था। उसके इन्ही अधिकारों के कारण गवर्नर प्रान्तीय सरकार की लगभग समस्त शक्तियों का केन्द्र बन गया। उसके ये अधिकार निम्न थे:-[2]

1. व्यवस्थापिका की बैठक बुलाना।

2. जब कभी आवश्यक हो दोनों सदनों की सयुंक्त बैठक बुलाना।

3. सदन की कार्यवाही के नियम निर्धारित करना।

4. व्यवस्थापिका को सम्बोधित करना या सन्देश भेजना।

5. व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी सहमति प्रदान करना या सहमति रोकना या पुनर्विचार हेतु लौटाना या गवर्नर जनरल के विचार हेतु आरक्षित करना।

6. निम्न सदन को भंग करना या सदनों का सत्रावसान करना।

उपर्युक्त सभी मामलों में उसे स्वविवेकानुसार कार्य करना था। निम्न विषयों से सम्बन्धित विधेयकों पर गवर्नर की पूर्वानुमति आवश्यक थी[3] :-

1. गवर्नर की किसी भी कार्य या स्वविवेकानुसार घोषित अध्यादेश।

---

1. पायली- पूर्वोधृत पृष्ठ - 86

2. हरिहर दास - पूर्वोधृत पृष्ठ 62

3. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ - 89

2. पुलिस बल से सम्बन्धित कुछ भी ।

वह किसी भी विषय पर विचार विमर्श रोक सकता था, यदि उसकी दृष्टि में वह उसके विशेष उत्तरदायित्वों को प्रभावित करता हो। इन सभी सामान्य शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर को विधि निर्माण सम्बन्धी असाधारण शक्तियाँ भी प्राप्त थीं। यदि किसी समय जब प्रान्तीय व्यवस्थापिका सत्र में न हो और गवर्नर सन्तुष्ट हो जाये कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी है जिससे उसका तुरन्त कार्यवाही करना आवश्यक हो गया है तो वह अपने नाम से अध्यादेश जारी कर सकता था। यह अध्यादेश व्यवस्थापिका द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक है। इस अध्यादेश की वही शक्ति व प्रभाव होगा जैसा कि प्रान्तीय विधायिका के गवर्नर की सहमति प्राप्त अधिनियम का होता है।[1] यह अध्यादेश गवर्नर द्वारा किसी भी समय वापस लिया जा सकता था। गवर्नर को विशेष परिस्थितियों में अधिनियम द्वारा प्रदत्त विशेष उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने केलिये विधि निर्माण ''गवर्नर का अधिनियम '' का अधिकार था, लेकिन ऐसे प्रत्येक अधिनियम की प्रति सेक्रेटरी आर्फ स्टेट के समक्ष प्रस्तुत करनी पडती थी जो उसे ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखता था।[2] गवर्नर यदि सन्तुष्ट हो जाय कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें प्रान्त की सरकार अधिनियम 1935 के प्रावधानों के अनुरूप नही चलायी जा सकती है, तो उसे स्वविवेकानुसार उद्घोषणा करने की शक्ति प्राप्त थी।[3] इस खण्ड के अनुसार वह प्रान्त के उच्च न्यायालय को प्राप्त अधिकारों को छोडकर समस्त अधिकार या किसी भी अधिकार को ग्रहण कर सकता था। उसे ऐसी उद्घोषणा की प्रति गवर्नर जनरल के माध्यम से भारत के सेक्रेटरी आर्फ स्टेट को सम्प्रेषित करना आवश्यक था।

इन सबके अतिरिक्त गवर्नर को कुछ वित्तीय अधिकार भी प्राप्त थे। वित्तीय विधेयक केवल गवर्नर की पूर्वानुमति पर ही पेश किये जा सकते थे। वार्षिक वित्तीय विवरण सदन में दो भागों में रखा जाता था।

---

1. अधिनियम का सेक्शन 89- अनिल चन्द्र बनर्जी- पूर्वोधृत पृष्ठ 286-287

2. अधिनियम का सेक्शन - 89- अनिल चन्द्र बनर्जी पृष्ठ 288-289

3. अनिल चन्द बनर्जी- पूर्वोधृत पृष्ठ 289-90 पर उल्लिखित अधिनिमय की सेक्शन 93

1. प्रान्तीय राजस्व पर भारित व्यय।

2. प्रान्त के राजस्व से प्रस्तावित पूंजी जो अन्य व्ययों की पूति हेतु आवश्यक हो।

गवर्नर अपने स्वविवेकनुसार यह निर्णय कर सकता था कि कोई वस्तु " भारित व्यय " (Charged Item) है अथवा नहीं। ऐसी वस्तु पर व्यय मतदान योग्य न थे।[1] अनुदान की अस्वीकृति या कटौती की स्थिति में गवर्नर स्वविवेकनुसार भागों को पुर्नस्थापित कर सकता था, यदि उसे लगे कि उनके अभाव में उसके विशेष उत्तरदायित्वों के सुचारू संवहन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। यदि आवश्यकता पड़े तो गवर्नर व्यवस्थापिका के सम्मुख पूरक बजट भी प्रस्तुत कर सकता था।[2]

इस प्रकार 1935 के अधिनियम द्वारा गवर्नर की स्थिति अभी भी प्रान्त में प्रभावशाली निर्देशन नियंत्रण व प्रधानता की थी। "इस प्रकार 1778 से लेकर 1909 में मोर्ले- मिन्टों सुधार के पास होने तक, 1885 के राष्ट्रीय आन्दोलन के नवीन प्रभाव से अप्रभावित प्रान्तों के गवर्नर प्रभावशाली भूमिका निभाते रहे । 1935 का भारत सरकार अधिनियम इस अर्थ में एक कदम और आगे बढ़ गया कि कल्पना के किसी भी दृष्टिकोण द्वारा गवर्नर का स्थान एक वास्तविक प्रमुख से कम परन्तु संवैधानिक प्रमुख से अधिक बना रहा।[3] सम्पूर्ण रूप से गवर्नर की शक्यिां एक विस्तुत सूची प्रस्तुत करती है जो कि एक उत्तरदायी शासन व्यवस्था के कार्यरत मुख्य कार्यपालक के पास बहुत कम ही पायी जाती है। इसी कारण बहुत से विचारको के मत मे प्रान्तीय स्वायत्ता व्यवस्थापिका या मंत्रियों की अपेक्षाकृत प्रान्त के गवर्नरों के लिये अधिक स्वायत्तता थी। यह तथ्य कि गवर्नर अपने विशेष उत्तरदायित्वों व विवेकाधीन शक्तियों के निर्वहन में केवल गवर्नर जनरल के प्रति ही उत्तरदायी था, उपरोक्त आलोचना की व्यापक स्तर पर समर्थन करता है ।[4] यद्यपि प्रत्येक प्रान्त में उत्तरदायी सरकार के व्यावहारिक कार्यरूप को प्रोत्साहित करने हेतु अधिनियम में 'अनुदेश विलेख' (इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ इन्स्ट्रक्शन) थे,

---

1. हरिहर दास - पूर्वोधृत पृष्ठ 62
2. एच0 ए0 गनी - वही पृष्ठ 2 पर उल्लिखित एम0 एस0 डाहिया का कथन
3. पायली - पूर्वोधृत पृष्ठ 91
4. हरिहर दास पूर्वोधृत पृष्ठ 61

परन्तु वास्तविक व व्यावहारिक रूप में देखा जाय तो गवर्नर की शक्तियों पर कोई विधिक नियन्त्रण न था और न ही ऐसी कोई सत्ता थी, जो यह देखे कि इन अनुदेश विलेखों का उचित पालन हुआ है अथवा नहीं। प्रान्तों के गर्वनर केवल एक निरंकुश शासक के समान थे जो प्रान्तीय निरंकुशता की अध्यक्षता करते थे।[1] यह इस कारण से कि गवर्नर अपनी विवेकाधीन शक्तियों से मुख्यमंत्री व अन्य मंत्रियों को नियुक्त अथवा पदमुक्त कर सकता था। उदाहरणार्थ अक्टूबर 1942 में सिन्ध के गवर्नर ने प्रधान मंत्री[2] को पदच्युत किया और मार्च 1943 में पश्चिम बंगाल के प्रधान मंत्री को गवर्नर ने त्याग पत्र देने हेतु बाध्य किया । इसी तरह ऐसे मामले भी हैं, जहाँ गवर्नरों ने अपने प्रधानमंत्रियों की सलाह को स्पष्टतया अस्वीकार कर दिया । बिहार, उत्तर प्रान्त व उड़ीसा में प्रधान मंत्रियों की सलाह अस्वीकृत करने पर संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया, विशेष रूप से जब कांग्रेस ने मंत्रीपद अस्वीकार कर दिया। गवर्नर ने विधायिका में अल्पमत प्राप्त दल के व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त कर दिया। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में विश्वास मत खो देने पर भी मंत्री परिषद को शासन की अनुमति प्रदान की गयी और सभा द्वारा पास दो विधेयकों को गवर्नर ने अपने विवेकाधिकार से वीटो कर दिया।[3] यह समस्त उदाहरण इस तथ्य को प्रभावित करने के लिये पर्याप्त है कि ब्रिटिश गवर्नरो ने मुलरूप से संसदीय प्रजातंत्र की भावना के विपरीत कार्य किया जिसे कि भारत शासन अधिनियम 1935 द्वारा प्राप्त करने का उद्देश्य रखा गया था। यह कहना गलत न होगा कि प्रान्तों में कार्यरत व्यवस्था निरंकुश प्रकार की थी, जिसका प्रमुख सूत्र गवर्नर के हाथों में था ।

ब्रिटिश सरकार व राष्ट्रीय कांग्रेस दल के मध्य द्वितीय विश्वयुद्व के विषय पर उत्पन्न मतभेद के कारण प्रान्तीय स्तर पर उत्पन्न संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया जिसके निदान हेतु गवर्नरों ने अधिनियम 1935 के सेक्शन 93 को कार्यरूप मे परिणित कर उन प्रान्तों में गवर्नर का शासन लागू कर दिया। इस प्रकार अधिनियम 1935 का यह केन्द्रीकृत रूप सन् 1946 तक चलता रहा जबकि अनेक

---

1. नरेन्द्र सिंह गहलौत - पूर्वोधृत, पृष्ठ 4 पर उल्लिखित प्रो. पी. एन. मसालदान का कथन
2. नरेन्द्र सिंह गहलौत - पूर्वोधृत पृष्ठ 4-5 पर विवरण
3. तत्कालीन व्यवस्था में प्रान्तों के मुख्यमंत्रियों के लिये प्रधान मंत्री शब्द का प्रयोग किया गया

प्रान्तों में पुन: कांग्रेस सरकार बनी फिर गवर्नरों की वही प्रधानता की स्थिति बनी रही । वर्तमान में राज्यपाल का पद गवर्नरों की स्थिति में हुये क्रमिक विकास का ही प्रतिफल है जिसमें 1935 के अधिनियम में गवर्नरों की स्थिति ने वर्तमान पद को कम या अधिक मात्रा में ठोस आधार प्रदान किया। वास्तव में गवर्नर प्रान्तीय शासन के संवैधानिक प्रमुख की अपेक्षा संवैधानिक निरंकुश शासक अधिक था।

द्वितीय अध्याय

राज्यपाल का पद-संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण एवं संवैधानिक प्रावधान

राज्यपाल का पद :- संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण एवं संवैधानिक प्रावधान

15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् भारत के सम्मुख तात्कालिक लक्ष्य संविधान निर्माण का था। कैबिनेट मिशन योजना के आधार पर संविधान सभा का गठन किया गया। किसी प्रभुता संपन्न लोकतांत्रिक राष्ट की संविधान- रचना का कार्य, सामान्यता उसकी जनता के प्रतिनिधि निकाय द्वारा किया जाता है। संविधान पर विचार करने तथा उसे अंगीकार करने के लिए जनता द्वारा चुने गए , इस प्रकार के निकाय को संविधान सभा कहा जा सकता है।[1]

संविधान सभा की परिकल्पना सदैव राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जुड़ी रही है। यद्यपि ब्रिटिश सरकार, भारतीय जनता की संविधान सभा की माँग को स्पष्टतया स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थी, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध की आवश्यकताओं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने उसे ऐसा करने के लिए मजबूर कर दिया। अत: अगस्त 1940 के प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि, 'भारत का संविधान स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।'' इसके बाद 1942 की क्रिप्स योजना के द्वारा ब्रिटेन ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा गठित होगी, जो युद्ध के बाद भारत के लिए संविधान तैयार करेगी। लेकिन भारतीयों द्वारा अन्य महत्वपूर्ण आधारों पर क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया गया। अन्त में, 1946 की कैबिनेट मिशन योजना में भारतीय संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर इसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया।[2]

कैबिनेट मिशन ने अनुभव किया कि संविधान निर्माण निकाय का गठन करने की सर्वाधिक संतोषजनक विधि यह होती है कि उसका गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव के द्वारा किया जाता, किन्तु ऐसा करने पर नये संविधान के निर्माण में 'अवांछनीय विलम्ब' हो जाता, इसलिए उनके अनुसार 'एकमात्र व्यावहारिक तरीका यही था कि हाल में निर्वाचित प्रांतीय विधान सभाओं का उपयोग

---

1. सुभाष कश्यप - हमारा संविधान, भारत का संविधान और संवैधानिक विधि - पृष्ठ - 24
2. डा0 पुखराज जैन - राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय संविधान- पृष्ठ -126

निर्वाचक निकाय के रूप में किया जाय और सिफारिश किया, कि संविधान निर्माण निकाय में प्रान्तों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर हो।[1] इस योजना की प्रमुख बातें इस प्रकार थीं :—

(1) स्थूल रूप से 10 लाख के लिये एक स्थान का अनुपात था। इसके परिणामस्वरूप प्रान्तों को 292 सदस्य और देशी रियासतों को 93 स्थान दिए गये।

(2) प्रत्येक प्रान्त के स्थानों को तीन प्रमुख समुदायों में जनसंख्या के अनुपात में बांटा गया। ये सम्प्रदाय थे: मुस्लिम, सिक्ख और साधारण।

(3) प्रान्तीय विधान सभा में प्रत्येक समुदाय के सदस्यों ने एकल संक्रमणीय मत से आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार अपने प्रतिनिधि का निर्वाचन किया।

(4) देशी रियासतों के चयन की पद्धति परामर्श से तय की जानी थी।[2]

इस प्रकार संविधान निर्माण निकाय की कुल संख्या 385 निर्धारित की गई। इनमें चीफ कमिश्नरों के चार प्रान्तों दिल्ली, अजमेर, मारवाड़, कुर्ग और ब्रिटिश बलूचिस्तान के एक-एक प्रतिनिधि शामिल किया जाना था।

ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को आवंटित 296 स्थानों के लिए चुनाव जुलाई-अगस्त 1946 तक पूरे कर लिये गए थे। कांग्रेस को 208 स्थानों पर, जिनमें नौ को छोड़कर शेष सभी सामान्य स्थान शामिल थे, विजय प्राप्त हुई और मुस्लिम लीग को मुसलमानों को आवंटित स्थानों में से पाँच स्थानों को छोड़कर शेष 73 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। जब दिसम्बर, 1946 में इसकी पहली बैठक हुई, तो संविधान सभा प्रभुसत्तासंपन्न संस्था नहीं थी, क्योंकि अंतिम अधिकार ब्रिटिश संसद के हाथ में थे, परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 के कारण स्थिति में महान् परिवर्तन हुआ और यह सभा सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था बन गई।[3]

---

1. सुभाष कश्यप - पूर्वोधृत - पृष्ठ 28
2. डा० दुर्गा दास बसु - भारत का संविधान एक परिचय - पृष्ठ -18
3. एम ० वी० पायली- भारतीय संविधान- एक परिचय - पृष्ठ - 8

संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण :-

9 दिसम्बर, 1946 को अत्यधिक उथल पुथल की परिस्थिति में संविधान सभा की पहली बैठक हुई। 30 अप्रैल, 1947 को सभा ने एक साथ दो समितियाँ गठित करने का प्रस्ताव रखा। एक समिति से 'संघीय संविधान के मुख्य सिद्धान्तों' पर विचार करने व रिपोर्ट देने के लिए कहा गया। इसके अध्यक्ष श्री जवाहर लाल नेहरू थे। दूसरी समिति से 'माडल प्रान्तीय संविधान के मुख्य सिद्धान्तों,' पर विचार करने व रिपोर्ट देने के लिए कहा गया, जिसके अध्यक्ष सरदार पटेल थे। प्रन्तीय संविधान समिति की 5 मई, 1947 को पहली बैठक हुई। समिति ने सर्वप्रथम प्रान्त के राज्यपाल की नियुक्ति व कार्यों से सम्बन्धित विषय के बारे में विचार किया।[1]

राज्यपाल के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार सम्मुख आये। एक के अनुसार राज्यपाल संयुक्त राज्य अमेरिका के गर्वनर के समान होना चाहिए जिसके पास कार्यपालिकीय सत्ता का अधिकार हो तथा जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाये। दूसरे विचार के अनुसार राज्यपाल का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से हो तथा वह अपने कार्य कलापों का संचालन मुख्यमंत्री[2] की मन्त्रणा के अनुसार करे।

अप्रैल 1947 में स्वीकृत प्रस्ताव के आधार पर भारतीय संविधान सभा ने प्रान्तीय संविधान समिति को यह निर्देश दिया कि वह आदर्श प्रान्तीय संविधान के मुख्य सिद्धान्तों पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करें। उस समय के संविधान निर्माताओं ने एक सुझाव यह रखा कि एक कमजोर केन्द्र वाली कम-संघीय व्यवस्था को स्थापित किया जाय, क्योंकि 16 मई, 1946 में कैबिनेट-मिशन-योजना ने कुछ सामान्य प्रतिबन्धों एवं शर्तो को रखा था, जिसके अन्तर्गत प्रान्तों को अधिक स्वायत्तता दी गयी थी। विदेशी मामलों, रक्षा संचार के अतिरिक्त सभी विषय प्रान्तों को दिये गये थे। कैबिनेट-मिशन योजना 1946 ने जो प्रतिबन्ध लगाये थे, उसके परिप्रेक्ष्य में प्रान्तीय संविधान समिति ने अपनी 5 मई, 1947 की बैठक में यह निर्णय लिया कि सभी सदस्यों को एक परिपूर्ण ज्ञापन वितरित किया जाय, जो कि आदर्श प्रन्तीय संविधान के सिद्धान्तों पर परिचर्चा का विषय बन सके, किन्तु यह सफल नहीं हो

---

1. सत्ती साहनी द्वारा सम्पादित - सेन्टर स्टेट रिलेशन्स में कर्नाटक सरकार का श्वेत पत्र में उद्धृत - पृष्ठ - 263
2. संविधान सभा में मुख्यमंत्री के लिये प्रधानमंत्री शब्द का भी प्रयोग किया गया है

सका। प्रन्तीय संविधान समिति के 25 सदस्यों में से केवल 7 ने अपने विचार संविधान सलाहकार श्री बी०एन० राव को वितरित प्रश्नावली के उत्तर के रूप में प्रस्तुत किये। इस परिस्थिति में प्रान्तीय संविधान समिति के सदस्यों के बहुमत को एक ज्ञापन के रूप में तैयार नहीं किया जा सका।

संविधान परामर्शदाता श्री राव ने उसके बाद एक स्वतन्त्र ज्ञापन तैयार करके प्रान्तीय संविधान, समिति को 30 मई, 1947 में दिया। इस ज्ञापन में उन्होंने प्रस्तावित किया कि राज्यपाल का चुनाव गुप्त मतदान द्वारा प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मतपद्धति द्वारा किया जाय। प्रान्तीय संविधान समिति ने अपनी 6 जून, 1947 की बैठक में इस ज्ञापन के आधार पर राज्यपालों की नियुक्ति के विषय में परिचर्चा की। कुछ सदस्यों ने यह विचार व्यक्त किये कि राज्यपालों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा किया जाय। जबकि सदस्यों के दूसरे समूह का विचार था कि, चूँकि राज्यपाल संवैधानिक प्रधान हैं अतएव इसकी नियुक्ति अप्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा की जाय। कुछ अन्य सदस्यों ने सुझाव दिया कि राज्यपालों को केन्द्र द्वारा मनोनीत किया जाय जिससे कि वह केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय कार्यपालिका के मध्य सम्पर्क सूत्र के रूप में कार्य कर सके, किन्तु समिति ने यह निर्णय लिया कि केन्द्र और प्रान्तीय संविधान समितियों के सामान्य हित के मामलों को दोनों, समितियों की संयुक्त बैठक में विचार विमर्श किया जाय। 7 जून, 1947 को संघीय संविधान और प्रान्तीय संविधान समिति की संयुक्त बैठक हुयी जिसमें निम्नलिखित निष्कर्ष लिये गये:—

(1) प्रत्येक राज्य का प्रधान एक राज्यपाल होना चाहिए।

(2) राज्यपाल की नियुक्ति प्रान्त द्वारा की जाय केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं।

(3) प्रान्तीय कार्यपालिका संसदीय मंत्रिमण्डल के समान, होना चाहिए।

(4) राज्यपाल की नियुक्ति वयस्क मताधिकार के आधार पर विशेष निर्वाचक मण्डल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से की जानी चाहिए।

प्रान्तीय संविधान समिति ने, 11 जून, 1947 की अपनी बैठक में राज्यपाल के पद से सम्बन्धित निम्न निर्णय लिये[1] :—

---

1. श्री एन० एस० गहलौत - स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया ट्रेन्ड्स एण्ड इश्यूस - पृष्ठ 8

(1) वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन होना चाहिए।

(2) राज्यपाल पद का कार्यकाल विधायिका के कार्य काल से सम्बद्ध होना चाहिए अर्थात् चार वर्ष।

(3) निम्न सदन के सदस्यों के निर्वाचन के साथ ही राज्यपाल का निर्वाचन होना चाहिए।

प्रान्तीय संविधान समिति के अध्यक्ष सरदार पटेल ने अन्त में, 27 जून, 1947 को अपनी रिपोर्ट ,''माडल प्रान्तीय संविधान के सिद्धान्तों पर ज्ञापन'' नामक शीर्षक से प्रस्तुत की जो अन्त में 15 जुलाई, 1947 को संविधान सभा में प्रेषित की गयी। इस ज्ञापन में व्यवस्था थी कि प्रत्येक प्रान्त के लिये एक राज्यपाल होगा जो कि व्यस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होगा। परन्तु समिति का विचार था कि, जहाँ तक सम्भव हो सके राज्यपाल का निर्वाचन प्रान्तीय विधान सभा के आम निर्वाचन के साथ होना चहिए, यद्यपि यह स्वीकृत किया गया कि यह व्यवस्था कानून द्वारा करनी कठिन है, क्योंकि विधान सभा को मध्यावधि में भी भंग किया जा सकता है।[1]

श्री बी० जी० खेर ज्ञापन की धारा 1 पर आगे विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि साधारण निर्वाचन और राज्यपाल के निर्वाचन का, एक ही समय पर होना समस्या जनित है, क्योंकि यदि विधान सभा अपने निश्चित कार्यकाल से पूर्व भंग कर दी जाती है तो राज्यपाल का निर्वाचन विधान सभा के कार्यकाल के मध्य में होगा। उन्होंने सुझाव दिया कि एक ही समय पर दोनों निर्वाचन हो सकते हैं, यदि प्रत्येक विधान सभा भंग के पश्चात् राज्यपाल त्यागपत्र दे दे, लेकिन उनको भय है कि यदि यह कानूनी रूप से किया गया तो राज्यपाल मुख्यमंत्री की मंत्रणा पर विधान सभा भंग के लिए आसानी से तैयार न होगा।

प्रान्तीय संविधान समिति ने अपने ज्ञापन में अन्य संस्तुति दी की पद की आकस्मिक रिक्तता को प्रान्तीय विधायिका द्वारा आनुपतिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था के आधार पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा पूरित किया जाना चाहिए। राज्यपाल भी अपने कर्तव्य से अनुपस्थिति या अक्षमता या कार्य सम्पन्न करने की असफलता के मामले में संघ का राष्ट्रपति चार माह से अनधिक अवधि के लिये किसी व्यक्ति को राज्यपाल का कार्य सम्पन्न करने हेतु नियुक्त कर सकता है।

---

1. एन० एस० गहलौत - पूर्वोधृत - पृष्ठ - 9

16 जुलाई, 1947 को जब ज्ञापन की प्रथम तीन धारा पर संविधान सभा में बहस चल रही थी, गोविन्द बल्लभ पंत ने प्रत्येक प्रान्त में उपराज्यपाल पद हेतु एक संशोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने सभा में कहा, '' यह सम्भव है कि राज्यपाल जनहित कार्यो हेतु बाहर जाय, महत्वपूर्ण कूटनीतिक कार्यो के लिए संक्षिप्त अवधि के लिए बाहर भेजा जाय, या निश्चित अवधि के लिए अन्य कार्यो की उससे अपेक्षा की जाय, जो कि उसे सामान्य कार्यो को सम्पन्न करने की अनुमति न दे। इन परिस्थितियों मे उसका स्थान ग्रहण करने के लिये हमारे पास उपराज्यपाल होना चाहिए।''[1] निकोलस राय ने उपराज्यपाल के अलग पद का विरोध किया और पूछा कि राज्यपाल और उपराज्यपाल दोनों के पद रिक्त होने पर क्या विकल्प होगा।[2] के0 एम0 मुंशी तथा सरदार पटेल ने भी उपराज्यपाल पद का विरोध किया।[3] अन्ततः उपराज्यपाल पद का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया।

इस प्रकार संविधान सभा ने निर्वाचित राज्यपाल के सिद्धान्त को स्वीकृत किया और केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत राज्यपाल का विचार त्याग दिया। श्री गोविन्द वल्लभ पंत ने मनोनीत राज्यपाल के विचार का विरोध करते हुए कहा कि भारत के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यपाल का विचार संघ के राष्ट्रपति के लिए एक अपमान जनक कर्तव्य होगा। इसके अतिरिक्त यह प्रान्तीय स्वायत्तता के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा[4]

संविधान सभा ने ज्ञापन की विस्तार पूर्वक समालोचना करने के पश्चात् 17 जुलाई, 1947 को 'माडल प्रान्तीय संविधान' के सिद्धान्तों को अंगीकृत किया। संविधान सभा द्वारा स्वीकृत राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित प्रान्तीय संविधान की निम्न विशेषताएं थीं [5] :-

---

1. कान्सटीट्यून्ट असेम्बली डिबेट- वाल्यूम - 4 पृष्ठ- 610
2. भवानी सिंह - गर्वनर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन- पृष्ठ-5
3. भवानी सिंह- पूर्वोधृत - पृष्ठ- 5, विस्तृत अध्ययन हेतु सी0ए0डी0 वाल्यूम- 4- पृष्ठ 612-615
4. सी० ए०डी०- वाल्यूम -IV - पृष्ठ – 610.
5. एन० एस० गहलौत - पूर्वोधृत पृष्ठ – 10

1. राज्यपाल का वयस्क माताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन होना चाहिए और चार वर्ष के कार्यकाल तक पद ग्रहण करना चाहिए - मृत्यु , पदत्युति और त्यागपत्र की स्थितियों को छोड़कर। उसे उसके पद से कथित दुर्व्यवहार के कारण महाभियोग द्वारा हटाया जा सकेगा। आरोप का प्रारम्भ प्रन्तीय विधायिका करेगी और जिन प्रन्तों में द्विसदनीय व्यवस्थापिका है, वहाँ प्रान्त का निम्न सदन प्रारम्भ करेगा और संघीय संसद के उच्च सदन की विशेष समिति द्वारा जाँच के पश्चात् आरोप की पुष्टि उच्च सदन करेगा। प्रत्येक स्थिति में प्रस्ताव सम्बन्धित सदन के कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से कम समर्थित नहीं होना चाहिए।

2. यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक प्रान्त का एक उप राज्यपाल होगा, जिसका निर्वाचन प्रान्तीय विधायिका द्वारा प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् आनुपातिक प्रतिनिधित्व विधि से एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा। राज्यपाल की अनुपस्थिति से उत्पन्न आकस्मिक पद रिक्तता को वह भरेगा।

इस प्रकार संविधान निर्माताओं द्वारा संविधान निर्माण के प्रारम्भिक चरण में यह निश्चय किया गया कि राज्यपाल का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए क्योंकि उनका विचार था कि निर्वाचित राज्यपाल प्रान्तीय सरकार को स्थायित्व प्रदान करेगा । यह निर्णय संघ की प्रत्येक इकाई को 'अधिक से अधिक स्वायत्तता' देने के विचार के समरूप था।[1]

इसके पश्चात् सभा द्वारा स्वीकृत प्रान्तीय संविधान समिति के प्रस्तावों को संविधान सलाहकार श्री बी. एन. राव द्वारा अक्टूबर 1947 में तैयार संविधान के प्रारूप में सम्मलित किया गया था। इस प्रारूप में राज्यपाल व उपराज्यपाल की प्रान्त में कार्य पालिकीय सत्ता एवं निर्वाचन से सम्बन्धित बारह धाराएं (धारा 111 से 122) थीं।[2]

---

1. एम० वी० पायली - दि कन्टीट्युशनल गवर्नमेन्ट इन इण्डिया- पृ० 508

2. बी० शिवाराव - दि फ्रेमिंग आफ इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन वाल्यूम -III पृष्ठ 44 से 47

देश का विभाजन जब निश्चित हो गया, तब देश की राजनीतिक स्थिति आकस्मात् परिवर्तित हो गयी और कैबिनेट मिशन द्वारा संविधान सभा की सत्ता पर व्यक्त प्रतिबन्ध एवं सीमांए 15 अगस्त, 1947 से लुप्त हो गयीं। इस परिवर्तन से संविधान सभा की सर्वोच्चता बनी रही। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप कैबिनेट मिशन योजना द्वारा लचीले संघ की योजना भारतीय परिदृश्य से दूर हो गई और निर्माताओं ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता को रेखांकित किया।[1] इसके अतिरिक्त भारतीय संवत्रता के पश्चात् उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों एवं शरणार्थियों के आगमन से अपने पड़ोसी राज्यों को भारतीय संघ में सम्मिलित करने की समस्या ने संविधान निर्माताओं को स्वायत्त इकाइयों का संघ बनाने के विचार को त्यागने के लिये बाध्य किया। इसलिये उन्होंने भारत को ''राज्यों का एक संघ''[2] बनाने का निश्चय किया। इन कारणों ने सदस्यों को राज्यपाल की नियुक्ति से सम्वन्धित प्रावधान को आमूल रूप से परिवर्तित करने के लिये बाध्य किया।

राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित प्रारुप संविधान जब प्रारुप समिति के समक्ष बहस के लिय प्रस्तुत किया गया तो विभिन्न प्रकार के विचार सदस्यों द्वारा व्यक्ति किये गये। राज्यपाल के चुनने के तरीके के विषय में समिति के सदस्यों को यह आशंका हुई कि जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल और विधायिका के प्रति उत्तरदायी मुख्यमंत्री के साथ-साथ रहने से प्रान्त के मुख्यमंत्री व राज्यपाल के मध्य विवाद हो सकता है। इस कारण प्रान्तीय प्रशासन कमजोर हो जायेगा। अत: समिति ने राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित वैकल्पिक तरीके का सुझाव दिया। उनका विचार था कि राज्यपाल की नियुक्ति संघ के राष्ट्रपति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित चार सदस्यों के एक पैनल में से की जानी चाहिये।[3]

इसके पश्चात् विशेष समिति 10 एवं 11 अप्रैल, 1948 की बैठकों में इस निष्कर्ष पर पहुँची कि एक निर्वाचित राज्यपाल प्रान्तीय प्रशासन को नियंत्रित करने के लिए 'पूर्णतया बेकार' होगा। यह

---

1. के० संथानम् - यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया- पृष्ठ 60
2. एन० एस० गहलौत - पूर्वोधृत पृष्ठ-11
3. वी० शिवाराव - पूर्वोधृत पृष्ठ 546

भी महसूस किया गया कि निर्वाचित राज्यपाल जिसका जनता में प्रभाव होगा, आपात्काल में अपने मंत्रिमंडल की सलाह न मानने की कोशिश करेगा। यह भी विचार था कि दो निर्वाचित व्यक्तियों की उपस्थिति प्रान्तों में बहुत ही उत्तेजक स्थिति उत्पन्न करेगी। इसलिए समिति ने यह शिफारिश की कि राज्यपाल की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा प्रत्यक्षतः की जानी चाहिए। 18 अक्टूबर, 1948 को समिति की बैठक के पश्चात् डा० अम्बेडकर ने विशेष समिति द्वारा स्वयं संविधान सभा द्वारा निर्धारित नियुक्ति में परिवर्तन की संस्तुति को स्वीकार नहीं किया।[1]

30 मई, 1949 को जब संविधान निर्माता प्रारुप संविधान के अनुच्छेद 131 पर चर्चा करने के लिये मिले तो उन्हें दो वर्ष (1947-49) की समयावधि में प्रशासन का पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका था। उन्होंने राज्यपाल के चुनने सम्बन्धित चार विकल्पों पर विस्तार पूर्वक चर्चा की :—

1. वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचन।
2. प्रान्तीय विधायिका के निम्न सदन या दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व या अन्य व्यवस्था द्वारा निर्वाचन।
3. प्रान्तीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन द्वारा प्रेषित एक सूची में से संघ के राष्ट्रपति द्वारा चुनाव कराना।
4. भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति।

उपर्युक्त चार विकल्पों में से प्रथम तीन विकल्प तो अस्वीकृत कर दिये गये परन्तु अंतिम विकल्प जो श्री बृजेशवर प्रसाद द्वारा प्रेषित संशोधन था, वह स्वीकृत कर लिया गया। संशोधन इस प्रकार था, ''राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के हस्ताक्षर व मुद्रा सहित की जायेगी।''[2] राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिये संशोधन अपरिहार्य प्रतीत हुआ। श्री बृजेश्वर प्रसाद का विचार था कि, ''अखिल भारतीय एकता के हित के साथ ही केन्द्रीया भिमुख प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन

---

1. एन० एस० गहलौत - पूर्वोधृत - पृष्ठ 12
2. सी० ए०डी० वाल्यूम VIII, पृष्ठ - 425

हेतु यह आवश्यक है कि भारत सरकार की सत्ता प्रान्तों के ऊपर बनाई रखी जाय।''[1] उनका यह भी मत था कि नामों की एक सूची में से राज्यपाल को चुनना भारत के राष्ट्रपति की स्वतन्त्र पसन्द को सीमित कर देगा। वे चाहते थे कि राष्ट्रपति को प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रभाव से मुक्त रखा जाय। वे यह भी चाहते थे कि राष्ट्रपति द्वारा समान प्रान्त के व्यक्ति को उसी प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करेगा। इसलिए वे चाहते थे कि किसी प्रान्त का राज्यपाल चुनते समय राष्ट्रपति की पसन्द असीमित व बन्धन रहित' होनी चाहिये।[2]

श्री एच.वी. कामथ का संशोधन का समर्थन करते समय विचार था कि संसदात्मक सरकार में यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुनने का तरीका पूर्णतया अनुचित एवं स्वीकार करने योग्य नहीं है। उनका आगे कहना था यदि राज्यपालों का प्रान्त के समस्त मतदाताओं के मत से प्रत्यक्ष निर्वाचन होगा तो यह बहुत सम्भव है कि वे स्वयं के सशक्त विचारों सहित दल कार्यकर्ता हो और यह ध्यान में रखते हुए कि उसका निर्वाचन समस्त प्रान्त अर्थात् प्रान्त के समस्त वयस्क जनसंख्या द्वारा होगा। ऐसी परिस्थिति में उसके लिये यह सोचना स्वभाविक होगा कि वह प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका निर्वाचन संपूर्ण प्रान्त के द्वारा होगा जब कि मुख्यमंत्री का निर्वाचन प्रान्त के केवल एक निर्वाचन क्षेत्र से होगा। यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल की स्थिति का आधार अधिक विशाल होगा। राज्य में दो संघर्षमयी सत्ता होंगी— एक प्रधानमंत्री (मुख्यमंत्री) और दूसरा राज्यपाल। इसके कारण प्रन्तीय शासन में निर्वाचित मुख्यमंत्री एवं निर्वाचित राज्यपाल के मध्य संघर्ष एवं तनाव के प्राय: कई अवसर आयेंगे।[3]

श्री अलादि कृष्णास्वामी ने बृजेश्वर प्रसाद के संशोधन का समर्थन करते हुए सशक्त रूप से विचार व्यक्त किये,'' यदि राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख के रूप में सही ढंग से कार्य कर रहा है तो

---

1. सी० ए० डी० - वाल्यूम VIII पृष्ठ - 426
2. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ 426
3. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ - 428-429

निर्वाचन प्रक्रिया में हुआ व्यय संविधान द्वारा राज्यपाल में निहित शक्तियों से बहुत अधिक है।''[1] उनका आगे मत था कि राज्यपाल के निर्वाचन की प्रक्रिया, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मुख्यमंत्री और मंत्रीमण्डल एवं सार्वभौम मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल के मध्य संघर्ष का खतरा उपस्थिति करेगी। कनाड़ा का उदाहरण देते हुए उन्होंने मत व्यक्त किया कि, ''यदि पसन्द, राष्ट्रपति और उसके मंत्रिमण्डल पर छोड़ दी जाय तो राष्ट्रपति विचारणीय परिस्थितियों में, प्रान्त की स्थिति पर यथोचित ध्यान देते हुए, शंकाहीन योग्यता एवं सार्वजानक जीवन में स्थान वाले व्यक्ति को चुनेगा जो कि उस समय प्रान्तीय दल संघर्ष या वर्ग में सम्मिलित न हो। ऐसा व्यक्ति मंत्रिमण्डल के मित्र और मध्यस्थ के रूप में कार्य करेगा और मंत्रिमण्डल सरकार के प्रारम्भिक चरणों में सुचारू रूप से संचालन में सहायता करेगा।''[2] उन्होंने आगे कहा कि इस प्रमुख तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि राज्यपाल एक संवैधानिक प्रमुख, एक बुद्धिमान कानूनी सलाहकार और मंत्रिमण्डल का परामर्शदाता हो, जो कि कठिन परिस्थितियों को दूर कर सकता हो।[3] सरकार के संसदीय प्रकार के सुचारू संचालन के हित में उन्होंने, ''कनाडा के प्रतिरूप'' को अपनाने की सलाह दी, जिसके अन्तर्गत भारतीय संघ की इकाइयों में राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा हो।[4] डा० पी०एस० देशमुख का विचार था कि जबकि हमारा संविधान, 1935 के अधिनियम के आधार पर निर्मित किया जा रहा है. इसके अन्तर्गत उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था है, तो जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उत्तरदायी सरकार के अन्तर्गत राज्यपाल नाममात्र का प्रमुख होगा न कि ऐसा व्यक्ति जो दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सके।[5] उन्होंने आगे बहस करते हुए कहा कि निर्वाचित राज्यपाल के मामले में प्रान्तीय प्रधानमंत्री और उसके मध्य पूर्ण सम्भावना है कि कभी भी हार्दिक सम्बन्ध न होंगे और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जब निर्वाचित राज्यपाल प्रान्त के प्रधानमंत्री के साथ मिलकर केन्द्र को

---

1. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ - 432
2. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ -432
3. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ - 431-432
4. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ -433
5. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ - 433

चुनौती देने के लिए साथ-साथ सहमत हो जाय। इसलिये उन्होंने सुझाव दिया कि हमारे लिये बुद्धिमत्ता यही होगी कि राज्यपाल की नियुक्ति की शक्ति राष्ट्रपति को दे दें और नियुक्ति केवल राष्ट्रपति के 'प्रसाद पर्यन्त' ही की जानी चाहिए।[1]

डा० पी. के. सेन का विचार था, कि प्रान्त की सम्पूर्ण जनसंख्या का समर्थन प्राप्त एक निर्वाचित राज्यपाल, निर्वाचित सरकार के कार्यों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करेगा। इसके अतिरिक्त राज्यपाल के निर्वाचन की प्रक्रिया प्रत्येक प्रान्त पर 'अत्यधिकभार' लागू करेगी।[2]

डा० के० एम० मुन्शी का विचार था कि चूंकि संविधान सभा के सदस्यों ने भारत के लिए ब्रिटिश माडल को अपनाया है, इसलिये प्रान्तों में वयस्क मताधिकार द्वारा राज्यपालों का निर्वाचन 'एक अनियमित पूर्णतया सन्दर्भहीन एवं बेतुकी चीज' [3]रह गयी है। उन्होंने आगे कहा कि, ''एक प्रान्त की शक्ति एवं व्यय निर्वाचन द्वारा दल के द्वितीय स्तर के व्यक्ति को सरकार का मुखिया बनाने में अपव्यय हो जायेगा। इसका अर्थ होगा कि महत्ता में वह प्रधानमंत्री (मुख्यमंत्री) का सहायक होगा, क्योंकि वह (प्रधानमंत्री) उसके द्वारा मनोनीत होगा। (यदि ऐसा ही होना है तो फिर कोई कारण नहीं है कि इतने बड़े निर्वाचन की शक्ति को अपनाया जाय।[4]

डा० मुन्शी ने और अधिक स्पष्ट करते हुये कहा कि वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित राज्यपाल, प्रधानमंत्री, (राज्य के) अधिकारों का उल्लंघन करेगा, जो कि अनिवार्य रूप से संघर्ष को प्रारम्भ करेगा। उनके अनुसार राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यपाल के समान निर्वाचित राज्यपाल स्वय को दलगत राजनीति से अलग रखने में सक्षम न होगा। उस समय जब प्रधानमंत्री (राज्य के) प्रतिद्वन्दिता होगी तब दल से जुड़े व्यक्ति की अपेक्षा मनोनीत राज्यपाल कहीं अधिक अच्छा होगा, जो कि प्रान्त की दलगत राजनीति से अलग होगा।

---

1. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ - 434
2. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ , 444
3. पी. एल. माथुर - रोल ऑफ गवर्नर इन ऑन कांग्रेस स्टेटस - पृष्ठ-30
4. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ - 452

संविधान निर्माताओं में एक प्रमुख वक्ता पंडित जवाहर लाल नेहरू ने, निर्वाचित राज्यपालों के सम्बन्ध में अनेक त्रुटियाँ बतायी, जो कि वास्तव में मनोनीत राज्यपाल के पक्ष में थी। इन त्रुटियों में से तीन प्रमुख थीं:—[1]

(क) अन्य तरीके की अपेक्षा निर्वाचित राज्यपाल अलगाववादी प्रवृत्तियों को अधिक प्रोत्साहित करेगा।

(ख) यह प्रान्तों के संकुचित दृष्टिकोण से सोचने व कार्य करने को प्रोत्साहित करेगा।

(ग) यह देश की एकता, स्थायित्व व रक्षा के लिये लाभप्रद न होगा।

उपरोक्त आशंकाओं के निराकरण की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि राज्यपाल का निर्वाचन न हो बल्कि केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्ति की जाय। श्री नेहरू के स्वयं के शब्दों में,- '' अब एक चीज जिस पर हम व्यापक रूप से ध्यान दे रहे हैं, वह हैं किसी भी अलगाववादी प्रवृत्ति व समूहों आदि के निर्माण से बचना। हमने निश्चय किया है कि हम साम्प्रदाकिता को प्रोत्साहन नहीं देंगे। हमने पृथक निर्वाचकों एवं सुरक्षित स्थानों को समाप्त कर दिया है। हमें अभी भी कई अलगाववादी कारकों से निपटना है। निश्चय ही हम उनसे विधि द्वारा नहीं निपट सकते हैं। हमें हृदय एवं मन से निपटना है- मैं महसूस करता हूँ कि यदि हमारे पास एक निर्वाचित राज्यपाल हो तो वह अलगाववादी प्रान्तीय प्रवृत्तियों को अन्य उपायों की अपेक्षाकृत अधिक प्रोत्साहित करेगा। केन्द्र के साथ बहुत ही कम सामान्य सम्पर्क होगा ....स्थिर प्रजातांत्रिक यंत्र स्थापित करने में हमारे लिये यह बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है कि ऐसा कोई कदम न उठायें जो भारत के भविष्य को हानि पहुँचाने या सरकारी तंत्र को हानि की ओर बढ़ाता हो और इस प्रकार लड़ाई को जन्म दे। हम बहुत की कठिन समय के दौर से गुजर हैं और सफलतापूर्वक बच निकले हैं। हमें अभी भी कठिन समय से गुजरना है और मैं सोचता हूँ कि हमें हमेशा वस्तुओं को भारत की एकता, स्थिरता व रक्षा बनाये रखने के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए और

---

1. के. सी. मरकन्दन - सेन्टर स्टेट रिलेशन्स (दि पर्सपेक्टिव) - पृष्ठ 106

अपने संवैधानिक तंत्र में इतने अधिक कारकों को जगह नहीं देनी चाहिए जो उस एकता को बाधित करें।''1

डा० अम्बेडकर ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि राज्यपाल के कोई कार्य नहीं हैं और सभी मामलों में उसे अपने मंत्रिमंडल की सलाह माननी होगी, तब कोई आवश्यकता नहीं है कि निर्वाचन की प्रक्रिया से गुजरा जाय जो कि अत्याधिक समय, परेशानी और पूंजी व्यर्थ करेगी। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति उस पद के लिये चुनाव लड़ना नहीं चाहेगा जो कि अपनी शक्तियों के कारण मात्र अलंकारिक स्थिति का है।

इस प्रकार गहन विचार विमर्श के पश्चात् प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 131 के लिये श्री बृजेश्वर प्रसाद द्वारा प्रेषित संशोधन को संविधान सभा ने मई 1949 में देश की एकता, स्थिरता एवं शान्ति बनाये रखने के हितार्थ स्वीकार कर लिया। विभाजन के पश्चात् उत्पन्न दुखद घटनायें यथा कश्मीर युद्ध, पाकिस्तान से शरणार्थियों का आगमन, पड़ोसी राज्यों के पूर्व शासकों की अलगाववादी प्रवृत्तियों, तेलंगाना आन्दोलन आदि ने संविधान निर्माताओं को यह महसूस करने के लिये बाध्य किया कि आने वाले समय में देश की एकता बनाये रखने के लिये शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है। उन्होंने इसलिये राज्यपाल की नियुक्ति के लिये कनाडा का माडल लिया। इसके अतिरिक्त संविधान निर्माता राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यपाल के माध्यम से संघीय सरकार व संघ की इकाईयों की सरकार के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध भी चाहते थे।

बाद में अनुच्छेद 131, (प्रारूप संविधान का) वर्तमान संविधान का अनुच्छेद 155 बना जो इस प्रकार है.—''राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा।''

प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार 'राज्यपाल को संविधान के उल्लंघन करने पर महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।' महाभियोग की प्रक्रिया का प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 137 में वर्णन किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यपाल के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव विधानसभा

---

1. सी०ए०डी० पूर्वोधृत - पृष्ठ 455-456

में लाया जा सकता है परन्तु ऐसे प्रस्ताव को सदन की कुल सदस्य संख्या के 2/3 सदस्यों का समर्थन प्राप्त होना आवश्यक है। इस प्रकार से महाभियोग प्रस्तावित होने पर सदन का स्पीकर इसकी सूचना राज्य परिषद के अध्यक्ष को देगा और तब राज्यपरिषद इन आरोपों की जाँच हेतु एक समिति गठित करेगा, जिसमें राज्य परिषद के सदस्य न हों। ऐसी जाँच के समय राज्यपाल को स्वंय उपस्थित होने या अपने प्रतिनिधि को भेजने का अधिकार होगा। जाँच के परिणाम स्वरूप राज्यपरिषद् यदि अपनी समस्त संख्या के 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि राज्यपाल पर लगाये गये आरोप सत्य हैं तो जिस दिन यह सूचना विधान सभा अध्यक्ष प्राप्त करेगा, उसी दिन से राज्यपाल अपने पद से हट जायेगा। श्री अम्बेडकर द्वारा इस सम्बन्ध में प्रेषित संशोधन द्वारा यह निर्धारित किया गया कि :–[1]

(1) राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपना पद ग्रहण करेंगे।

(2) राज्यपाल राष्ट्रपति को सम्बोधित पत्र द्वारा अपना त्याग–पत्र दे सकेंगे।

श्री के० टी० शाह का विचार था राष्ट्रपति जो कि राष्ट्रीय सत्ता है न कि स्थानीय और जो प्रान्त से बहुत दूर है, उनकी दया व प्रसाद पर्यन्तता पर राज्यपाल को पूर्णतया नहीं छोड़ देना चाहिए। शाह का कहना था कि जब तक राज्यपाल अपने मंत्रियों की सलाह से कार्य करता है, तब तक उसे उसके कार्यकाल के मध्य में हटाना नहीं चाहिए।[2] शाह ने एक संशोधन प्रस्तावित किया कि राज्यपाल को न केवल संविधान के उल्लंघन के आधार पर वरन् अन्य आधारों पर भी जैसे-संघ की एकता व सुरक्षा के विरूद्ध कोई कार्य करने पर, घूस या भ्रष्टाचार या पूर्ण रूप से प्रमाणित शारीरिक व मानसिक अक्षमता के आधार पर भी उसकेपद से हटाया जा सकता है।[3] श्री सिब्बन लाल सक्सेना ने यह आशंका व्यक्त की कि यदि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपना पद ग्रहण करेगा तो यह राज्यपाल की स्वतंत्रता को पूर्णतया समाप्त कर देगा। वह पूर्णरूप से राष्ट्रपति या दूसरे शब्दों में प्रधानमंत्री और केन्द्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा सृजित होगा। इसका केवल यह अर्थ होगा कि अपने पद पर बने रहने के लिए वह राष्ट्रपनि की

---

1. कान्स्टीट्यून्ट असेम्बली डिबेट - भाग- VIII पृष्ठ - 470
2. सी०ए०डी० वाल्यूम VIII पृष्ठ - 471
3. एच0 ए0 गनी- गबर्नर इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन पृष्ठ 32 पर उद्धृत

ओर देखेगा और उसके अधीनस्थ हो जायेगा। ऐसे राज्यपाल की कोई स्वतंत्रता नही होगी और सबसे बुरी बात होगी कि केन्द्र उस व्यक्ति के माध्यम से कुछ गलत कार्य करवाने का प्रयत्न करेगा।[1]

संविधान सभा ने प्रान्तीय संविधान समिति की राज्यपाल के अधिकारों सम्बन्धी रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए खण्ड 15 में संशोधन प्रस्तावित किया। यह खण्ड संविधान सभा में अत्यधिक विवाद का कारण बना। सरदार पटेल ने खण्ड की विवादस्पद प्रकृति को स्वीकारा और कहा कि इस खण्ड पर सभा सावधानी पूर्वक विचार करें, क्योंकि एक तरफ यह मंत्रिपरिषद के अधिकारों का अतिक्रमण करता है, अपने विवेकाधीन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए उसे नियंत्रण का अकिधार दिया गया है और यह अनुमान लगाना कठिन है कि मंत्रि परिषद् कैसे कार्य करेगी। दूसरी तरफ देश में विद्यमान परिस्थितियों को देखते हुए यह मानना है कि कठिन परिस्थितियों का सामना करने के लिए कुछ विशेष प्रावधान बनाये जाने चाहिए।[2] श्री हृदय नाथ कुंजरू, बी0 एम0 गुप्ते और के0 एम0 मुंशी ने खण्ड 15 में कुछ संशोधन प्रस्तावित किए। कुंजरू का सुझाव था कि यदि राज्यपाल सन्तुष्ट हो जाय कि राज्य या उसके किसी भाग की शांति व सुरक्षा को गम्भीर खतरा है तो वह अपने विवेक से भारत के राष्ट्रपति को समुचित कार्यवाही करने के लिए रिर्पोट भेज सकता है।[3] श्री गुप्ते द्वारा प्रस्तुत संशोधन प्रस्ताव के अनुसार यदि अपने विशेष उत्तरदायित्व के निर्वहन में राज्यपाल को यह लगे, कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है ज़ब तत्काल कार्यवाही करने की आवश्यकता है, तो वह एक उद्घोषणा द्वारा उच्च न्यायालय को छोड़कर प्रान्तीय संस्था या सत्ता में निहित समस्त या कोई शक्ति स्वयं ग्रहण कर लेगा। उद्घोषणा की सूचना भारत के राष्ट्रपति को दी जायेगी और राष्ट्रपति अपनी आपात शक्तियों के अन्तर्गत, जो कार्यवाही उचित समझे करेगा।[4] श्री गुप्ते का मानना था कि यदि शांति को वास्तव में खतरा है केवल राष्ट्रपति को रिपोर्ट देने से कोई लाभ न होगा। यदि राज्यपाल को सफलतापूर्वक अपने उत्तरदायित्व को निभाना है तो उसे तुरन्त कार्यवाही करनी चाहिए और इस उद्देश्य के लिए उसके पास

---

1. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम-8 पृष्ठ 473
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम-4,पृष्ठ- 707
3. सी0 ए0-डी0 पृष्ठ - 708
4. सी0 ए0 डी0 पूर्वोधृत पृष्ठ 708

आवश्यक शक्तियां होनी चाहिए। श्री मुन्शी का विचार था कि यदि राज्यपाल को स्वविवेक से यह सन्तुष्टि हो जाये कि राज्य में गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गयी है, जिससे प्रान्त की शन्ति व स्थिरता को खतरा है और मंत्रियों की सलाह पर प्रान्त की सरकार चलाना सम्भव नही है, तब वह उद्घोषणा के द्वारा प्रान्त सरकार के समस्त या कोई कार्य स्वयं ग्रहण कर सकता है। राज्यपाल को उच्च न्यायालय में निहित और क्रियान्वित की जाने वाली किसी भी शक्ति को ग्रहण करने का अधिकार न होगा। उद्घोषणा की सूचना अविलम्ब राष्ट्रपति को दी जायेगी और फिर राष्ट्रपति अपनी आपात शक्तियों के आधार पर जो कार्यवाही समुचित समझे, कर सकता है।[1]

कुंजरू का संशोधन मूल खण्ड की पुनरावृत्ति और स्पष्टीकरण करता है। मूलखण्ड और गुप्ते द्वारा प्रस्तावित संशोधन में दोनों में आपात स्थिति का सामना करने की अन्तिम सत्ता भारत के राष्ट्रपति में निहित थी। श्री गुप्ते के संशोधन और मूलखण्ड में अन्तर केवल यह था कि मूलखण्ड में आपात स्थिति में राज्यपाल को भारत के राष्ट्रपति को रिपोर्ट देनी थी, जबकि गुप्ता का सुझाव था कि यदि आवश्यक हो तो राज्यपाल तुरन्त कार्यवाही कर सकता है और तत्पश्चात् राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेज सकता है।[2] मुन्शी का संशोधन गुप्ते के संशोधन से भिन्न था। वास्तव में मुंशी का संशोधन गुप्ते के द्वारा प्रस्तुत संशोधन की भाषा में सुधार था। सारतत्व दोनों का समान था।

मुंशी के संशोधनों का कुंजरू व गोविन्द बल्लभ पंत जैसे राजनीतिज्ञों ने विरोध किया, क्योंकि यह राज्यों में मंत्रि मण्डलीय सरकार के विरूद्ध था।[3] कुंजरू का तर्क था कि मुंशी द्वारा प्रस्तुत संशोधन व्यवहार में भारत शासन अधिनियम 1935 की धारा 93 की प्रतिकृति है। उक्त अधिनियम भारतीयों को पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं देता है। मंत्री यद्यपि महत्वपूर्ण स्थिति रखते थे परन्तु वे अपने प्रान्तों की स्थिति के नियंत्रक नहीं थे। ब्रिटिश सरकार को भय था कि भारतीय मंत्री अपनी शक्तियों का प्रयोग गतिरोध पैदा करने और ब्रिटिश सत्ता को बनाये रखने में बाधा उत्पन्न करने के लिए करेंगे। इसलिये उन्होंने

---

1. सी0 ए0 डी0 पूर्वोधृत पृष्ठ- 709
2. सी0 ए0 डी पूर्वोधृत पृष्ठ - 763
3. सिवरंजन चैटर्जी, गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन पृष्ठ - 40

मंत्रियों, की सत्ता पर नियंत्रण लागू किया। ऐसा कोई कारण नहीं है कि हमारा संविधान उस अविश्वास पर आधारित हो जैसा कि भारत शासन अधिनियम में था। हमें अपने मंत्रियों पर विश्वास करना चाहिए और वे (राज्यपाल) प्रान्तीय सरकार की केन्द्रीय मूर्ति होने चाहिए। पंत ने कहा कि यदि प्रान्त की शान्ति व स्थिरता को खतरा है तो मंत्रियों को स्थिति सम्भालने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए।

यद्यपि पंत के तर्क में काफी बल था परन्तु संविधान सभा ने मुंशी के संशोधन को स्वीकार कर लिया जो प्रारूप समिति द्वारा अनुच्छेद 188 के रूप में परिषित हुआ।[1]

प्रान्तीय संविधान समिति के प्रावधान की मुख्य बात यह थी कि राज्यपाल सामान्यतया मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करेगा, क्योंकि ब्रिटिश संसदीय माडल या कैबिनेट व्यवस्था को प्रान्तीय संविधान के माडल में अपनाया गया था। हालाँकि कुछ मामलों में राज्यपाल को विवेकाधीन कार्य करने का अधिकार था। समिति द्वारा यह आशा व्यक्त की गयी थी कि राज्यपाल अपनी विवेकाधीन शक्तियों का गलत प्रयोग नहीं करेगा।[2]

प्रान्तीय संविधान समिति की सिफारिशों में श्री मुन्शी द्वारा किये गये सुधारों के आधार पर प्रारूप समिति ने राज्यपाल की शक्तियों व उसके मंत्रिपरिषद् के सम्बन्धों से सम्बन्धित प्रावधान किया। प्रारूप संविधान का अनुच्छेद 143 प्रान्तीय संविधान समिति की रिपोर्ट के खण्ड 9, 10 और 11 पर आधारित था और राज्यपाल को सामान्य रूप में विवेकाधीन अधिकार देता है। प्रारूप संविधान के अन्य छः अनुच्छेद राज्यपालों को स्पष्ट रूप से निम्न कार्यो को सम्पादित करने में विवेकाधीन निर्णय लेने का अधिकार प्रदान करते है :—[3]

(क) अपने मंत्रियों की नियुक्ति एवं पदच्यूति (अनु0 144 (6)),

(ख) विधायिका का अधिवेशन बुलाना और विधानसभा को भंग करना (अनु0 153 (3)),

---

1. प्रारूप संविधान का अनुच्छेउ 188 बाद में हटा दिया गया

2. सिबरंजन चैटजी- पूर्वोधृत - पृष्ठ - 41

3. सिबरंजन चैटजी- पूर्वोधृत पृष्ठ - 42

(ग) विधान सभा के पुर्नविचार के लिए विधेयक वापस करना (अनु० 175),

(घ) आपात स्थिति में अपने मंत्रियों को निष्प्रभावी करते हुए उद्घोषणा करना और कार्यपालिका कार्य स्वयं ग्रहण कर लेना। (अनु०188 (4)),

(ड.) प्रान्त के मुख्य लेखा परीक्षक की नियुक्ति करना (अनु0 210 (1)),

(च) राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों की नियुक्ति करना

(अनु0 285 (1) और (2))।

प्रारूप संविधान की छठी अनुसूची के पैरा 9 और 18 के द्वारा आसाम के राज्यपाल को कुछ जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन और खानों की रायल्टी के हिस्सों से सम्बन्धित विवादों के निर्धारण के लिए विवेकाधीन कार्य करने की शक्ति प्रदान की गयी थी।[1]

प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 143 द्वारा राज्यपाल को सामान्य अवधि में प्रदत्त विवेकाधीन शक्तियों की संविधान सभा में कटु आलोचना की गयी। प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 143 (अब 163) पर बहस करते समय एक दृष्टकोण यह था कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है। अनुच्छेद 143 के विषय में बोलते हुए श्री बृजेश्वर प्रसाद ने संविधान सभा में कहा कि,'' ''राज्यपाल मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य नहीं है। इसका केवल यह अर्थ है कि मंत्रियों को, राज्यपाल को सलाह देने का अधिकार है परन्तु राज्यपाल दी गयी सलाह को स्वीकृत या अस्वीकृत करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र है। प्रशासन के दूसरे क्षेत्रों में राज्यपाल अपने कार्यों को स्वविवेकानुसार कर सकता है। इस अधिकार क्षेत्र में मंत्रिपरिषद् को सलाह देने का कोई अधिकार नहीं है। वास्तव में यह राज्यपाल पर छोड़ दिया गया है कि वह इस क्षेत्र में मंत्रियों की सलाह ले।[2] राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों का विरोध करते हुए रोहनी कुमार चौधरी ने संविधान सभा ने कहा कि, 'यदि राज्यपाल को अपने स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति दी जाती है तो पृथ्वी पर

---

1. सिबरंजन चैटजी - पूर्वोधृत पृष्ठ - 42

2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 491-92

कोई शक्ति नहीं है जो उसे ऐसा करने से रोक सके। इसके अतिरिक्त जैसा कि अनुच्छेद कहता है, जब कभी भी राज्यपाल यह सोचे कि वह अपने स्वविवेक से कार्य कर रहा है, तो कहीं भी उससे प्रश्न नहीं किया जा सकता।'[1] श्री रोहिनी कुमार चौधरी ने एक कठिन प्रश्न उठाया कि, ''राज्यपाल द्वारा दो प्रकार के कार्य सम्पादित किये जाने हैं- एक मामले में उसे मंत्रियों की सलाह से कार्य करना है और दूसरे मामले में उसे स्वविवेक से कार्य करना है। जिन मामलों में राज्यपाल को स्वविवेक से कार्य करना है क्या मंत्रिपरिषद सलाह देने में सक्षम होगी।''[2] संविधान सभा में एक मजबूत लॉबी थी जो राज्यपाल के विवेकाधीन अधिकारों को बनाये रखने के पक्ष में थी। विवेकाधीन अधिकारों के समर्थन में बोलते हुए श्री महावीर त्यागी ने कहा कि, ''अन्तत: हमें देखना है कि केन्द्रीय नीति लागू हो सके। हमें राज्यों को आपस में जोड़े रखना है और राज्यपाल ऐजेन्ट है या वास्तव में वह संस्था है जो केन्द्रीय नीति पर बल देगी व रक्षा करेगी।''[3] राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों का जोरदार समर्थन करते हुये त्यागी ने कहा कि, ''राज्यपालों की विवेकाधीन शक्तियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रजातांत्रिक प्रवृतियाँ (Trends) एक जंगली पशु के समान हैं। प्रजातंत्र जनता व दलों की सनक (Whime) व कल्पनाओं (fancies) से चलता है। ऐसा कोई यंत्र होना चाहिए जो इस जंगली पशु को नियन्त्रण में कर सके। मैं प्रजातंत्र की निंदा नहीं कर रहा हूँ। प्रजातंत्र का अपना मार्ग होना चाहिए। परन्तु इसे दुर्व्यवस्था में पतित होने के लिये नहीं छोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार अपनी नीतियों में पूर्ण रूपसे नियमित नहीं हो सकेंगी। राज्यपाल भी बदल सकते हैं परन्तु केन्द्र द्वारा राज्यपालों को दी गयी नीति व निर्देश व्यावहारिक रूप में अपरिवर्तित रहेंगे। राज्यपालों को प्रदत्त अधिक शक्तियाँ नियंत्रण को सतर्क बनायेगा। राज्यपाल को एक तरफ केन्द्रीय नीतियों का व दूसरी तरफ संविधान का अभिरक्षक होना चाहिए। इसलिए उसकी शक्तियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। अम्बेडकर का कहना था कि, ''राज्यपाल को विवेकाधीन शक्तियाँ प्रदत्त करना किसी भी प्रकार से न

---

1. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 498-499
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 499, यू० एन० गुप्ता - इण्डियन फेडरलिज्म एण्ड यूनिटी आफ नेशन- पृष्ठ 120
3. सी0 ए0 डी0 पृष्ठ - 494
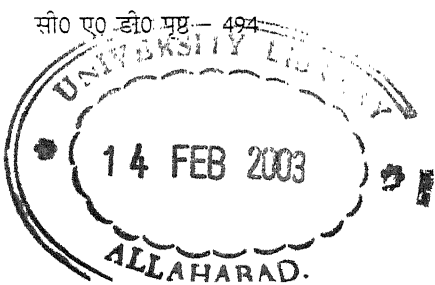
तो उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध है और न किसी अर्थ में अस्वीकृति।''[1] श्री कामथ के अनुसार इस अनुच्छेद (अनु० 143) को पढ़कर ऐसा लगा कि भारत शासन अधिनियम 1935 का पूर्ण मनन किये बिना आँख मूँदकर नकल कर ली गयी है। श्री कामथ का तर्क था कि, ''मनोनीत राज्यपाल स्वीकार करने के पश्चात् राज्यपाल को विवेकाधीन शक्तियाँ प्रदान करना गलत होगा।''[2] आपात कारणों को छोड़कर संवैधानिक सरकार के सिद्धान्तों से अलग होने का कोई समर्थन नहीं करना चाहिए। कामथ का श्री कुंजरू व श्री सक्सेना ने समर्थन किया। श्री कुंजरू ने कहा कि अनुच्छेद 143 'पुरानी विधि का अप्रिय अनुस्मारक है।[3] श्री सक्सेना का मत था कि यह अनुच्छेद 'अपमानित भूत का अनुस्मारक है।[4] उन्होंनें आशंका व्यक्त की कि यदि अनुच्छेद बनाये रखा गया तो कुछ राज्यपाल पहले के राज्यपालों की नकल करने का प्रयत्न करेंगे और उन्हें पूर्व के प्रमाण के रूप में उद्धृत करेंगे। श्री सक्सेना के अनुसार राज्यपालों की विवेकाधीन शक्तियों का अब कोई स्थान नहीं है।[5] हालांकि प्रारूप समिति के सदस्यों ने बार-बार सदन को यह आश्वासन दिया कि राज्यपाल को सामान्य विवेकाधीन शक्ति नहीं दी जायेगी और अनु० 143 का क्षेत्र केवल उन कार्यों तक सीमित रहेगा जो संविधान के अन्य अनुच्छेदों में विशेष रूप से राज्यपाल को स्वविवेकाधीन कार्य करने के लिए कहता है। श्री अल्लादि कृष्णा स्वामी अय्यर ने कहा, 'राज्यपाल उन मामलों को छोड़कर जिनमें उसे सुनिश्चित या विशेष रूप से स्वविवेकाधीन कार्य करने का अधिकार दिया गया है।''[6] इसी तरह टी0 टी0 कृष्णानामचारी ने कहा, '' राज्यपाल को सामान्यत: मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करना होता है सिवाय जहां पर उनको संविधान के अधिनियमों में स्वविवेक से कार्य करने का विशेष अधिकार प्रदत्त है।''[7] डा0 अम्बेडकर ने शब्द 'जिन

---

1. सी0 ए0 डी0 पृष्ठ - 501
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 489-90
3. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 493
4. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 494
5. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 494
6. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 491
7. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 494

बातों में उसके द्वारा या संविधान के अधीन' का अर्थ यह नहीं है कि राज्यपाल संविधान प्रदत्त इन स्वविवेकाधीन अधिकारों को जब कभी भी वह चाहे, मंत्रिपरिषद की इच्छा या सलाह के विरूद्ध करेगा।[1] उन्होंने कहा, अनुच्छेद 143 को अन्य अनुच्छेदों के संदर्भ में पढ़ना होगा, जिनमें राज्यपालों के विशेष रूप से अधिकार आरक्षित है। यह सामान्य धारा नहीं है जो कि राज्यपाल को यह अधिकार प्रदान करे कि किसी भी मामले में जहां वह चाहे, मंत्रिपरिषद् की सलाह के विरूद्ध कार्य करें।[2] प्रारूप संविधान का अनुच्छेद 143 अन्ततः संविधान सभा में स्वीकार होने के पश्चात् वर्तमान संविधान में अनुच्छेद 163 के रूप में सम्मिलित है।

संविधान सभा के बहुत से सदस्यों ने यह आशंका व्यक्त की, कि भारत के राष्ट्रपति अपने संवैधानिक अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता है। ग्रान विल ऑस्टिन के अनुसार यह भय भूतकाल में उपनिवेशवाद के अनुभवों के आधार पर उभरा। [3] इसलिए संविधान सभा के सदस्यों ने जोर देकर आश्वासन चाहा कि भारत का राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह पर ही कार्य करेगा। इसलिए प्रारूप संविधान समिति ने राष्ट्रपति के अधिकार को सीमित करने के लिए संविधान में लिखित निर्देश की अनुशंसा की। उसी प्रकार से प्रारूप संविधान की चौथी अनुसूची में राज्यपाल के स्वविवेक अधिकारों को सीमित करने के लिए निर्देशो को समाहित किया गया। इस अनुसूची के अनुसार राज्यपाल मुख्य मंत्री के परामर्श से अन्य मंत्रियों को नियुक्त करेगा। ऐसा करते समय राज्यपाल को मंत्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्वान्त को ध्यान में रखकर इसको बढ़ावा देना होगा। चौथी अनुसूची में यह भी निर्देश समाहित है कि राज्यपाल अपने दायित्वों का निर्वाह करते समय मंत्रिपरिषद् की सलाह लेंगे।

चौथी अनुसूची को भी प्रारूप संविधान से निकाल दिया गया। इस संशोधन को लाते हुए कृष्णामचारी ने कहा कि लिखित दिशा निर्देश पूरी तरह से अनावश्यक है। इस विषय को पूर्णरूप से

---

1. सिबरंजन चैटर्जी- पूर्वोधृत - पृष्ठ - 4
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 501
3. सिबरंजन चैटर्जी- पूर्वोधृत- पृष्ठ, 43, पर उद्घृत

परम्परा पर छोड़ देना चाहिए, बजाय इसे लिखित रूप में संविधान की चौथी अनुसूची में रखने के।[1] डा0 अम्बेडकर ने भी कहा कि लिखित निर्देश अनावश्यक हैं और कोई महत्वपूर्ण विषय हल नहीं करते। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्न तर्क दिये:-[2]

क- लिखित दिशा-निर्देस मूल रूप से ब्रिटिश संविधान में उपनिवेशीय शासकों को उनके स्वविवेक अधिकारों के कार्यान्वयन से सम्बन्धित थे। ऐसे राज्यपाल या वायसराय जिनके लिए यह लिखित दिशा निर्देश होते थे, उनके ऊपर राज्य सचिव का अधिकार था। यदि किसी विषय पर गर्वनर या वायसराय इसका पालन नहीं करता था तो उसको लिखित दिशा निर्देशो के उल्लंधन के लिए हटाया जा सकता था।

(ख) वर्तमान संविधान में राज्यपाल के पास शायद ही कोई स्वविवेक अधिकार है उनको मंत्रिपरिषद के गठन में मुख्यमंत्री की सलाह लेनी ही है। उन्हें अपने शासकीय व विधायी कार्यों के निर्वाहन में भी मन्त्रिपरिषद की सलाह लेनी ही है। डा० अम्बेडकर ने कहा ,''यह देखते हुए कि राज्यपाल के पास कोई स्व-विवेक अधिकार नहीं है व संविधान में ऐसे कोई कार्यकारी नहीं है जो इसे लागू करें तो ऐसे निर्देश देने की आवश्यकता नहीं है''।

संविधान सभा ने प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 144 पर 1 जून 1949 को विचार विमर्श किया। अनु० 144(1) कहता है कि , ''राज्यपाल अपने मंत्रियों की नियुक्ति करेगा जो उसके प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेगे।'' इसी अनुच्छेद की धारा (6) कहती है, ''राज्यपाल, मंत्रियों की नियुक्ति या उसकी पदच्युति अपने स्वविवेक से करेंगे। अनु० 144(1) का विश्लेषण करते हुए श्री टी०डी० भार्गव ने संविधान सभा में कहा, 'राज्यपाल मुख्यमंत्री या मन्त्रिपरिसद गठित करने के लिए ऐसे दल को निमंत्रित कर सकता है, जिसका सदन में बहुमत नहीं है। इस पर कोई रोक नहीं हैं। अत: उन्होंने संविधान में ऐसा प्रावधान करने की सलाह दी कि राज्यपाल सदन में सबसे बड़े दल के नेता को ही सरकार बनाने को निमंत्रित करें। शब्द ''प्रसाद पर्यन्त'' की विभिन्न प्रकार से विवेचना की गई है ऐसे

---

1. सिबरंजन चैटजी- पूर्वोधृत- पृष्ठ- 44

2. चटर्जी - पूर्वोधृत, पृष्ठ, 44-45

में लोकमत तैयार किया जाय कि राज्यपाल, मंत्रि परिषद् को तभी बरख़ास्त कर सकता है जब वह सदन में बहुमत खो चुका हो। उन्होंने कहा, ''मेरी विनम्र प्रार्थना है कि जब तक मंत्रिपरिषद सदन का विश्वास न खो दे उसे बरखास्त न किया जाय।[1]'' इस पर एच० वी० पाटस्कर ने कहा कि इतना ही रखा जाय कि ''मन्त्रिपरिषद का गठन राज्यपाल करेंगे।'' इसी के साथ ही पाटस्कर ने यह भी कहा कि ''मंत्रिपरिषद राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद पर रहेगा' अवांछनीय है। यह अनुचित ही नहीं बल्कि मंत्रिपरिषद तथा मुख्य मंत्री के पद की गरिमा के विरुद्ध है। उन्होंने कहा कि मंत्री तभी बदले जायें जब वह सदन में बहुमत का विश्वास खो दें। उन्होने प्रार्थना की कि अनु० 144 से इन भाग को संविधान से अलग कर दिया जाय।[2]

बहस का उत्तर देते हुए डा० अम्बेडकर ने कहा कि संविधान की मंशा यही है कि मंत्रिपरिषद् सदन में बहुमत रखने तक पदारुढ़ रहेगी। संविधान इसी सिद्धान्त पर काम करेगा। इस सम्बन्ध में स्पष्टतया इसलिए कुछ नहीं कहा गया है, क्योंकि संसदीय प्रजातंत्र के किसी संविधान में इस सम्वन्ध में स्पष्टरूप से कुछ नहीं कहा गया है। 'प्रसाद पर्यन्त'' का अर्थ ही यह है कि मंत्रिपरिषद तभी तक पदारूढ़ रहेगी जब तक उसे सदन का बहुमत प्राप्त है।[3]

अनुच्छेद 144 की धारा (1) के सम्बन्ध में संशोधन किया गया कि, 'मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेंगे एवं उनके मंत्रिपरिषद का गठन मुख्यमंत्री की सलाह पर होगा और यह मंत्रिपरिषद, राज्यपाल के 'प्रसादपर्यन्त' पदासीन रहेगी। इसमें एक नयी धारा (1A) और जोड़ी गयी जिसमें यह कहा गया कि 'मंत्रीपरिषद' सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।[4] अनुच्छेद की धारा (1) एवं (1ए) (जिसको संविधान सभा ने स्वीकार किया) को वर्तमान संविधान के अनुच्छेद 164 में धारा (1) तथा (2) पर रखा गया है तथा अनुच्छेद 144 की धारा (6) को समाप्त कर दिया

---

1. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 513
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ -515
3. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 520
4. सी0 ए0 डी0 पूर्वोधृत पृष्ठ - 521

गया। जब बृजेश्वर प्रसाद ने पूछा क्यों तो डा० अम्बेडकर ने उत्तर दिया, ''कयोंकि हम कुछ अनुच्छेदों में उल्लिखित अधिकारों से अधिक स्वविवेकाधीन अधिकार राज्यपालों को नहीं देना चाहते हैं।[1]

प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 153(2) में राज्यपाल के निम्नलिखित अधिकार निहित हैं :— (1) एक या दोनों सदनों की बैठक एक नियत स्थान तथा तिथि पर बुलाये। (2) एक या दोनों सदनों का सत्रावासन करे। (3) विधान सभा को भंग करे।

इसी अनुच्छेद की धारा (3) के अनुसार राज्यपाल अपने स्वविवेकाधीन अधिकार का प्रयोग करते हुए एक सदन या दोनों सदनों की बैठक बुलाये या विधान सभा को भंग करे। जब संविधान सभा में इस पर चर्चा हुई तो श्री कामथ ने कहा - ''हम उसे (राज्यपाल को) विधान सभा भंग करने की शक्ति प्रदान कर रहे हैं, इसका उल्लेख किए बिना कि उसे इस सम्बन्ध में मंत्रिपरिषद की सलाह या निर्देशन में कार्य करना चाहिए। मैं यह कहने के लिए विवश हूँ कि यह जो अधिकार हम राज्यपालों को देने जा रहे हैं, वह नयी व्यवस्था जो हम बनाने जा रहे हैं, उसके विरुद्ध है, जब तक कि हम उन्हें मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य न कर दें।[2] श्री मोहम्मद ताहिर ने राय व्यक्त की कि संविधान में कुछ शर्तों एवं परिस्थितियों का समावेश करना चाहिए, जिनके आधार पर सदन को भंग किया जा सके। उनका कहना था कि यदि हमने कोई शर्त नही रखी तो परेशानियाँ उत्पन्न होंगी। उदाहरण के लिए किसी प्रान्त में ऐसे दल की सरकार है जिसके विचार राज्यपाल से मेल नहीं खाते, ऐसे में सम्भव है कि राज्यपाल कुछ कारण ढूंढकर सदन को भंग कर के राज्य में नया चुनाव करा दे। सिर्फ इस आधार पर कि राज्यपाल के विचार बहुमत वाले शासक दल से मेल नहीं खाते, सदन भंग नहीं होना चाहिए।[3] डा० अम्बेडकर ने भी कहा कि अनुच्छेद 153 की धारा (3) संवैधानिक राज्यपाल की कल्पना के विपरीत है।[4] अन्ततः अनुच्छेद 153 की धारा (3) को डा० अम्बेडकर द्वारा लाये गये

---

1 सी0 ए0 डी0 पूर्वोधृत पृष्ठ - 507

2. सी0 ए0 डी0 पूर्वोधृत पृष्ठ - 556

3. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 555

4. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 555

संशोधन प्रस्ताव के द्वारा हटा दिया गया। इस अवसर पर श्री कामथ ने कहा "डा० ण्बेडकर द्वारा लाये गये संशोधन प्रस्ताव के अगर स्वीकार कर लिया गया तो, राज्यपाल को प्रदत्त स्वविवेकाधीन अधिकार समाप्त हो जायेगा।[1] अन्तत: अनुच्छेद 153 जो संविधान सभा द्वारा स्वीकृत किया गया वर्तमान संविधान में अनुच्छेद 174 के रूप में विद्यमान है।

30 जुलाई, 1949 को डा० अम्बेडकर ने अनुच्छेद 175 के उस भाग पर संशोधन प्रस्ताव रखा जिसके द्वारा राज्यपाल को स्वविवेक के द्वारा किसी विधेयक को सदन में वापस भेजने का अधिकार था। उन्होंने कहा 'ऐसा महसूस होता है कि एक उत्तरदायी सरकार में राज्यपाल को स्वविवेक से कार्य करने का स्थान नहीं है।'[2] इसलिए संशोधन के द्वारा शब्द स्वविवेक को समाप्त करने का प्रस्ताव किया। इसी तरह यह अनुभव किया गया कि विधेयक वापस करने का अधिकार धन विधेयक तक विस्तृत नहीं है और परिणाम स्वरूप 'यदि धन विधेयक नहीं है' शब्दों को जोड़ा गया।[3] श्री बृजेश्वर प्रसाद इस संशोधन से सहमत नहीं थे । वे राज्यपाल को निम्नलिखित कारणों से स्वविवेक अधिकार देने के पक्ष में थे :-

(क) राज्यपालों के हाथों में यह अधिकार सदन में विघटनकारी प्रवृत्ति रोकेगा।

(ख) संसदीय प्रणाली के नये प्रयोग को व्यवस्थित करना है।

(ग) चूंकि राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि हैं अतएव उसके विचार या तो राज्य के विधान मण्डल पर या राज्य की अन्य सत्ता पर प्रभावी होने चाहिए।[4]

डा० अम्बेडकर के संशोधन प्रस्ताव का समर्थन करते हुए श्री कृष्णामचारी ने कहा 'राज्यपाल के पास अब कोई स्वविवेक अधिकार नहीं है। राज्यपाल यदि किसी विधेयक को वापस भेजता है, तो

---

1. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ -556
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम IX पृष्ठ - 41
3. के० मकरन्दन - दि सेन्टर स्टेट रिलेशन्स पृष्ठ - 118
4. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम IX पृष्ठ - 60-61

वह ऐसा मंत्रिपरिषद की सलाह पर ही कर सकता है।"[1] डा० अम्बेडकर का संशोधन प्रस्ताव संविधान सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया। प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 175 को वर्तमान संविधान में अनुच्छेद 200 के रूप में स्थान प्राप्त है।

प्रारूप संविधान का अनुच्छेद 176 राज्य विधायिका द्वारा पस किये गये विधेयक को राष्ट्रपति के पुनर्विचार के लिए आरक्षित करता है और राष्ट्रपति विधेयक को वीटो भी कर सकता है। यह अनुच्छेद इसलिए अधिक रूचिकर है कि संविधान सभा में प्रस्तावित करते ही यह बिना किसी वाद-विवाद के 1 अगस्त, 1949 को पास कर दिया गया।[2]

प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 188 जिसके द्वारा राज्यपाल एक घोषणा के द्वारा राज्य के सभी अधिकार अपने पास रख सकता है, को संविधान से निकाल दिया गया है। इस अनुच्छेद के द्वारा राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त था कि यदि राज्यपाल को सन्तुष्टि हो जाय कि राज्य में आपात स्थिति उत्पन्न हो गयी और राज्य की शांति व सुरक्षा को खतरा है तथा राज्य में संविधान के अनुसार सरकार चलाना सम्भव नहीं है, तो वह एक उद्घोषणा के द्वारा दो सप्ताह के लिये राज्य प्रशासन अपने पास रख सकता था। इस उद्घोषणा की सूचना राष्ट्रपति को देना आवश्यक था और राष्ट्रपति अनुच्छेद 278 में प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करते हुए इसे रद्द कर सकते थे या फिर कोई समुचित कार्यवाही कर सकते थे। अम्बेडकर ने कहा, 'यह प्रावधान अनावश्यक है और इसकी आवश्यकता नहीं है।'[3] अनुच्छेद 278 जिसमें राज्य में संवैधानिक व्यवस्था विफल होने का विवरण है, उसको बाद में संशोधन द्वारा दो अनुच्छेदों 278 और 278 (A) में परिवर्तित कर दिया गया। नवीन अनुच्छेद 278 व्यवस्था करता है कि यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा यह ज्ञात हो जाने पर कि राज्य की सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुरूप नहीं चलायी जा सकती है, तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा उसि राज्य सरकार के समस्त अथवा कोई कार्य स्वयं में ग्रहण कर सकता है अथवा राज्यपाल को प्रदान कर सकता

---

1. सी० ए० डी० वाल्यूम VIII पृष्ठ - 61
2. के० सी० मरकन्दन - पूर्वोधृत - पृष्ठ 119
3. सी० ए० डी० वाल्यूम- IX - पृष्ठ 133

है। उद्घोषणा द्वारा राज्य विधान मण्डल की समस्त शक्तियों को संसद के अधीन कर सकता है। इस दौरान ऐसे उपबंध जो उसे कार्यवाही के संचालन के लिए आवश्यक प्रतीत हो पूर्णत: या अंशत: उन्हें निलम्बित कर सकता है।[1] लेकिन यह अनुच्छेद राष्ट्रपति को उस अवधि के दौरान उच्च-न्यायालय की शक्तियों में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं देता था। अनुच्छेद 278(A) के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह राज्य की विधि निर्माण की शक्ति राष्ट्रपति को या उसके द्वारा नामित किसी सत्ता को प्रदान कर सकती है। अन्तत: अनुच्छेद 278 और 278(A) (जिसे संविधान सभा ने स्वीकृत किया) को वर्तमान संविधान में अनुच्छेद 356 व 357 का स्थान प्राप्त हुआ।

इस प्रकार राज्यपाल को इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार नहीं है कि राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग हो गयी है या राज्य में संविधान के अनुसार शासन चलाना सम्भव नहीं है। उसका कर्त्तव्य केवल इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट देना है। राष्ट्रपति को राज्यपाल द्वारा प्रेषित रिपोर्ट को स्वीकार या अस्वीकार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, क्योंकि राष्ट्रपति को इस बात पर सन्तुष्ट होना है कि राज्य में संवैधानिक कार्यप्रणाली पूर्णत: भंग हो गयी है। राष्ट्रपति की सन्तुष्टि राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने की पूर्व शर्त है। राष्ट्रपति की सन्तुष्टि के लिए राज्यपाल की रिपोर्ट ही आवश्यक नहीं है। राष्ट्रपति, राज्यपाल की रिपोर्ट के बिना भी सन्तुष्ट हो सकते हैं। शब्द 'अन्यथा' इस सम्बन्ध में बड़ा प्रासंगिक है। डा० अम्बेडकर ने कहा कि राष्ट्रपति को किसी राज्य में कार्यवाही के लिए केवल राज्यपाल की रिपोर्ट पर सीमित करना उचित नहीं हैं। यह सम्भव है कि राज्यपाल कोई रिपोर्ट ही न भेजे। लेकिन यदि राष्ट्रपति को राज्य की वस्तुस्थिति का ज्ञान है और वह यह समझते हैं कि उनको इस सम्बन्ध में पहल करना अति आवश्यक है तो उनको यह स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए कि वह राज्यपाल की रिपोर्ट के बिना कार्यवाही कर सकें।[2]

प्रारूप संविधान का अनुच्छेद 210 (1) राज्यपाल को यह स्वविवेक अधिकार प्रदान करता है कि वह राज्य का महालेखाकार नियुक्त करे। यह अनुच्छेद संविधान से पूर्णतया हटा दिया गया है।

---

1. सी०ए०डी० वाल्यूम - IX - पृष्ठ 134
2. सी0 ए0 डी0 पृष्ठ - 134

प्रारूप संविधान के अनु० 285 से स्वविवेक शब्द निकाल कर राज्यपाल को राज्य में लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष तथा सदस्य नियुक्त करने का स्वविवेक अधिकार वापस ले लिया गया। अनुच्छेद 285 जिसे संविधान सभा ने स्वीकार किया वर्तमान संविधान में अनुच्छेद 316 पर रखा गया है।

संविधान के प्रणेता इस प्रकार से राज्यपाल को मंत्रिपरिषद या राज्य की विधायिका के सम्बन्ध में कोई भी स्वविवेक अधिकार देने के विरुद्ध थे। भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत गवर्नर कुछ विशेष स्वविवेक अधिकारों का प्रयोग करते थे जिससे मंत्रिपरिषदीय उत्तरदायित्व में कमी आयी। इस अधिनियम के अन्तर्गत गर्वनर मंत्रिपरिषदीय सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के स्थान पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का हितवर्धन करते थे। संविधान सभा के अधिकांश सदस्य राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े थे और उन्हें उस समय के गर्वनरों के कार्यकलापों का दुःखद अनुभव प्राप्त था। इसलिए संविधान निर्माता अति सावधान थे और वे चाहते थे कि बदले हुए राजनीतिक परिवेश में राज्यपाल मंत्रिपरिषद की राय को अनदेखी न करें और एक उत्तरदायी सरकार के आधार को कमजोर न करें। डा० अम्बेडकर ने कहा कि राज्यपाल के अधिकार सीमित एवं नाममात्र के हैं और उसकी स्थिति अलंकारिक है। उन्होंने संविधान सभा में कहा - ''राज्यपाल को वैयक्तिक निर्णय पर या स्वविवेकाधीन कार्य करने का कोई अधिकार नहीं है। नये संविधान के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें सभी विषयों पर मंत्रिपरिषद की सलाह माननी है। उन्हें राज्य के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप का भी अधिकार नहीं है।[1] छठीं अनुसूची के पैराग्राफ 9 तथा 18 में सिर्फ असम के राज्यपाल को कुछ विशेष विषयों पर स्वविवेक कार्य करने का अधिकार दिया गया।

डा० अम्बेडकर ने ध्यान आकर्षित किया कि कुछ मुख्य विषयों पर राज्यपाल के स्वविवेक अधिकार को बनाये रखना, जिम्मेदार सरकार की अवधारणा से असंगत नहीं है। उन्होंने कहा, ''मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि राज्यपाल को स्वविवेक अधिकार प्रदान करने या बनाये रखने में उत्तरदायी सरकार को नकारना या कमजोर करना नहीं है। राज्यपाल के स्वविवेक अधिकार का संविधान में समावेश ऐसा लगता है कि केन्द्रीय सरकार के राज्य से सम्बन्धों की आवशयकता के लिये

---

1. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII 1949 पृष्ठ - 468-467

किया गया है। श्री महावीर त्यागी ने कहा कि, हमें सभी राज्यों को केन्द्र के साथ सम्बद्ध रखना है। राजयपाल राज्य में केन्द्र की नीतियों की सुरक्षा के लिए माध्यम है। राज्यपाल यह सुनिश्चित करेगा कि केन्द्र की नीतियाँ निष्ठापूर्वक कार्यान्वित होती है।[1] महावीर त्यागी से सहमत होते हुए डा० अम्बेडकर ने कहा 'चूंकि राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन कार्य करेंगी और इसे सुनिश्चित करने के लिए राज्यपाल कुछ विषय अपने पास आरक्षित रखेंगे, जिसके द्वारा वह राष्ट्रपति को यह अवसर दें सकें कि वह राज्य सरकारों को केन्द्र संविधान के अधीन कार्य करने का निर्देश दें।[2]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राज्यपाल का पद स्वतंत्र भारत में एक संवैधानिक आवश्यकता है। स्वतंत्र भारत के संवैधानिक नींव पर भारत एक संघात्मक देश है, इसलिए राज्यपाल को कोई भी अधिकार देने में जो राज्य की प्रजातांत्रिक सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न करें, संविधान प्रणेता तैयार नहीं थे। संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल को केन्द्र व राज्यों के बीच मध्यस्थ के रूप में रखा। वह केन्द्र व राज्य के बीच सम्पर्क सूत्र है। संविधान सभा में गहन वाद-विवाद के पश्चात् यहस्पष्ट होता है कि राज्यपाल का पद एक शक्तिहीन शासक तथा राज्याधिराज का सम्मिश्रण है।

संवैधानिक प्रावधान :

संविधान निर्माताओं ने केन्द्र की तरह राज्यों में प्रशासन का स्वरूप संसदात्मक ही रखा। संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का एक संवैधानिक प्रधान होता है, जिसे मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करना होता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के अन्तर्गत राज्यपाल के पद का उपबन्ध किया गया है जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होगा। दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यापाल हो सकता है।[3]

संविधान के अनुच्छेद 154(1) के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्य पाल में निहित की गयी है और वह इसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।

---

1. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 494-495
2. सी0 ए0 डी0 वाल्यूम VIII पृष्ठ - 502
3. संविधान संशोधन (सातवां) अधिनियम 1956 द्वारा यह व्यवस्था की गयी

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा की जाती है।[1] अनुच्छेद 156 (1) के अनुसार राज्यपाल , राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेगा। सामान्य रूप से राज्यपाल का कार्यकाल पॉच वर्ष का होता है, परन्तु राष्ट्रपति किसी भी समय राज्यपाल को उसके पद से पदच्युत कर सकता है। इस मामले में राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्री मण्डल के परामर्श के अनुसार कार्य करता है। राज्यपाल यदि चाहे तो लिखित रूप से अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को प्रेषित कर सकता है, परन्तु संविधान में यह भी प्रावधान है कि राज्यपाल अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण नहीं कर लेता है।

अनुच्छेद 157 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को राज्यपाल पद पर नियुक्त होने के लिए निम्न अहर्ताएं रखनी चाहिए :—

(1) वह भारत का नागरिक हो,

(2) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका है।

संविधान के अनुच्छेद 158 द्वारा राज्यपाल पद के लिये निम्न शर्ते निर्धारित की गयी हैं :-

(1) राज्यपाल संसद के किसी सदन का या पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा और यदि संसद के किसी सदन का या ऐसे किसी राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन का कोई सदस्य राज्यपाल नियुक्त हो जाता है, तो यह समझा जायेगा कि उसने उस सदन में अपना स्थान राज्यपाल के रूप में अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।

(2) राज्यपाल अन्य कोई लाभ का पद धारण नहीं करेगा ।

(3) राज्यपाल बिना किराया दिए अपने शासकीय निवासों के उपयोग का हकदार होगा और ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी, जो संसद विधि द्वारा अवधारित करे।

---

1. अनुच्छेद 155

(3ए) जहां एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जाता है, वहाँ उस राज्यपाल को संदेय उपलब्धियाँ ओर भत्ते उन राज्यो के बीच ऐसे अनुपात में आवंटित किए जाएंगे, जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करे।

(4) राज्यपाल की उपलब्धियों और भत्ते उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किये जायेगे ।

अनुच्छेद 159 के अधीन प्रत्येक राज्यपाल और प्रत्येक व्यक्ति जो राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन कर रहा है, अपना पद ग्रहण करने से पहले उस राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में उस न्यायालय के उपलब्ध ज्येष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष निम्नलिखित रूप में शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपना हस्ताक्षर करेगा, अर्थात -"मैं अमुक ईश्वर की शपथ लेता हूँ/ सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक (राज्य का नाम) के राज्यपाल के पद का कार्यपालन (अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निवर्हन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं (राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा ।"

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 163(1) में कहा गया है कि जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करे उन बातों को छोड़कर राज्यपालों को अपने कृत्यों का प्रयोग करने में सहयता और सलाह देने के लिये एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, मुख्यमंत्री होगा। परन्तु यदि कोई प्रश्न उठता है कि कोई विषय ऐसा है या नहीं जिसके सम्बन्ध में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने विवेकानुसार कार्य करे तो राज्यपाल का अपने विवेकानुसार किया गया विनिश्चय अन्तिम होगा और राज्यपाल द्वारा की गयी किसी बात की विधि मान्यता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि उसे अपने विवेकानुसार कार्य करना चाहिये था या नहीं : इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जॉच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई सलाह दी? और यदि दी तो क्या दी ?

राज्यपाल को दी गयी विवेकाधीन शक्तियाँ संसदीय प्रजातंत्र के सिद्धान्तों के विपरीत हैं । संसदीय प्रजातंत्र के अनुसार नाम मात्र के अध्यक्ष को मंत्रीपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए । यद्यपि भारत के राष्ट्रपति को केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के सम्बन्ध में विवेकाधीन अधिकार प्राप्त नहीं हैं परन्तु राज्यों में स्थिति बिल्कुल भिन्न हैं। राज्यपालों के विवेकाधीन अधिकार से 1967 के चौथे आम चुनाव तक कोई गम्भीर राजनीतिक व संवैधानिक संकट उत्पन्न नहीं हुआ था, क्योंकि तब तक कांग्रेस केन्द्र व अधिकांश राज्यों में सत्ताधारी दल था। परन्तु चौथे आम चुनाव के परिणामों ने पूरा राजनीतिक परिदृश्य बदल दिया और अधिकांश राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें गठित हुयी जबकि केन्द्र में कांग्रेस ही सत्ताधारी दल था। इस बदले परिवेश में राज्यपालों ने अपने स्वविवेक का प्रयोग एक ही जैसी परिस्थितियों में अलग अलग ढंग से किया ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार, ''मुख्य मंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर करेगा तथा मंत्री, राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद धारण करेंगे। '' जहाँ तक मुख्य मंत्री की नियुक्ति का प्रश्न है, राज्यपाल विधायिका में बहुमत प्राप्त दल के नेता को मुख्य मंत्री पद हेतु आमंत्रित करने के लिए बाध्य है, परन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जब किसी एक दल को राज्य विधायिका में स्पष्ट बहुमत न मिले। ऐसी स्थिति में राज्यपाल के पास दो विकल्प होते हैं। या तो वह सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता को आमंत्रित करे या फिर गठबन्धित राजनीतिक दलों के नेता को आमंत्रित करें। इस प्रकार से मुख्य मंत्री की नियुक्ति में राज्यपाल को कुछ परिस्थितियों में स्वविवेक का प्रयोग करने की स्वतंत्रता है और अपने इस अधिकार का राज्यपालों ने अलग अलग मापदण्डों के आधार पर कार्य किया। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा की जाती है। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री का निर्णय अन्तिम होता है, क्योंकि राज्य सरकार के संचालन का सारा उत्तरदायित्व मुख्यमंत्री पर ही होता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के सम्यक संचालन के लिये ऐसा होना अत्यन्त आवश्यक भी है। मंत्रियों के पद ग्रहण से पूर्व राज्यपाल इनको पद व गोपनीयता की निर्धारित शपथ दिलाता है ।[1]

---

1. अनुच्छेद 164(3)

अनुच्छेद 164(1) के अनुसार मंत्रिगण राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर आसीन रहेंगे, लेकिन राज्यपाल अपनी इस शक्ति का प्रयोग मुख्यमंत्री की सलाह पर करता है। अनुच्छेद 167 द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मंत्रिपरिषद के प्रशासन सम्बन्धी समस्त निर्णयों तथा विधि निर्माण सम्बन्धित प्रस्तावों के सम्बन्ध में सूचित करें, यदि राज्यपाल मुख्य मंत्री से इस विषयों पर सूचना मांगता है। यदि राज्य पाल मुख्य मंत्री से यह अपेक्षा करे कि वह उस विषय पर , जिस पर किसी मन्त्री ने बिना मंत्रिमंडल के परामर्श के ही कोई निर्णय लिया है, मंत्रिमंडल के विचारार्थ पेश किया जाय तो ऐसा करना उसका कर्तव्य होगा ।[1]

इस प्रकार उपरोक्त व्यवस्था सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को और सबल बनाने में सहायक है और मुख्य मंत्री को किसी भी मंत्री द्वारा लिये गये व्यक्तिगत निर्णय का पुनर्वलोकन करने की शक्ति प्रदान करता है। जब कोई मन्त्री बिना मंत्रिपरिषद के परामर्श से व्यक्तिगत रूप से कोई निर्णय लेता है तो राज्यपाल उस पर मंत्रिपरिषद द्वारा विचार किये जाने की अपेक्षा कर सकता है, किन्तु राज्यपाल किसी मंत्री द्वारा किये गये निर्णय को स्वयं बदल नहीं सकता है। यदि मंत्री द्वारा लिये गये निर्णय पर मंत्रिपरिषद स्वीकृति नहीं देती तो मंत्री को परिषद से त्याग पत्र देना होगा। यदि मंत्रिपरिषद की अस्वीकृति के पश्चात् भी कोई ऐसा व्यक्ति मंत्री बना रहना चाहता है तो राज्यपाल उसको मुख्यमंत्री के परामर्श से अपदस्थ कर देगा ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 174 (1) के अनुसार राज्यपाल को राज्य विधायिका के सदन या दोनों सदनों का अधिवेशन बुलाने का अधिकार है, परन्तु दो अधिवेशनों के मध्य छः महीने से अधिक का अन्तराल नहीं होना चाहिए । सामान्यतया राज्य विधायिका का अधिवेशन बुलाने का कार्य मंत्रिपरिषद की सलाह से किया जाता है, परन्तु कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से भी विधायिका का अधिवेशन बुला सकता है । ये परिस्थितियाँ दल बदल की राजनीति या मंत्रिपरिषद के विश्वासमत खो देने के पश्चात उत्पन्न हो सकती हैं।

---

1. अनुच्छेद 167 (ग)

अनुच्छेद 174(2) (बी) राज्यपाल को राज्यविधान सभा भंग करने का महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान करता है। साधारणतया राज्यपाल विधानसभा भंग करने की शक्ति का प्रयोग पद छोड़ने वले मुख्यमंत्री की सलाह पर ही करता है, किन्तु यदि मुख्यमंत्री ने बहुमत खो दिया है या विधान सभा में उसके बहुमत पर सन्देह है और राज्यपाल को वैकल्पिक सरकार की सम्भावना दिखे तो वह विधानसभा भंग करने की मुख्य मंत्री की सलाह को अस्वीकार कर सकता है। राज्यपाल दोनों सदनों का सत्रावसान कर सकता है और साधारण परिस्थितियों में वह मंत्रिपरिषद की सलाह पर ही सत्रावसान करता है। राज्यपाल राज्य विधान मण्डल को सम्बोधित करता है। राज्यपाल को द्विसदनीय विधान मंडल के उच्चसदन विधान परिषद की सम्पूर्ण सदस्यता के 1/6 सदस्यों के मनोनयन का अधिकार है।[1] मनोनीत व्यक्ति को साहित्य, विज्ञान, कला, समाज सेवा एवं सहकारी आन्दोलन का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव हो। इसी तरह विधान सभा में यदि राज्यपाल के विचार में एंग्लो इण्डियन समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह एक एंग्लो इण्डियन व्यक्ति का मनोनयन विधानसभा में कर सकता है।[2]

अनुच्छेद 161 के अनुसार राज्पाल को किसी अपराध के लिये सिद्व दोष किसी व्यक्ति के देड को क्षमा, प्रविलंबन, विराम या परिहार करने अथवा दण्डादेश का विलम्बन, परिहार या लधुकरण करने की शक्ति प्राप्त है। अपराध विधायिका द्वारा पारित किसी विधि के विरूद्ध किया जाना चाहिए ।

संविधान ने राज्यपाल को राज्य विधान मण्डल का एक सक्षम हिस्सा बनाया है वह उस विधान मण्डल के किसी एक सदन का सदस्य नहीं हो सकता । राज्य विधान मण्डल द्वारा जारी किसी भी विधेयक को अधिनियम बनाने के लिए राज्यपाल की सहमति की आवश्यकता है, या उसके द्वारा यदि उक्त विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखा गया है तो उस पर राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त की जाये। यदि राज्यपाल या राष्ट्रपति मामले के अनुसार अपनी सहमति को रोके रखता है तो वह विधेयक कानून नहीं बन सकता है।

---

1. अनुच्छेद 173(3)(सी)
2. अनुच्छेद 333

अनुच्छेद 200 में यह व्यवस्था की गई है कि जब कोई विधेयक राज्य विधान मण्डल से पारित होने के बाद राज्यपाल को प्रस्तुत किया जाता है तो राज्यपाद यह घोषणा करेगा कि –

क) वह विधेयक को सहमति देता है या

ख) वह उस विधेयक से अपनी सहमति को रोक कर रखता है या

ग) वह उस विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखता है या

घ) राज्यपाल, यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र विधेयक को लौटा सकता है,(धन विधेयक को छोड़कर) इस संदेश के साथ कि राज्य विधानमंडल इस पर पुनर्विचार करे। लेकिन यदि वह विधेयक विधान मण्डल द्वारा बिना किसी संशोधन के दुबारा पारित किया जाता है तो राज्यपाल उससे अपनी सहमति को रोके नहीं रखेगा। (पहला परन्तुक) या

ङ) राज्यपाल की राय में यदि विधेयक कानून बनता है, और उच्च न्यायालय की शक्तियों को अल्पीकृत कर अपनी संवैधानिक स्थिति को संकट में डालता है तो राज्यपाल उस पर सहमति नहीं देगा, बल्कि उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखेगा (दूसरा परन्तुक)।

यदि राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखता है तब उस विधेयक की अधिनियमिति राष्ट्रपति की सहमति या अस्वीकृति पर निर्भर करेगी।

आरक्षित विधेयक के सम्बन्ध में, राष्ट्रपति अनुच्छेद 201 के अन्तर्गत या तो अपनी सहमती की या इस पर से अपनी सहमति को रोके रखने की घोषणा करेगा। इन दोनों तरीकों को अपनाने के अलावा राषट्रपति (यदि विधेयक धन विधेयक नहीं है) रज्यपाल को यह निर्देश दे सकता है कि वह विधेयक को राज्य विधान मण्डल का इस सन्देश के साथ लौटा दे,[1] कि वह उस पर पुनर्विचार करे । तब राज्य विधान मण्डल उस विधेयक की प्राप्ति के छः माह के भीतर उस पर पुनर्विचार करेगा. और यदि उसे दुबारा पारित किया जाता है तो उसे फिर से राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा।

---

1. अनुच्छेद 201 का परन्तुक

किसी पुनर्विचारित विधेयक के सम्बन्ध में राज्यपाल की शक्ति के विपरीत यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति उस पुनर्विचारित विधेयक को दे दे।

उस अवधि के दौरान जब राज्य विधान मंडल अधिवेशन मे न हो, ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब राज्य सरकार को तत्काल कार्यवाही करनी आवश्यक हो। ऐसी परिस्थितियो का सामना करने के लिये यदि आवश्यक हो तो राज्य विधान मण्डल की विधायी क्षमता के अन्दर आने वाले किसी मामले के सम्बन्ध में राज्यपाल को आवश्यक हो तो राष्ट्रपति से अनुदेश लेने के बाद अनु. 213 के अन्तर्गत अध्यादेश के प्रख्यापन की शक्ति प्रदान की गयी है। राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह से करेगा न कि अपने विवेकानुसार । दूसरे इस अनुच्छेद का प्रयोग निम्नलिखित स्थितियों में ही किया जायेगा :—

क) राज्यपाल (वास्तव में मन्त्रि परिषद) को इस बात की सन्तुष्टि कर लेनी चाहिए कि ये वही परिस्थितियाँ हैं जिनमें तत्काल कार्यवाही करनी आवश्यक है ।

ख) विधानसभा का सत्र न चल रहा हो या जहाँ राज्य में विधायी परिषद भी हो वहाँ विधानमंडल के दोनों सदनों का सत्र न चल रहा हो।

अनुच्छेद के खंड (2)(क) में यह अपेक्षा की गयी है कि जब राज्य विधान मंडल की अगली बैठक होगी तब अध्यादेश विधान सभा के समक्ष रखा जायेगा।

इस खण्ड में आगे यह भी कहा गया है कि अध्यादेश अलगी बैठक से छः सप्ताह हो जाने पर प्रभावी नहीं रहेगा बशर्ते कि विधानमण्डल के संकल्पन द्वारा इसे वापस न ले लिया गया हो या राज्यपाल ने इसे वापस ले लिया हो। अनु० 213(1) के परंतुक में राज्यपाल को यह आदेश दिया गया है कि वह निम्न स्थितियों में राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कोई अध्यादेश जारी नहीं करेगा:—

(1) संविधान के अधीन वैसे ही उपबंध वाले विधेयक पर विधानमंडल में विचार करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी आवश्यक हो या,

(2) राज्यपाल ने वैसे ही उपबंधों वाले विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करना जरूरी समझा हो या,

(3) वैसे ही उपबंध वाला राज्य विधानमंडल का अधिनियम संविधान के अधीन सामान्य होने पर जब तक कि वह राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित न किया जाये और उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो जाये।

अनुच्छेद 356 राज्यपाल को यह अधिकार प्रदान करता है कि यदि उसके विचार में राज्य में संविधान के अनुसार सरकार चलाना संभव नहीं है तो वह इसकी सूचना राष्ट्रपति को प्रेषित करे। संवैधानिक तंत्र की असफलता का निर्धारण राज्यपाल स्वयं करता है और इस सम्बंध में वह मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य नहीं करता। राष्ट्रपति राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्य समाधान होने पर कि उस राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता या संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है, उद्घोषणा जारी करके राज्य सरकार के कोई भी कृत्य तथा शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है।

अनु० 361 राज्यपाल को प्राप्त उन्मुक्तियों से सम्बन्धित है। वह अपने पद की शक्तियों व कर्तव्यों को पूरा करने के लिए किये गये कार्यों के लिए किसी भी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं है। उसके कार्यकाल के समय उसके विरुद्ध कोई आपराधिक मामला दायर नहीं किया जा सकता। उसे उसके कार्यकाल के समय न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न ही कैद किया जा सकता है।

इन समस्त शक्तियों एवं उन्मुक्तियों के उपरान्त भी राज्यपालों को भारत सरकार के कैबिनेट मंत्रियों से नीचे का क्रम प्राप्त है। अग्रता अधिपत्र उन्हें भारत सरकार के कैबिनेट मंत्रियों से नीचे स्थान देता है।[1] कई राज्यपालों ने इकी शिकायत की। 1961 में राज्यपाल श्री प्रकाश ने यह प्रश्न उठाया था, परन्तु तत्कालीन प्रधान मंत्री पं० नेहरू का कहना था कि कैबिनेट मंत्री भारत सरकार है और वह राज्यपालों से वरिष्ठ है।[2]

---

1. भवानी सिंह-गर्वनर रोल आइडेन्टिफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन पृष्ठ 38

2. श्री प्रकाश - स्टेट गर्वनर इन इण्डिया - पृष्ठ - 52

तृतीय अध्याय
राज्यपालों की नियुक्ति व पदच्युति

राज्यपाल की नियुक्ति व पदच्युति

भारतीय संविधान में राज्यपालों के चयन एवं नियुक्ति से सम्बन्धित समस्त शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं। इसका अर्थ है कि वह केन्द्र सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। केन्द्र द्वारा मनोनयन के कारण राज्यपाल केन्द्र व राज्यों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है। प्रथम प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने इस पद पर हारे हुए कांग्रेसी राजनीतिज्ञों, अवकाश प्राप्त लोक सेवकों और दल-बदलू विरोधी नेताओं को पटकने की परंपरा शुरू की।[1] तत्कालीन राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद ने इस प्रवृत्ति को अनुचित कहा और नेहरू को ऐसा करने से रोकने का असफल प्रयास किया। इस प्रकार राज्यपाल, जो केन्द्र में राष्ट्रपति की तरह राज्य स्तर पर संविधान का मार्ग रक्षक है, केन्द्रीय सरकार के हित साधन का माध्यम मात्र बन गया। इस पद को सामान्यत: केन्द्रीय सत्ताधारी दल के हित साधन के लिये प्रयोग किया जाता था, लेकिन आवश्यकता पड़ने पर इसे दल के किसी खास गुट के हित साधन के लिये भी प्रयोग किया जा सकता था।[2]

इस प्रकार राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित दो परम्पराऐं विकसित हुयीं। एक परम्परा के अनुसार केन्द्र सरकार राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्य से सलाह लेती है, जिससे कि जो व्यक्ति पद ग्रहण करने जा रहा है, वह राज्य मंत्रिमंडल को स्वीकार्य हो। 1967 के आम चुनाव के पूर्व इस परम्परा को महत्व नहीं दिया गया और व्यावहारिक रूप में इसका पालन किया गया। इसका यह अर्थ नहीं था कि परम्परा ने अपनी गहरी जड़ें जमा ली थीं। परम्परा का आसानी से पालन इसलिये किया गया क्योंकि केन्द्र व राज्यों, दोनों स्थानों पर कांग्रेस दल की सरकारें होती थीं।[3] परन्तु 1967 के

---

1. कुरियन एण्ड वर्गीज- केन्द्र राज्य सम्बन्ध में एच. एस. वर्मा द्वारा लिखित लेख:- शासक दल तथा संघीय शासन व्यवस्था पृष्ठ-121
2. कुरियन एण्ड वर्गीज - पूर्वोधृत पृष्ठ - 124
3. एच.ए.गनी - गवर्नर इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूयशन- पृष्ठ 16

उपरान्त जब साझा सरकारें अस्तित्व में आयीं तो इस परम्परा ने नवीन महत्व ग्रहण किया। केन्द्र व गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों के मध्य विवाद उत्पन्न हुआ । व्यावहारिक रूप में देखा जाये तो यह अनिश्चित है कि सलाह करने का सामान्यत: अर्थ सलाह करना है अथवा सम्बन्धित मंत्रिपरिषद की सहमति लेना। 1967 के पश्चात्, गैर काँग्रेसी सरकारें चाहती थीं कि सलाह को सहमति माना जाना चाहिए । उनको भय था कि केन्द्र की पसन्द का राज्यपाल, केन्द्र के सत्तारूढ़ दल के हित में कार्य करेगा ।[1]

1967 में राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व, सम्बन्धित राज्य सरकार से सलाह न करने सम्बन्धी कई विवाद उत्पन्न हुए। अगस्त 1967 में हरियाणा के मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह का मानना था कि केन्द्र को राज्पालों की नियुक्ति से पूर्व मुख्यमंत्री के साथ कुछ नामों के समूह पर विचार विमर्श करना चाहिए और उन्हें विश्वास में लेना चाहिए। केन्द्र ने उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और राज्यपाल पद हेतु केवल एक नाम प्रस्तावित किया।[2] इसी तरह पंजाब में मुख्यमंत्री गुरनाम सिंह ने केन्द्र द्वारा राज्यपाल पद हेतु प्रस्तावित दो नामों को अस्वीकृत कर दिया। श्री सिंह ने कुछ अन्य नामों को प्रस्तावित किया परन्तु इनमें से किसी की भी नियुक्ति केन्द्र सरकार ने नहीं की।[3] दोनों मुख्य मंत्रियों को ऐसा करने से केवल यह हासिल हुआ कि उनके राज्यों में गैर कांग्रेसी व्यक्तियों की राज्यपाल पद पर नियुक्ति हुयी।[4] हरियाणा में राज्यपाल पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी श्री बी. एन. चक्रवर्ती, जो संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के स्थायी प्रतिनिधि थे, की नियुक्ति हुयी। पंजाब में मैसूर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डी.सी. पावटे की नियुक्ति हुई ।

1967 में ही उ.प्र. में श्री बी. गोपाल रेड्डी के नियुक्ति की घोषणा की गयी जबकि अभी चरण सिंह के नेतृत्व में नई सरकार का गठन किया जाना था। लोक सभा में श्री एस. एम. बनर्जी जानना

---

1. हरिमोहन जैन - गवर्नर इन चेन्जड पॉलिटिकल सेट अप-मेनस्ट्रीम दिल्ली, वाल्यूम 6 न. 14,2 दिसम्बर 1967 पृष्ठ-18
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 19 अगस्त, 1967
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 20 अगस्त, 1967
4. बी.एल. फाड़िया=- स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया वाल्यूम - I, 1984, पृष्ठ- 203

चाहते थे कि क्या श्री चरण सिंह से परामर्श लिया जायेगा और इस नियुक्ति पर पुनर्विचार किया जायेगा। तत्कालीन गृहमंत्री श्री यशवन्त राव बलवन्तराव चह्वाण का उत्तर था कि राज्य सरकार से कोई विचार विमर्श नहीं किया जायेगा ।[1]

1967 में ही बिहार में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति पर विवाद हुआ। बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद सिन्हा ने सार्वजनिक रूप से एन.एन. कानूनगो की नियुक्ति पर विरोध व्यक्त किया। उनका कहना था कि राज्य मंत्रिमण्डल द्वारा स्पष्ट रूप से अस्वीकृत करने पर भी कानूनगो की नियुक्ति की गयी। मुख्यमंत्री ने घोषणा की कि राज्यपाल कानूनगो का राज्य में स्वागत नहीं किया जायेगा और उन्हें अवांछित और अस्वागत योग्य राज्यपाल घोषित किया।[2] इस मामले में स्थिति थोड़ी भिन्न है। श्री सिन्हा तत्कालीन बिहार के राज्यपाल श्री आयंगर की समयावधि मार्च 1968 तक बढ़वाना चाहते थे । इस सम्बन्ध में तत्कालीन गृहमंत्री ने लोकसभा में वक्तव्य दिया कि राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह अवश्य ली जानी चाहिए, परन्तु उसी समय मुख्यमंत्री को राज्यपाल की नियुक्ति पर वीटो करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता और न ही राष्ट्रपति के निर्णय को राज्य के मुख्यमंत्री की बहस व सनक का विषय बनाना चाहिए ।[3] समाचार पत्रों की सूचना के अनुसार मुख्यमंत्री से सलाह विधित: केन्द्र ने ली थी और मुख्यमंत्री ने श्री कानूनगो की नियुक्ति पर अपनी सहमति दे दी थी। इस आधार पर कि वर्तमान राज्यपाल की कार्यावधि कुछ महीने बढ़ा दी जाए। केन्द्र सरकार सहमत हो गयी परन्तु जब मुख्यमंत्री ने पुन: छ: माह की अवधि बढ़ाने की इच्छा व्यक्त की, तब केन्द्र ने अस्वीकार कर दिया, तथा यह घोषित किया कि श्री कानूनगो दिसम्बर में पदभार ग्रहण करेंगे। इसलिए बिहार का मामला कि मुख्यमंत्री की सलाह नहीं ली गयी उचित नहीं है। उनकी सलाह ली गयी और सहमति प्राप्त की गयी।[4] श्री सिन्हा चाहते थे कि परिवर्तन मार्च 1968 से पूर्व नहीं होना चाहिए जबकि केन्द्र सरकार उतनी देर तक प्रतीक्षा नहीं करना चाहती थी ।

---

1. बी. एल. फाड़िया - स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया, वाल्यूम - I, पृष्ठ-203
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स - 17 नवम्बर, 1967
3. लोकसभा डिबेट वाल्यूम IX, 1967, पृष्ठ 1174
4. मेन स्ट्रीम - 2 दिसम्बर, 1967 पृष्ठ 17 - गवर्नस इन चेन्ज्ड पॉलिटिकल सेट अप - श्री हरि मोहन जैन।

इसी प्रकार का विवाद पश्चिम बंगाल में उत्पन्न हुआ, जब पश्चिम बंगाल की राज्यपाल सुश्री पद्मजा नायडू के उत्तराधिकारी की बात आयी। पश्चिम बंगाल की प्रथम संयुक्त मोर्चा सरकार ने श्री जी.एस. पाठक तथा नित्यानन्द कानूनगो के नामों को राज्यपाल पद हेतु प्रस्तावित किया। केन्द्र सरकार ने इन्हें अस्वीकार करते हुए तत्कालीन पंजाब व हरियाणा के राज्यपाल श्री धर्मवीर की पश्चिम बंगाल के राज्यपाल पद पर नियुक्ति की। यह नियुक्ति राज्य सरकार के लिए आश्चर्यजनक थी। राज्य के तत्कालीन उप मुख्यमंत्री श्री ज्योतिबसु का आरोप था कि केन्द्र ने श्री धर्मवीर की राज्यपाल पद पर नियुक्ति से पूर्व राज्य सरकार से परामर्श नहीं किया। हालाँकि केन्द्रीय गृहमंत्रालय के स्रोतों ने इस आरोप का खण्डन किया, कि राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व राज्य सरकार से परामर्श नहीं किया गया।[1] केन्द्रीय गृह मंत्रालय के सरकारी प्रवक्ता ने कहा कि सुश्री पद्मजा नायडू के उत्तराधिकारी सम्बन्धी प्रश्न पर पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री श्री अजय मुखर्जी से नई दिल्ली में विचार विमर्श हुआ था। उस समय श्री मुखर्जी ने कहा था कि कोई भी नाम स्वीकार्य होगा बशर्ते कि सम्बन्धित व्यक्ति कांग्रेसी न हो। कुछ समय पश्चात् केन्द्रीय गृहमंत्री श्री वाई.बी. चव्हाण ने श्री मुखर्जी से टेलीफोन पर वार्ता की जिसमें पश्चिम बंगाल में राज्यपाल पद पर नियुक्ति हेतु श्री धर्मवीर सहित दो तीन नामों पर चर्चा की गई। श्री मुखर्जी ने प्रस्तावित किसी भी नाम पर कोई आपत्ति नहीं की।[2] संयुक्त मोर्चा सरकार के व्यापक विरोध के कारण 1969 में जब धर्मवीर को हटना पड़ा तो उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न फिर खड़ा हुआ। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री व उप मुख्यमंत्री ने राज्य के राज्यपाल पद हेतु दो नाम संयुक्त रूप से प्रस्तावित किए परन्तु केन्द्र द्वारा उन्हें अस्वीकार कर दिया गया। इसके विपरीत प्रधानमंत्री ने लंदन में तत्कालीन उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) श्री एस. एस. धवन की नियुक्ति की ।[3]

1981 में एक बार फिर पश्चिम बंगाल के राज्यपाल पद पर श्री बी.डी. पाण्डेय की नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह नहीं ली गयी थी। प्रधानमंत्री ने राज्य के मुख्यमंत्री श्री

---

1. सिबरंजन चैटर्जी - गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्स्टीट्शन पृष्ठ-174
2. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ-174
3. हिन्दुस्तान टाइम्स - 23 मार्च , 1969, पृष्ठ 1

ज्योति बसु से मुलाकात के समय राज्यपाल श्री टी.एन. सिंह के स्थान पर नये राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार के निर्णय से अवगत करा दिया था।[1] 10 सितम्बर , 1981 को केन्द्रीय गृहमंत्री श्री ज्ञानी जैल सिंह ने श्री पाण्डेय की राज्य के नये राज्यपाल के रूप में नियुक्ति सम्बन्धी सूचना मुख्यमंत्री को दी, परन्तु सम्भवत: केन्द्र सरकार ने श्री सिंह के उत्तराधिकारी के संबंध में मुख्यमंत्री से न तो सलाह ली और न विचार विमर्श किया।[2] अक्टूबर 1983 में, पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री बी.डी. पाण्डेय का मुख्यमंत्री श्री ज्योति बसु से सलाह किये बिना ही पंजाब स्थानान्तरण कर दिया गया और उनके स्थान पर श्री ए. पी. शर्मा की नियुक्ति की गई । श्री बसु ने सलाह न लेने की सामान्य औपचारिकता पूरा न करने का विरोध किया। उनका कहना था कि, ''मुझे केन्द्रीय गृहमंत्री द्वारा इसकी घोषणा होने के पश्चात् स्थानान्तरण सम्बन्धी सूचना केवल टेलीफोन पर दी गयी।'' गृहमंत्री श्री पी. सी. सेठी ने इस सम्बन्ध में कहा कि उनका पंजाब की परिस्थितियों में व्यस्तता के कारण पूर्व में सलाह नहीं ले पाये।''[3]

वामपक्ष ने श्री पाण्डेय के स्थान पर श्री शर्मा की नियुक्ति का विरोध किया जबकि पश्चिम बंगाल कांग्रेस (ई) इकाई ने इसे स्वागत योग्य कदम बताया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (एम) के सचिव श्री सरोज मुखर्जी ने इसे कांग्रेस (ई) का अप्रजातांत्रिक कार्य बताते हुए कहा कि ''प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि श्री शर्मा कांग्रेस (ई) के कट्टर राजनीतिज्ञ हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन्हें पश्चिम बंगाल वामपंथी सरकार के विरूद्ध किसी गुप्त उद्देश्य हेतु भेजा गया है।'' आर.एस.पी. के राज्य समिति के सचिव श्री माखन पाल का कहना था कि, ''यह केन्द्र की कांग्रेस (ई) सरकार का पूर्णतय: सनकी पूर्ण कदम और अधिनायकवादी प्रवृत्ति का द्योतक है।''

---

1. श्री सिंह की नियुक्ति जनता पार्टी सरकार द्वारा की गयी थी और कांग्रेस (आई) ने सत्ता में आते ही (1980) में पूर्व केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यपालों को हटाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।
2. सिबरंजन चैटर्जी पूर्वोधृत - पृष्ठ 177
3. दि टेलीग्राफ, 9 अक्टूबर, 1983

फारवर्ड ब्लाक की राज्य समिति के सचिव श्री अशोक घोष का कहना था कि श्री शर्मा जो एक कट्टर कांग्रेस (ई) नेता की पश्चिम बंगाल के राज्यपाल पद पर नियुक्ति राजनीति प्रेरित है।[1]

श्री शर्मा ने अपनी राज्यपाल पद पर नियुक्ति का स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि इसमें कोई राजनीतिक निहितार्थ नहीं है। गैर कांग्रेस (ई) राज्य में भूमिका के प्रश्न पर उन्होंने कहा कि मैं केवल संवैधानिक मुखिया हूँ और उन्हीं दायित्वों को पूरा करूँगा जो मुझे दिये गये हैं।[2] श्री बसु की नाराजगी पर उनका मानना था कि उन्हें अपनी असहमति व्यक्त करने का पूरा अधिकार है और उनकी अप्रसन्नता न्यायोचित है।

फरवरी 1988 में, छः राज्यों (बिहार, हरियाणा, केरल, महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं राजस्थान) में राज्यपालों की नियुक्ति का सम्बन्धित राज्यों के मुख्य मंत्रियों ने आलोचना की थी, क्योंकि इस सन्दर्भ में उनसे सलाह नहीं ली गई थी। जबकि तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री का कहना था कि उन्होंने व्यक्तिगत रूप से छः सम्बन्धित राज्यों के मुख्य मंत्रियों से सम्पर्क किया था और उन्होंने पूर्ण सहयोग देने का वायदा किया था।[3] हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री देवी लाल ने राज्य में श्री हरि आनन्द बरारी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति का विरोध दो आधारों पर किया [4] - प्रथमतः उनसे इस सम्बन्ध में सलाह नहीं ली गई थी जैसा कि केन्द्रीय गृह मंत्री बूटा सिंह का दावा है। द्वितीयतः सरकारिया आयोग रिपोर्ट में स्पष्ट कहा गया है कि इन्टेलीजेन्स ब्यूरो से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति को राज्यपाल पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए।[5] इसी संबंध में कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री आर.के. हेगड़े ने भी सरकारिया आयोग की सिफारिशों के उल्लंघन का विरोध किया, जबकि केरल राज्य की वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चा की

---

1. दि टेलीग्राफ, 9 अक्टूबर, 1983
2. दि टेलीग्राफ, 10 अक्टूबर, 1983
3. इण्डियन एक्सप्रेस, 16 फरवरी, 1988 पृष्ठ 9
4. इण्डियन एक्सप्रेस, 16 फरवरी, 1988 पृष्ठ 1
5. श्री बरारी इन्टेलीजेन्स ब्यूरो के निदेशक रह चुके थे।

समिति ने श्रीमती रामदुलारी सिन्हा के राज्यपाल पद पर नियुक्ति के विरूद्ध प्रस्ताव पास किया।[1] कालान्तर में श्रीमती सिन्हा की नियुक्ति का विरोध सत्य सिद्ध हुआ जब उन्होंने राज्य में अत्यधिक सक्रियता के कारण मुख्यमंत्री से कटु सम्बन्ध स्थापित किये और वह राज्यपाल पद की गरिमा को कम करने की दोषी ठहराई गयीं।

25 मार्च, 1984 में, दिल्ली के उपराज्यपाल श्री जगमोहन को राजनीतिक रूप से संवेदनशील राज्य जम्मू काश्मीर का राज्यपाल बनाया गया, जबकि पंजाब के राज्यपाल के विशेष सलाहकार श्री पी.सी. गवई को दिल्ली का उपराज्यपाल बनाया गया। इस महत्वपूर्ण परिवर्तन में जम्मू कश्मीर के राज्यपाल श्री बी.के. नेहरू को गुजरात का राज्यपाल तथा गुजरात के राज्यपाल श्री एम. पी. चाँदी को मध्य प्रदेश का राज्यपाल बनाया गया।[2] श्री भीष्म नारायण सिंह को आसाम व मेघालय का राज्यपाल बनाया गया जबकि पूर्व राज्यपाल श्री प्रकाश मेहरोत्रा को लन्दन में भारत का हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया।

इस व्यापक परिवर्तन में केन्द्रीय सरकार ने सम्बन्धित राज्यों के राज्यपालों की सूची निश्चित करने से पूर्व उनकी सहमति नहीं ली थी।[3] जम्मू कश्मीर के राज्यपाल श्री बी.के. नेहरू ने खुले रूप में पत्रकार सम्मेलन में स्वीकार किया कि उनको हटाने से पूर्व उनसे विचार विमर्श नहीं किया गया था। अन्य राज्य सरकारों को भी उचित समय पर सूचित नहीं किया गया था।

श्री बी.के. नेहरू के स्थान पर श्री जगमोहन की नियुक्ति डा. फारूक अब्दुल्ला सरकार के विरूद्ध कड़ी कार्रवाई करने की दृष्टि से की गयी थी, विशेष रूप से उनकी सरकार के शासन में खालिस्तान समर्थक और राज्य विरोधी कार्यवाही के बढ़ने के कारण उत्पन्न हुई स्थिति से निपटने के लिए। इस अचानक परिवर्तन से जम्मू कश्मीर राज्य में कोई अवगत नहीं था। यहाँ उल्लेखनीय यह है

---

1. इण्डियन एक्सप्रेस, 20 फरवरी, 1988 पृष्ठ - 1
2. म.प्र. के राज्यपाल श्री भगवत दयाल शर्मा का 1 वर्ष पूर्व कार्यकाल पूरा हो चुका था और कुछ समय पश्चात् सितम्बर में आन्ध्र प्रदेश का राज्यपाल बनाया गया जब श्री राम लाल ने त्यागपत्र दे दिया।
3. राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह को भी इन नियुक्तियों के बारे में तभी पता चला जब एक दिन पश्चात् हस्ताक्षर के लिए फाइल उनके पास पहुँची - इण्डिया टुडे - अगस्त 1 - 15, 1984 पृष्ठ 17

कि श्री नेहरू के परिवर्तन के पीछे मुख्य कारण उनका व केन्द्र सरकार का घाटी में कांग्रेस आन्दोलन-कारियों एवं फारूक सरकार की अलगाववादी धमकी के विषय पर मतभेद था। वास्तव में, जम्मू कश्मीर की कांग्रेस दल की इकाई श्री नेहरू से अप्रसन्न थी और दल की राज्य इकाई ने श्री नेहरू पर खुला आरोप लगाया था कि वह केन्द्र सरकार को राज्य सरकार के गलत कार्यों की समुचित सूचना नहीं दे रहे हैं और न ही स्थिति सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं।[1] श्री नेहरू व्यक्तिगत रूप से डा. अब्दुल्ला का विश्वास प्राप्त किये हुये थे और वह डॉ० अब्दुल्ला व केन्द्र के मध्य प्रभावी सूचना माध्यम की स्थिति में थे।

इसी कारण से गैर कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों ने राज्यपालों की नियुक्ति के विषय में केन्द्र द्वारा अपनाये जा रहे दोहरे मापदण्डों के विरूद्ध आवाज उठायी। श्रीनगर संगोष्ठी में इस नियुक्ति के विषय में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए श्री फारूक अब्दुल्ला ने कहा कि केन्द्र ने राज्य में राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व परामर्श करने की परम्परा को काफी पहले तोड़ दिया था। उन्होंने कहा कि संविधान सभा में प्रो. के. टी. शाह ने इस परम्परा के पूर्णतया विकसित होने के सन्दर्भ में सन्देह व्यक्त किया था और उनका सन्देह वर्तमान में सत्य सिद्ध हुआ।[2]

अप्रैल 1986 में, श्रीमती कुमुद बेन जोशी की आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल पद पर नियुक्ति राज्य के मुख्यमंत्री श्री एन. टी. रामाराव से सलाह के बिना की गई।[3]

जनवरी 1990 में, जम्मू कश्मीर के राज्यपाल जनरल के.बी. कृष्णाराव के त्याग पत्र देने के पश्चात्, श्री जगमोहन को जम्मू कश्मीर का नया राज्यपाल नियुक्त किया गया। मुख्यमंत्री श्री फारूक अब्दुल्ला ने नये राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सलाह न लेने के विरोध स्वरूप अपना त्याग पत्र दे दिया।[4]

---

1. यह आरोप राष्ट्रपति को जनवरी 1984 में राज्य इकाई द्वारा दिये गये ज्ञापन में लगाया गया था।
2. इण्डियन एक्सप्रेस, 31 मार्च, 1984
3. इण्डिया टुडे, अप्रैल 15-30, 1986 पृष्ठ 92
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 19 जनवरी, 1990 पृष्ठ 1

व्यावहारिक रूप में देखा जाय तो यह अनिश्चित है कि 'सलाह' करने का सामान्यत: अर्थ सलाह करना है अथवा सम्बन्धित राज्य सरकार की सहमति लेना। यह सत्य है कि राज्य सरकार से सलाह लेने की प्रथा राज्यपालों की नियुक्ति की प्रक्रिया में स्वीकृत हो चुकी है। 1967 के पश्चात् गैर कांग्रेसी सरकारें चाहती थीं कि सलाह के स्थान पर सहमति लेनी चाहिए । उनको भय था कि केन्द्र की पसन्द का राज्यपाल केन्द्र के सत्तारूढ़ दल के हित में कार्य करेगा।[1] राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व मुख्यमंत्री से परामर्श को सहमति माना जाय या नहीं इस विवाद को सुलझाना आसान नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि यह मात्र परामर्श है सहमति नहीं तब इसकी कोई उपयोगिता नहीं है और यदि मुख्यमंत्री की सहमति आवश्यक है तो फिर नियुक्ति का अधिकार केन्द्र के पास न हो कर राज्य के पास आ जाता है। स्थिति चाहे जो भी हो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मुख्यमंत्री को अपने राज्य में नियुक्त राज्यपाल को अस्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं है, तथापि परामर्श करने की परम्परा निश्चित रूप से काफी हद तक प्रान्तीय राजनीतिज्ञों को सन्तुष्ट करने में सक्षम हैं । इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से मुख्यमंत्री को यह अधिकार है कि उसे सूचित किया जाय कि कौन व्यक्ति उसके राज्य का राज्यपाल होने जा रहा है । इसी कारण से समस्त संविधान मर्मज्ञों ने विचार व्यक्त किया है कि राज्य के मुख्यमंत्रियों से राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व अवश्य ही परामर्श करना चाहिए ।[2] भारतीय जनता पार्टी ने एक सुझाव दिया है जो गहन विचार का विषय है । उसने सुझाव दिया है कि राज्यपाल पाँच वर्ष के लिये नियुक्त किये जाने चाहिए । यह नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अन्तर्राज्य परिषद द्वारा तैयार पैनल में से सम्बन्धित राज्यों के परामर्श से की जानी चाहिए ।[3]

---

1. एच. एम. जैन - गर्वनर इन चेन्जड पॉलिटिकल सेट अप - मेन स्ट्रीम , वाल्यूम 6 न. 14; 2 दिसम्बर, 1967, पृष्ठ 18
2. इण्डियन एक्सप्रेस , 6 अक्टूबर 1983, कॉल टू कर्व गवर्नरस पावर
3. इण्डियन एक्सप्रेस 14 फरवरी 1986 - यूनियन स्टेट रिलेशनशिप - बी.जे.पी. फॉर चेन्ज इन स्टैच्यूट

राज्यपालों की नियुक्ति से सम्बन्धित दूसरी परम्परा यह है कि किसी व्यक्ति को उसके गृह राज्य में राज्यपाल नहीं नियुक्त करना चाहिए। इस परम्परा का मुख्य उद्देश्य यह था कि राज्यपाल को राज्य की दलीय राजनीति से अलग रखा जा सके, ताकि राज्यपाल संविधान द्वारा प्रदत्त कर्तव्यों का निष्पक्षता पूर्वक पालन कर सकें। इस परम्परा का केवल कुछ मामलों में छोड़कर, केन्द्र सरकार द्वारा पालन किया गया है। कुछ मामलों में इस परम्परा का उल्लंघन भी किया गया, जैसे – उज्जल सिंह, करन सिंह, जे. कामराज वडियार बहादुर और एच. सी. मुखर्जी को क्रमशः पंजाब (1966) जम्मू कश्मीर (1965) मैसूर (1956) और पश्चिम बंगाल (1957) का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इसमें एच. सी. मुखर्जी का मामला बिल्कुल अलग था। जब प्रधानमंत्री श्री नेहरू पश्चिम बंगाल में गैर बंगाली व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करना चाहते थे, तो तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री बी. सी. राय ने इसका कड़ा विरोध करते हुये कहा कि पश्चिम बंगाल, गैर बंगाली राज्यपाल को सहन नहीं करेगा। तब ऐसे व्यक्ति की तलाश प्रारम्भ हुयी जो दोनों शर्तों को पूरा करता हो यानी श्री नेहरू की राज्य के बाहर का व्यक्ति और श्री राय की बंगाली व्यक्ति की। इन शर्तों के आधार पर मुखर्जी का नाम उचित लगा क्योंकि मुखर्जी अधिवास (domicile) के आधार पर बिहारी थे। श्री मुखर्जी की मृत्यु के पश्चात् यही प्रश्न दुबारा उठा तब पद्‌मजा नायडू का नाम सामने आया क्योंकि उनकी माँ बंगाली थीं और उनके पिता आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे और यह नाम श्री नेहरू व श्री राय दोनों को सन्तुष्ट कर रहा था। यह तर्क शब्दों का तो सम्मान करता है परन्तु इसके पीछे की भावना का उल्लंघन करता है। परन्तु फिर भी राज्य के बाहर के व्यक्ति की राज्यपाल पद पर नियुक्ति की परम्परा का कुछ उल्लंघनों के पश्चात् अभी तक पूर्ण सम्मान किया गया है।[1] इस परम्परा को अपनाने के पीछे उद्देश्य यह था कि राज्य के बाहर का व्यक्ति राज्य की दलगत राजनीति में रूचि नहीं लेगा और निष्पक्ष रूप से संवैधानिक प्रमुख की भूमिका निभायेगा। परन्तु राज्य की राजनीति व प्रशासन को प्रभावित करने के उद्देश्य से केन्द्र के सत्ता धारी दलों ने पड़ोसी राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति का तरीका अपनाया। इसके द्वारा राजनीतिज्ञ राज्यपालों को अपने गृह राज्यों से राजनीतिक सम्बन्ध बनाये रखने में सुविधा

---

1. एच. ए. गनी, गवर्नर इन दि इण्डियन कान्सटीटयूशन सरटेन कन्ट्रोवर्सीज एण्ड सरकारिया कमीशन, 1990, पृष्ठ – 19

होती है । इसी कारण से राज्यपाल अपने कार्यकारी राज्य से अपने पड़ोसी राज्य में स्थानान्तरण की माँग करते हैं। इसी कड़ी में श्री नित्यानन्द कानूनगो को 1968 में गुजरात के स्थान पर बिहार का राज्यपाल नियुक्त किया गया ।[1] श्री जोगिन्दर सिंह को उड़ीसा से राजस्थान उनकी इच्छा के अनुरूप स्थानान्तरित किया गया ।[2]

23 जून, 1993 को इसी प्रकार का परिवर्तन किया गया । बिहार के राज्यपाल मुहम्मद शफी कुरैशी को मध्य प्रदेश का अतिरिक्त कार्यभार सौंपा गया और हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल बलिराम भगत को राजस्थान स्थानान्तरित किया, जबकि मोती लाल वोरा को उ.प्र. और डा. चेन्नारेड्डी को तमिलनाडु का राज्यपाल बनाया गया । अर्जुन सिंह को 1985 में मध्य प्रदेश की राजनीति से हटाकर पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया और जब वह केन्द्रीय मंत्री बने तो श्री शंकर दयाल शर्मा को पंजाब का राज्यपाल बना दिया गया ।

केन्द्रीय सरकार ने राज्यपालों के स्थानान्तरण की विधि अपनायी यद्यपि कि संविधान में इसका कोई प्रावधान नहीं है। इस कार्यवाही ने इस सन्देह को और सुदृढ़ कर दिया कि केन्द्र सरकार राज्यों की स्वायत्तता को सीमित करने में राज्यपालों का सहारा ले रही है। श्री बी. डी. तपासे का उ. प्र. से हरियाणा, श्री पूंचा का म. प्र. से उड़ीसा और एयर मार्शल मेहरा को महाराष्ट्र से राजस्थान बिना किसी कारण के स्थानान्तरित कर दिया गया । 1969 में धर्मवीर को पश्चिम बंगाल से मैसूर इसलिये स्थानान्तरित किया गया क्योंकि पश्चिम बंगाल में अजय कुमार मुखर्जी के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार उनको पसन्द नहीं करती थी । अन्य महत्वपूर्ण स्थानान्तरण है नित्यानन्द कानूनगो का गुजरात से बिहार (1968), जोगिन्दर सिंह उड़ीसा से राजस्थान (1972) और उज्जवल सिंह पंजाब से मद्रास । 1984 में जम्मू कश्मीर के राज्यपाल बी. के. नेहरू का गुजरात स्थानान्तरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि यह सामान्य मत है कि श्री नेहरू का जम्मू काश्मीर से स्थानान्तरण इसलिये किया गया क्योंकि उन्होंने केन्द्र के पक्षपातपूर्ण आदेशों को मानने से इन्कार कर दिया था, जिसमें उनसे

---

1. इण्डियन एक्सप्रेस, 21 जनवरी, 1969
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, जून 13, 1977

अपेक्षा की गई थी कि राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता, राष्ट्र विरोधी, अलगाववादी व हिंसात्मक गतिविधियों के आधार पर रिपोर्ट केन्द्र को दी जाय। श्री नेहरू के स्थानान्तरण से केन्द्र सरकार के इरादों पर और सन्देह बढ़ गया और बहुत से लोगों ने यह ठीक ही सोचा था कि नये राज्यपाल श्री जगमोहन द्वारा केन्द्र, राज्य सरकार को गिराना चाहता है।[1] 1993 में महाराष्ट्र में पी0सी0 एलेक्जेण्डर हिमाचल में बलिराम भगत, मिजोरम में श्री केडियन तथा उ० प्र० में मोतीलाल वोरा की नियुक्ति की गई। जबकि उ० प्र० के राज्यपाल बी0 सत्यनारायण रेड्डी का उड़ीसा व राजस्थान के राज्यपाल चेन्नारेडी का तमिलनाडु स्थानान्तरण किया गया।[2]

1995 में त्रिपुरा के तत्कालीन राज्यपाल रोमेश भण्डारी का शेष कार्यकाल के लिए गोआ तथा गोआ के राज्यपाल श्री रामानुजम का उड़ीसा के शेष कार्यकाल के लिये स्थानान्तरण किया गया।[3] नवम्बर 2000 में उ० प्र० के राज्यपाल श्री सूरजभान को हिमांचल प्रदेश तथा हिमांचल प्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णुकान्त शास्त्री को उ० प्र० के राज्यपाल के रूप में स्थानान्तरित किया गया। इस स्थानान्तरण का कोई कारण नहीं बताया गया था।[4] सूरजभान लखनऊ के राजभवन में अपनी स्थापना को अपने सक्रिय जीवन का समापन मानने को तैयार नहीं थे। उनके कुछ निर्णयों व सक्रियताओं को निर्वाचित और प्रतिनिधि सरकार के अधिकार क्षेत्र में दखल माना गया। यहाँ तक कि उनके कार्यकालापों को पहली बार राजभवन को एक या दूसरे वर्ग विशेष की हितचिंता में अतिरिक्त रूप से सक्रिय देखा गया। इन्हीं सब कारणों से उस वक्त इस अदला बदली की जरूरत समझी गयी।[5]

---

1. कर्नाटक सरकार का श्वेत पत्र पृष्ठ - 24-28
2. ये सभी स्थानान्तरण राजनीतिक थे और इनका राजनितिक उपयोग करने के लिए नियुक्तियाँ की गई। चेन्नारेड्डी का मुख्यमंत्री से विवाद इस बात को सिद्ध करता है। एलेक्जेण्डर ने 1990 में केन्द्र की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार बनने पर तमिलनाडु के राज्यपाल पद से त्यागपत्र दिया था।
3. दि लीडर, इलाहाबाद 12 जून, 1995
4. सूरजभान अपनी व्यक्तिगत राजनीतिक सक्रियताओं से अपनी ही पार्टी व सरकार के लिये असुविधाजनक हो गये थे।
5. अमर उजाला, 6 नवम्बर, 2000 (सम्पादकीय)

लखनऊ राज भवन में उनके इस विवाद के पीछे उस मूल समस्या का ही विस्तार है जो वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों को राजभवनों में सुशोभित करने की प्रथा से उपजी है। अभी तक राज्यपालों और निर्वाचित सरकारों के बीच टकराव के छोरों पर प्राय: दो अलग-अलग दलो से जुड़े व्यक्ति रहे हैं, लेकिन भाजपा का मौलिक योगदान शायद यह हैं, कि उसी के एक वरिष्ठ राजनीतिज्ञ ने राज्यपाल बनने के बाद अपनी ही पार्टी की सरकार के लिए असुविधा पैदा करने में संकोच नहीं किया।

जनवरी 1990 में कई राज्यों के राज्यपालों ने त्यागपत्र दे दिया। केन्द्र की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का राज्यपालों से त्यागपत्र मांगने के पीछे तर्क था कि कुछ राज्यपालों की नियुक्ति राजनीति से प्रेरित थी, और कुछ राज्यपाल पक्षपात पूर्ण ढंग से कार्य कर रहे थे। सभी राज्यपालों से त्यागपत्र मांगने की पृष्ठभूमि में, राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को विवादास्पद भूमिका वाले राज्यपालों को हटाना था।[1] तत्कालीन गृह मंत्री श्री मुफ्ती मोहम्मद सईद की यह घोषणा कि प्रत्येक बार केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ राज्यपालों को त्यागपत्र दे देना चाहिए, एक नयी बहस को प्रारम्भ करता है। यह घोषणा बीमारी की तुलना में इलाज का भयावह रूप का एक उदाहरण है। वास्तव में राज्यपालों को हटाने के पीछे पद के राजनीतिकरण व दुरूपयोग को रोकना था, परन्तु प्रत्येक बार के त्यागपत्र की परम्परा से राजनीतिकरण की प्रक्रिया स्थायी हो जायेगी। वास्तव में इस प्रक्रिया द्वारा राज्यपाल पद राजनीतिक 'लूट पद्धति' का एक आन्तरिक अंग बन गया है और सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय का घोर उल्लंघन हैं कि राज्यपाल संवैधानिक पद है और वह केन्द्र सरकार के सरकारी सेवक या अधीनस्थ नहीं है।[2]

फरवरी 1990 को राष्ट्रपति श्री वेंकटरमन ने 14 नये राज्यपालों की नियुक्ति की घोषणा तथा दो राज्यपालों का स्थानान्तरण कर दिया। नव नियुक्त राज्यपाल व उनके राज्य निम्नवत हैं :-[3]

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 जनवरी, 1990 पृष्ठ - 13 रिमूवलऑफ गवर्नस-ए राँग प्रिसीडेन्ट - एस० सहाय
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 17 जनवरी, 1990 (सम्पादकीय)
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 2 फरवरी, 1990, पृष्ठ . 1'

की सेवा की थी, अतएव उनकी सेवा के बदले में उन्हें राज्यपाल पद प्रदान किया गया। उदाहरण के लिये एन०वी० गाड़ गिल (पंजाब), पाटस्कर मध्य प्रदेश, वी०वी० गिरि को उ०प्र०, हाफिज़ मोहम्मद इब्राहिम (पंजाब) का राज्यपाल बनाया गया।

(2) दूसरी श्रेणी में वे शक्तिशाली राजनीतिज्ञ आते हैं जिनकी राज्य में उपस्थिति न केवल राज्य सरकार की स्थिरता को खतरा उत्पन्न करती है वरन् विवाद भी उत्पन्न करती है। इसलिए कांग्रेस हाईकमान ने उन्हें उनके राज्य से बाहर करने के लिये दूसरे राज्यों के राज्यपाल पद का न्यौता दिया।[1] इस श्रेणी में भीमसेन साचर (पंजाब), राम कृष्ण राव (हैदराबाद), सम्पूर्णानन्द (उ० प्र०), एम० एम० चौधरी (असम), मोहन लाल सुखाड़िया और हरिदेव जोशी (राजस्थान), बसन्त दादापाटिल (महाराष्ट्र), अर्जुन सिंह व मोती लाल वोरा (म० प्र०)। इनमें से कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो राज्य के मुख्यमंत्री थे और राज्यपाल पद पर नियुक्ति करके उनके उत्तराधिकारियों के लिये मार्ग प्रशस्त किया गया।[2]

(3) सत्ताधारी दल से अलग दल के व्यक्ति को राज्यपाल पद पर नियुक्ति का उदाहरण पी०टी० पिल्लई का है, जो केरल की समाजवादी दल के नेता थे और उन्हें पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया इनकी नियुक्ति कांग्रेस ने अपने राजनीतिक हितों के लिए की थी ताकि केरल में कांग्रेस दल मंत्रिपरिषद पर नियन्त्रण कर सके। 1990 में चन्द्रशेखर सरकार द्वारा तमिलनाडु में कांग्रेसी नेता भीष्म नारायण सिंह की नियुक्ति भी राजनीतिक स्वार्थों से की गई थी।[3]

(4) चौथी श्रेणी में सेवानिवृत्त नौकरशाहों की नियुक्ति आती है। ये प्रसिद्ध प्रशासक रहे हैं और उन्हें राज्यपाल पद न केवल उनके अनुभव वरन् सत्ताधारी दल के प्रति वफादारी के कारण भी

---

1. भवानी सिंह- गर्वनर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन पृष्ठ- 31
2. के० सी० रेड्डी को मैसूर से हनुमंतैय्या के लिये, बी० गोपालरेड्डी को आन्ध्र से संजीव रेड्डी के लिए [illegible] राव, सुखाड़िया महताब आदि को भी इसी उद्देश्य से हटाया गया। 1985 में म० प्र० में अर्जुन सिंह मुख्यमंत्री [illegible] पर नियुक्ति के शीघ्र पश्चात पंजाब का राज्यपाल बनाया गया
3. चन्द्रशेखर की अल्पमत सरकार कांग्रेस के समर्थन से चल रही थी

प्रदान किया गया। अनेक सेवा निवृत्त नौकरशाह व सेना अधिकारी इस पद पर नियुक्त किये गये। कुछ नाम इस प्रकार हैं - एस. चक्रवर्ती (हिमाचल), धरमवीर (प.बंगाल), बी.एन. चक्रवर्ती (हरियाणा), सुखतांकर (उड़ीसा), गिरिजा शंकर बाजपेई (बम्बई महाराष्ट्र), वी. के. नेहरू और एल.पी.सिंह (असम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा), एल. के. झा, जगमोहन, गिरीश चन्द्र सक्सेना, वी. विश्वनाथन (केरल), गोविन्द नारायण और ए. एन. बनर्जी (कर्नाटक), एस. एल. खुराना,, पी. सी. एलेक्जेण्डर (तमिलनाडु, जनरल कृष्णाराव, एच. एम. बर्नी, सरला ग्रेवाल, होमी तलयार खान आदि।

(5) इस श्रेणी में वे विख्यात व्यक्ति आते हैं जिन्होंने बौद्धिक, शैक्षिक क्षेत्र में लम्बा अनुभव प्राप्त किया है। उदाहरण के लिये ए. एन. खोसला, पावटे, फजल झली, जी.एस. पाठक, विष्णुकान्त शास्त्री आदि।

(6) उच्चतम व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति इस श्रेणी में आती है। फातिमा बीवी, अंशुमान सिंह ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्यपाल पद पर नियुक्त व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े रहे हैं और उन्हें सार्वजनिक जीवन का लम्बा अनुभव प्राप्त रहा है। उनमें से कई ने राज्यपाल पद त्यागने के पश्चात् उच्चतर प्रशासनिक पदों को प्राप्त किया। उदाहरण के लिये वी०वी० गिरि जो उ० प्र० केरल और मैसूर के राज्यपाल बनने के पश्चात् भारत के उपराष्ट्रपति (1967-69) और फिर राष्ट्रपति (1969-74) बने। जी. एस. पाठक (मैसूर) उपराष्ट्रपति (1974-79) और 1977 में फकरूद्दीन की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक कार्यवाहक राष्ट्रपति रहे। शंकर दयाल शर्मा (महाराष्ट्र) उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति बने। राज्यपालों की सेवानिवृत्ति के पश्चात् राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पदों पर नियुक्ति तर्कसंगत मानी जा सकती है क्योंकि ये सभी पद पक्षपात पूर्ण राजनीति से ऊपर माने जाते हैं। परन्तु बहुत से उदाहरण हैं जब राज्यपाल पद से हटने के बाद व्यक्ति मुख्यमंत्री या केन्द्र में मंत्री बने या लोक सभा निर्वाचन में

प्रत्याशी बने।[1] यह स्वस्थ परम्परा नहीं है, क्योंकि मंत्री बनने के पश्चात् व्यक्ति केवल दल के सदस्य के रूप में कार्य करता है।

यद्यपि प्रशासनिक सुधार आयोग ने सलाह दी थी कि सेवानिवृत्ति के पश्चात् न्यायाधीशों को राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। न्यायाधीशों की स्वतंत्रता को न्यायाधीशों द्वारा उच्च कार्यपालिका पद प्राप्त करने की इच्छा से समझौता नहीं करना चाहिए। परन्तु भारत सरकार ने इस सलाह को प्रभावी बनाने के लिए संविधान में संशोधन नहीं किया। सरकार द्वारा दिया गया तर्क सही लगता है कि जब कभी राज्यपाल का पद रिक्त होता है, तो उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश और उसकी अनुपस्थित में वरिष्ठतम न्यायाधीश कार्यवाहक राज्यपाल के रूप में कार्य करता है। इसलिये सेवा निवृत्ति के पश्चात् न्यायाधीशों को इस पद पर नियुक्ति से रोकना गलत है जबकि राज्यपाल पद स्वतंत्रता व निष्पक्षता के गुण की मांग करता है।[2] एक न्यायाधीश इन गुणों का दावा कर सकता है।

यहां ध्यान दिये जाने योग्य तथ्य यह है कि केन्द्र के सत्ताधारी दल ने सदैव अपने हितों की पूर्ति हेतु अपने विश्वास पात्र व्यक्तियों को ही राज्यों में राज्यपाल पद पर नियुक्त किया है। नियुक्त किये जाते समय इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि नियुक्त होने वाले व्यक्ति की उसके कार्यकलापों हेतु न्यायालय द्वारा आलोचना हुयी है। उदाहरण के लिए श्री रामलाल की मंत्रीपद पर रहते हुये हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय ने आलोचना की थी और न्यायिक निंदा के कारण उन्हें मंत्रीपद त्यागना पड़ा था।[3] रामलाल ने बाद में आन्ध्रप्रदेश में सरकार गिराकर राज्यपाल पद की काफी बदनामी कराई।[4]

---

1. हरे कृष्ण मुख्यमंत्री, करन सिंह, देवकान्त बरूआ, अर्जुन सिंह, मोती लाल वोरा, केन्द्र में मंत्री बने। यहां नहीं ए. पी. जैन, अर्जुन सिंह, जोगिन्दर सिंह, भण्डारे, ए. पी. शर्मा, सुखाड़िया ने संसदीय निर्वाचन में प्रत्याशी के रूप में भागीदारी की।
2. भवानी सिंह - पूर्वोधृत पृ० 34
3. यू.एन. गुप्ता - इण्डियन फेडरलिज्म एण्ड यूनिटि ऑफ नेशन-सतीश चन्द्रा पृष्ठ - 220
4. नवाज बी. मोदी- रोल ऑफ गवर्नस सिन्स 1967, पृष्ठ 97 रामलाल को फारेस्ट स्कैण्डल के कारण अप्रैल 1983 में हिमाचल के मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा था और उनके विरुद्ध दल में विद्रोह हो गया था जिससे हिमांचल में कांग्रेस दल की काफी बदनामी हो रही थी।

इसी प्रकार जगमोहन को जम्मू काश्मीर का राज्यपाल बनाया गया जबकि दिल्ली के ले० गर्वनर पद पर रहते समय सर्वोच्च न्यायालय ने उनकी आलोचना की थी।[1] चेन्ना रेड्डी को भी उनके पूर्व के कटु अनुभवों के पश्चात् भी तमिलनाडु के राज्यपाल पद पर नियुक्त किया गया और मुख्यमंत्री व राज्यपाल के मध्य कटुता चरम सीमा पर पहुँच गयी।

इसी तरह 1996 में रोमेश भण्डारी की उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद पर नियुक्ति की गई और आश्चर्य जनक यह था कि केन्द्रीय गृह मंत्री ने इस नियुक्ति के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये यह तथ्य सार्वजनिक किया कि उन्हें नहीं मालूम कि यह नियुक्ति कैसे हुयी।[2] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्री भण्डारी के अपने पूर्व के त्रिपुरा के राज्यपाल पद पर रहते हुये मुख्यमंत्री से काफी कटुतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये थे। अन्तत: उनका स्थानान्तरण गोवा कर दिया गया था। उनकी पुन: राज्यपाल पद पर नियुक्ति राजनीतिक उद्देश्य से की गयी थी। बाद में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में उनके कार्यकलापों नें इसे पूर्णत: सिद्ध कर दिया।

संविधान निर्माताओं ने यह अपेक्षा की थी कि यदि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है तो वह गैर दलीय सदस्य होना चाहिए और उसे स्वयं को सक्रिय राजनीति से अलग रखना चाहिए। यहाँ तक कि प्रशासनिक सुधार आयोग ने सुझाव दिया तथा कि यह निश्चित परम्परा होनी चाहिए कि कोई व्यक्ति जो राज्यपाल पद पर नियुक्त होता है, वह नियुक्ति के पश्चात् सक्रिय राजनीति में भाग न ले।[3] परन्तु चूंकि सक्रिय राजनीतिज्ञों की राज्यपाल पद पर नियुक्ति होती रही है, इसलिए यह आशा अपूर्ण ही रही। अधिकांश राज्यपाल दल के सदस्य बने रहे हैं और सक्रिय राजनीति में भाग लिया। जैसा कि प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा गठित सीतलवाड़ समिति का कहना था कि ऐसे उदाहरण हैं जब राज्यपालों ने पद पर रहते हुए भी सक्रिय राजनीति में भाग लिया और कुछ ने पद से हटने के बाद सक्रिय राजनीति में रूचि ली।[4]

---

1. यू. एन. गुप्ता - पूर्वोधृत - पृष्ठ 220
2. चन्द्रभूषण पाण्डेय - गर्वनर - प्रिजर्वर - प्रोटेक्टर एण्ड डिफेन्डर ऑफ दि कान्सटीटयूशन - पृष्ठ 8
3. एच. ए. गनी - पूर्वोधृत पृष्ठ-21
4. प्रशासनिक सुधार आयोग, नई दिल्ली 1968, अध्याय 18 पैरा 17

1950 – 1967 के मध्य ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ राज्यपालों को सक्रिय राजनीति में रूचि लेने से रोकने के प्रयास किये गये। तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, जो स्वयं एक वरिष्ठ कांग्रेसी थे ऐसे मामलों में हस्तक्षेप कर राज्यपालों को सक्रिय राजनीति में रूचि न लेने के लिये सचेत किया और जो राज्यपाल स्वयं पर इस प्रकार का नियंत्रण न कर सका, उसने त्याग–पत्र दे दिया।[1] राजेन्द्र प्रसाद के ऐसे चार पत्र हैं जो राज्यपालों पर राष्ट्रपति के सर्वेक्षण की नीति का प्रतिपादन करते हैं।[2] पहला पत्र बाम्बे के गर्वनर श्री प्रकाश को 14 जनवरी 1959 में लिखित है, जिसके द्वारा उन्होंने राज्यपाल को अपने गहरे मित्र रफी अहमद किदवई के मैमोरियल फण्ड से जुड़ने के प्रति भी सचेत किया था। दूसरा 10 फरवरी 1959 जिसमें आन्ध्र प्रदेश के गर्वनर को अपने पद से किसी भी समय अनुपस्थित न रहने के लिये कहा गया था। इसी तरह का निर्देश मध्य प्रदेश के राज्यपाल श्री एच. वी. पाटसकर को दिया गया था। इसी क्रम में राजेन्द्र प्रसाद ने पंजाब के राज्यपाल एन. वी. गाड़गिल को राजनीतिक घोषणा करने के कारण स्वयं के सभ्य तरीके द्वारा हटा दिया गया। गाड़गिल को लिखे गये अपने पत्र 25 जुलाई 1959 में राष्ट्रपति ने लिखा, ''हमारे और तुम्हारे जैसे व्यक्तियों के लिये यही उचित होगा कि विवादित मामलों को सार्वजनिक रूप से विचार विमर्श न करें, विशेष रूप से ऐसे विषयों में जिससे हमारा प्रत्यक्ष सम्वन्ध नहीं है। सबसे अच्छा यही होगा कि प्रेस की आलोचना व विवाद का विषय न बने।''[3]

1967 से पूर्व जब कभी भी राज्यपाल व मुख्यमंत्री के मध्य विचारों में मदभेद हुआ राज्यपाल या तो हटा दिये गये या त्याग पत्र दिया अथवा स्थानान्तरित कर दिया गया। उदाहरणार्थ ए. पी. जैन केरल के भूतपूर्व राज्यपाल ने बिहार के राज्यपाल जयराम दास दौलत राम तथा मुख्यमंत्री श्री कृष्ण सिन्हा के मध्य विवाद का वर्णन किया है। उनके अनुसार, ''उस विषय पर मेरी श्री नेहरू से बात का मुझे स्मरण है। उनका निर्णय अनुभव व निरीक्षण पर आधारित था। उन्होंने कहा कि वह राष्ट्रपति को

---

1. गवर्नर इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन- एच. एन. गनी पृष्ठ - 22
2. प्रेसीडेन्टस ड्यूटी टैकलिंग एन इरैन्ट गर्वनर- ए0 जी0 नूरानी द्वारा दि स्टेटसमैन कलकत्ता दिनांक 8, 1973 पृष्ठ -8 पर उद्धृत
3. ए. जी नूरानी- पूर्वोधृत

सलाह देंगे कि राज्यपाल को हटा दें, लेकिन उन्हें निर्वाचित मुख्यमंत्री को बेदखल करने का अधिकार नहीं है।'' श्री जयराम दौलत राम ने राज्यपाल पद से त्याग पत्र दे दिया। कम या अधिक मात्रा में यही स्थिति उत्पन्न हुई जह राज्यपाल होमी मोदी को उ० प्र० के राज्यपाल पद से त्यागपत्र देना पड़ा।[1]

1967 के निर्वाचन के समय राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने स्पष्ट कहा था कि कांग्रेस सरकार ही केवल देश में स्थिरता व निरन्तरता दे सकती है।[2] 1970 में राज्य में लोकसभा निर्वाचन के समय श्री बी० के० नेहरू ने असम के राज्यपाल पद पर रहते हुए कांग्रेस दल के पक्ष में लेख लिखे।[3] मैसूर के राज्यपाल धर्मवीर ने कांग्रेस संसदीय दल के सेक्रेटरी के सम्मान समारोह की अध्यक्षता की।[4]

1966 में केरल के राज्यपाल ए०पी०जैन ने श्रीमती गाँधी के प्रधानमंत्री पद के प्रचार में सक्रिय भाग लिया यद्यपि बाद में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।[5] जैन ने अपनी स्थिति को उचित ठहराते हुए कहा था कि स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री के कहने पर राष्ट्र के नाम पर उन्होंने यह पद स्वीकार किया इस शर्त पर कि आम चुनाव से पूर्व वह सक्रिय राजनीति में प्रवेश करने के लिए पद त्याग कर देंगे।[6] पंजाब व पश्चिमबंगाल में जहाँ राज्यपालों ने राजनीतिक परिस्थितियों को सुलझाने में अपने-अपने राज्यों में सक्रिय भूमिका निभायी और इस कारण से वे संसद के साथ ही संसद के बाहर भी कटु आलोचना के पात्र बने। ''यह पहला अवसर था जब पश्चिम बंगाल के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री अजय मुखर्जी ने प्रधानमंत्री से आग्रह किया कि पश्चिम बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर को राज्य से वापस बुला लेना

---

1. ऑफिस आफ दि गर्वनर-ए क्रिटिकल स्टडी 1950-73 स्टर्लिंग पब्लिशर्स पृष्ठ 257-जे० आर० सिवाच
2. गनी - पूर्वोधृत पृष्ठ - 21
3. दि स्टेट्स मैन, 10 मार्च , 1971 पृ०-7
4. दि स्टेट्मैन, 7 फरवरी, 1972 पृष्ठ - 6
5. दि टेलीग्राफ, 5 अक्टूबर, 1983 - पृष्ठ - 6 दि डिक्लाईन ऑफ दि गवर्नर
6. एम. एस. डाहिया का कहना है कि यदि वह दृढ़ निश्चय थे सक्रिय राजनीति में लौटने के लिए और वह स्वयं का सच्चा कांग्रेस समझते थे तो उन्हें पद स्वीकार नहीं करना चाहिए था। (पृ० 38-39)

चाहिए ।''[1] 13 जून, 1971 को पंजाब विधान सभा को राज्यपाल डा० डी० सी०पावटे द्वारा भंग कर दिये जाने पर पंजाब कांग्रेस दल के सदस्यों द्वारा राज्यपाल को वापस बुलाने का आग्रह किया गया।

1972 के पश्चात् जोगेन्दर सिंह, एम. एम. चौधरी, मोहनलाल सुखाड़िया, डा. चेन्ना रेड्डी, आर. डी. भण्डारे कांग्रेस के वरिष्ठ सदस्य थे जिन्हें राज्य की राजनीतिक से दूर रखने के लिए राय्पाल पद पर नियुक्ति की गई। परन्तु 1977 में जब छठे आम निर्वाचन की घोषणा हुयी तो उन्होंने राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे दिया और संसदीय निर्वाचन में कांग्रेसी प्रत्याशी बने। यही नहीं जो राज्यपाल पद पर आसीन थे उन्होंने भी पद पर रहते हुए कांग्रेस दल के लिये कार्य किया । इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण कर्नाटक के राज्यपाल उमाशंकर दीक्षित का है, जिन्होंने श्रीमती इन्दिरा गाँधी के प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया और कार्ग्रेसी, प्रत्याशियों को टिकट बाँटने में सहयोग भी दिया। इसीलिए राज्य जनता पार्टी ने राज्यपाल को वापस बुलाने की मांग की।[2]

केन्द्र में जनता पार्टी सरकार के कार्यकाल में भी इस पद पर राजनीतिज्ञों की नियुक्ति की गई और प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने अपनी इच्छा से एक साथ दस राज्यपालों की नियुक्ति की। जनता सरकार की राज्यपालों सम्बन्धी कार्य प्रणाली कांग्रेसी सरकार से भिन्न नहीं थी। राज्यसभा में प्रधानमंत्री ने इस बात को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया कि राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में संसद की सलाह को महत्व दिया जाना चाहिए।[3]

फरवरी 1988 में आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री ने राज्यपाल कुमुद बेन जोशी की शिकायत राष्ट्रपति से की और राज्यपाल का केवल कांग्रेस (ई) विधायकों के निर्वाचन क्षेत्रों के दौरे की भी आलोचना करते हुये राजभवन को राजीव भवन बनाने का आरोप लगाया।[4] इसी तरह महाराष्ट्र के राज्यपाल वसन्त दादा पाटिल की सक्रिय राजनीति में रूचि भी आलोचना का केन्द्र बनी थी। तमिल्ननाडु

---

1. दि हिन्दुस्तान, टाइम्स 25 फरवरी, 1967 पृष्ठ - 1
2. पी. एल. माथुर - रोल ऑफ गवर्नसरस इन नान कांग्रेस स्ट्ेटस, पृष्ठ 39
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स - 17 मार्च, 1979
4. इण्डियन एक्सप्रेस, 11 फरवरी, 1988, पृष्ठ-1

में जयललिता व चेन्ना रेड्डी के मध्य कटुता का सम्बन्ध सर्वविदित है और केन्द्र ने उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया।[1] इससे पूर्व भी डा. चेन्ना रेड्डी आठवें दशक में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे और मुख्यमंत्री स्वर्गीय श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा थे। डा० रेड्डी को बहुगुणा जी फूटी आँख नहीं सुहाते थे और स्थिति कटुता तक पहुँच गयी थी। दोनों के मध्य भीतरी कलह का परिणाम हुआ कि तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी ने आपातकाल के कुछ ही समय पश्चात् बहुगुणा जी से इस्तीफा मांग लिया।[2]

सितन्बर 1983 में प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी की सिक्किम यात्रा से राज्य के राज्यपाल होमी तलयार खान और मुख्यमंत्री के मध्य विवाद और उजागर हुये। मुख्यमंत्री प्रधानमंत्री की यात्रा अक्टूबर में चाहते थे जबकि राज्यपाल के प्रयासों से यह सितम्बर में ही हुई। यही नहीं, दो असन्तुष्ट नेताओं की प्रधानमंत्री से मुलाकात, राज्यपाल की मध्यस्थता से सम्पन्न हुयी और पूर्णतया राजनीतिक दल की बैठक में प्रधानमंत्री के साथ राज्यपाल मंच पर विराजमान रहे, जो गलत था।। इस प्रश्न को संसद में विपक्ष के नेता मधु दंडवते द्वारा भी उठाया गया था।[3] राजस्थान के राज्यपाल बलिराम भगत ने भी सक्रिय राजनीति में रूचि दिखायी ओर यहाँ तक कहा गया कि राज्य में निर्वाचन के उम्मीदवारों की लिस्ट बनाने से पहले कांग्रेस हाई कमान ने राज्यपाल के विचार लिये तथा कार्ग्रेस से हमदर्दी रखने वाले लोक सेवकों को प्रमुख पद प्रदान किये।[4] मुख्यमंत्री भैरों सिंह शेखावत ने भी विधान सभा निर्वाचन में राज्यपाल पर कांग्रेस के साथ काम करने का आरोप लगाया था। उनका कहना था कि किसी राज्यपाल ने पद की गरिमा को इतना नीचा नहीं किया जितना कि श्री भगत ने।[5]

राज्यपालों की राजनीति में रूचि सदैव बनी रही है। आसाम के राज्यपाल हरिदेव जोशी ने दिसम्बर 1989 में पद से त्याग पत्र इसलिए दिया क्योंकि उन्हें राजस्थान में मुख्यमंत्री पद

---

1. राष्ट्रीय सहारा, 31 जनवरी, 1994 पृष्ठ-6
2. राष्ट्रीय सहारा, 31 जनवरी, 1994 - पृष्ठ-6 विवादास्पद क्यों बन रहे हैं राज्यपाल- सुरेन्द्र द्विवेदी
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 7 सितम्बर, 1983, पृष्ठ - 5, पी. एम्स विजिट एक्सपोज्ड सी. एम.-गवर्नर रिफ्ट
4. इण्डियन एक्सप्रेस, 15 अक्टूबर 1993, राजस्थान गवर्नर टू फाइनलाइज कन्डीडेट्स लिस्ट
5. सन्डे टाइम्स, 31 अक्टूबर 1993, पृष्ठ - 9

सम्हालना था।[1] सितम्बर 1995 में हिमांचल प्रदेश के राज्यपाल सुधाकर राव नाइक ने राज्यपाल पद से त्यागपत्र दिया ताकि वह सक्रिय राजनीति में जा सकें ।[2] इससे पूर्व हिमाचल के राज्यपाल गुल शेर अहमद को म0प्र0 में अपने पुत्र के निर्वाचन में सक्रिय सहयोग देने के कारण त्याग पत्र देना पड़ा ।

महाराष्ट्र के पूर्व राज्यपाल सी. सुब्रामनियम का मानना है कि यह आवश्यक है कि ऐसे नियम व कानून बने कि राजनीतिक दल के सक्रिय सदस्य राज्यपाल नियुक्त न हों और राज्यपाल नियुक्त व्यक्ति पुनः सक्रिय राजनीति में रूचि नहीं ले सके ।[3]

राज्यपालों द्वारा सक्रिय राजनीति में भाग लेने वह केन्द्र के निर्देश पर कार्य करने के कारण राज्यपालों की नियुक्ति प्रायः केन्द्र व राज्य के मध्य तनाव का कारण बनी हैं। प्रायः जिन राज्यों में इस सम्बन्ध में विरोध उत्पन्न हुआ है, वहाँ पर केन्द्र में सत्ताधारी दल से भिन्न राजनीतिक दल की सरकार रही है। अतः यह समस्या सवैधानिक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक है समस्या की जड़ केन्द्र में सत्ताधारी दल के प्रति राज्यों की भिन्न दलों की सरकार का अविश्वास है।

प्रायः कांग्रेस दल ने सत्ता में रहते हुये राज्यों की सरकार को राज्पाल की नियुक्ति के माध्यम से हटाने का प्रयत्न किया या अपने दल के हित में कार्य करवाने का प्रयत्न किया । इसलिये समय समय पर राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी प्रक्रिया में संशोधन की मांग उठती रही है । प्रशासनिक सुधार आयोग ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर विचार करते समय राज्यपाल की नियुक्ति सम्बन्धी कई सुझावों पर विचार किया और अन्त में सुझाव दिया कि नियुक्ति सम्बन्धी प्रक्रिया में संशोधन की आवश्यकता नहीं है, परन्तु राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह करने की परम्परा एक स्वस्थ परम्परा है, अतएव इसे जारी रखना चाहिए । इसी तरह से 1969 में तमिलनाडू की डी. एम. के. सरकार द्वारा गठित राजमन्नार समिति ने सुझाव दिया कि राज्याध्यक्ष व राज्यमंत्रिपरिषद के मध्य समरसतापूर्ण सम्बन्ध बनाने के लिए आवश्यक है कि राज्य मंत्री परिषद से राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सलाह अवश्य ली जाये ।

---

1. भावना मिश्रा - दि रोल ऑफ गर्वनरस इन इण्डिया - नार्दन इण्डिया पत्रिका, 25 सितम्बर 1993, पृष्ठ 6
2. एशियन रिकार्डर, 1 अक्टूबर - 7 अक्टूबर 1995, पृष्ठ - 25106
3. अवर लीडर (इलाहाबाद) 28 जनवरी, 1994 - न्यू नार्म्स फॉर गवर्नरस अपाइन्टमेन्ट

प्रतिष्ठित संसद सदस्य नाथ पाई का सुझाव था कि राज्यपाल की नियुक्ति संसद के अनुमोदन पर होनी चाहिए।[1] विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं ने इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत व्यक्ति किये हैं। जन संघ नेता अटल बिहारी बाजपेयी का मत था कि मुख्यमंत्री के सम्मुख नामों का एक पैनल प्रस्तुत किया जाना चाहिए जिसमे से एक नाम चुना जा सके। यह सुझाव भी स्वीकृत नहीं किया जा सका। इसके पीछे पहला कारण था कि केन्द्रीय सरकार अपने समर्थक व्यक्तियों का नाम पैनल में रखेगी जो सत्ताधारी दल का हित साध न कर सके। द्वितीय: यह आवश्यक नहीं है कि मुख्यमंत्री उनमें से किसी एक नाम का अनुमोदन करे। कांग्रेस (ओ) के नेता डा० राम सुभग सिंह का सुझाव था कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा निष्पक्ष सलाहकारों की परिषद की सलाह व सहायता से करनी चाहिये, परन्तु उन्होंने निष्पक्ष सलाहकारों के चयन के सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं दिया।

उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश के० सुब्बा राव और पूर्व राज्यपाल के सन्थानम का विचार था कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उच्च शक्ति प्राप्त संस्था के सलाह से करनी चाहिए। परन्तु इस उच्च शक्ति प्राप्त संस्था का गठन कैसे होगा इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया।

अन्त में यदि केन्द्र व राज्यों के मध्य राज्यपालों की नियुक्ति से उत्पन्न विवादों को कम करना है तो आवश्यक है कि नियुक्ति से पूर्व राज्य सरकार से परामर्श अवश्य किया जाय। दूसरी बात यह है कि सक्रिय राजनीतिज्ञों या महत्वाकांक्षी व्यक्तियों की इस पद पर नियुक्ति न की जाये। इसके साथ ही गरिमामय पद पर आसीन व्यक्तियों से यह आश्वासन लिया जाये कि सेवा निवृत्ति के पश्चात् वह सक्रिय राजनीति में सहभागी नहीं होंगे। इस सम्बन्ध में यह बताना जरूरी है कि केन्द्र को केवल असन्तुष्ट या हारे हुए राजनीतिज्ञों को राज्यपाल जैसे महत्वपूर्ण एवं गरिमामय पद पर नियुक्त करने के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। केन्द्र ने राज्यपाल के रूप में उचित गुणों से युक्त व्यक्तियों को भी सुप्रशासन हेतु इस पद पर नियुक्त किया है, जैसे श्रीमती अरुणा आसफ अली, श्रीमती सरोजनी नायडू, डा० के० एन काटजू, श्री के० एम० मुन्शी, डा० एस० डी० शर्मा, श्री प्रकाश चन्द्र, महरोत्रा, प्रो नूरूल हसन, मोहन लाल सुखाड़िया आदि। इनके अतिरिक्त प्रतिष्ठित व्यक्ति जैसे डा० ए० एन०

---

1. पी० एल0 माधुर - रोल ऑफ गवर्नरस इन नॉन कांग्रेस स्टेट्स- पृष्ठ-40

खोसला, फजल अली, एल.के.झा, जी.एस. पाठक, एस. एस. धवन, सिद्धार्थ शंकर रे, जेनरल के० वी० कृष्णाराव ने भी अपने - अपने राज्यों में सुप्रशासन द्वारा राज्यपाल पद को गरिमा प्रदान की। अतएव यह कहा जा सकता है कि यदि केन्द्र राज्यपालों के माध्यम से अपने दल के राजनीतिक हितों को प्राप्त न करना चाहे और इस कारण केवल योग्य व्यक्तियों को ही इस पद पर नियुक्त करे तो केन्द्र व राज्यों के मध्य नियुक्ति के प्रश्न को लेकर उठे विवाद को कम करने में सहायता अवश्य मिलेगी।

राज्यपालों की नियुक्तियों से उत्पन्न विवाद से ही सम्बन्धित अन्य समस्या उनकी पदच्युति को लेकर है। प्राय: केन्द्र पर यह आरोप लगाया जाता है कि जिस तरह राज्यपालों की नियुक्ति के माध्यम से केन्द्र राज्यों की राजनीति व प्रशासन में हस्तक्षेप करता है उसी तरह केन्द्र अपने अनुकूल कार्य करने वाले राज्यपालों को तो पद पर बने रहने देता है परन्तु जो राज्यपाल केन्द्र की इच्छा के विपरीत स्वतंत्रता व निष्पक्षतापूर्वक कार्य करना चाहते हैं, तो उन्हें या तो उनके कार्यकाल पूरा होने से पहले पदच्युत कर दिया जाता है या त्यागपत्र ले लिया जाता है अथवा उन्हें दूसरे राज्यों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। केन्द्र इस शक्ति का दुरूपयोग संविधान में वर्णित शक्तियों के आधार पर ही करता है।

राज्यपालों की पदच्युति :-

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 156 (1) के अनुसार राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर कार्य करता है। राज्यपाल अपने पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष तक अपने पद पर कार्य करेगा और पदावधि की समाप्ति के पश्चात् भी उत्तराधिकारी के पद ग्रहण तक वह अपने पद पर कार्यरत रहेगा।[1] यद्यपि पदावधि से पूर्व भी वह राष्ट्रपति को सम्बोधित कर अपना त्यागपत्र दे सकता है।[2]

जब संविधान सभा में अनुच्छेद 156 पर विचार-विमर्श किया जा रहा था तो यह आशंका व्यक्त की गई थी कि यदि राज्यपाल को राष्ट्रपति के 'प्रसाद' पर छोड़ दिया गया तो इससे न केवल राज्यपाल की स्थिति कमजोर होगी वरन् उसकी स्वतन्त्रता भी कम होगी। इसलिये उसे महाभियोग द्वारा हटाने का सुझाव दिया गया, परन्तु यह प्रस्ताव संविधान सभा द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।[3]

---

1. अनुच्छेद 156 (3)
2. अनुच्छेद 156 (2)
3. कान्स्टीट्यून्ट असेम्वली डिबेट- वाल्यूम VIII पृष्ठ 473-474

संविधान में यह कहीं स्पष्ट नही किया गया है कि किन आधारों पर राष्ट्रपति अपना 'प्रसाद' प्रतिसंहरण कर सकता है। चूंकि राज्यपाल पर महाभियोग लगाने की कोई व्यवस्था नहीं है, अतएव अपना पद ग्रहण करने से पूर्व ली गई शपथ के उल्लंघन के आधार पर ही केवल राज्यपाल को उसके पद से हटाया जा सकता है। संविधान का उल्लंघन कब माना जाये, यह केन्द्र के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जो कि राज्यपाल के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की जांच करता है। .... राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करता है अतएव यह समझा जाता है कि यदि राज्यपाल केन्द्रीय मंत्रि परिषद की नीतियों के विरुद्ध कार्य करता है तो वह पदच्युत होने का जोखिम उठाता है।[1] परन्तु यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार कि कार्यवाही नि:सन्देह रूप से यदि दुर्भवनापूर्ण और आवैधानिक नहीं तो संविधान की भावना के विरूद्ध होगी। कानूनी परिणाम पर सोच विचार किये बिना राज्यपालों को केन्द्र की सनक पर हटाने की प्रथा चली आ रही है। संवैधानिक सुरक्षा कवच के अभाव में केन्द्र के सत्ताधीन राजनीतिक दलों ने प्राय: अपने निहित स्वार्थों के लिये राज्यपाल को उसके पद से हटाने के प्रावधानों का दुरूपयोग किया है। राज्यपालों को या तो हटा दिया जाता है या फिर उन्हें स्थानान्तरित कर दिया जाता है, जिसकी कभी संविधान निर्माताओं ने कल्पना भी नहीं की थी।

1967 के चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् विपक्षी दलों ने कई राज्यों में सत्ता प्राप्त कर ली थी और प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने राज्यपालों के माध्यम से राज्य की सत्ता पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस परम्परा को कालान्तर में सभी सत्ताधारी राजनीतिक दलों ने कम या अधिक मात्रा में अपनाया। इस प्रकार कार्यकाल की असुरक्षा और दिये गये अधिकारों की निर्भरता के आधार पर राज्यपाल का पद दबावों व सन्देहों का विषय बन गया। श्री एल०एम० सिंघवी के अनुसार ''राज्यपाल पद अब अन्ध संवैधानिक गली (Alley) बन गया है।''[2]

संविधान निर्माता इस पक्ष पर ज्यादा ध्यान नहीं दे सके क्योंकि उस समय सरकार में जोलोग थे, उनकी निष्ठा असंदिग्ध थी और साथ ही साथ लोक एवं संवैधानिक नैतिकता का स्तर इतना ऊंचा था

---

1. बी० के० वरदचारी - गवर्नरस इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन, पृष्ठ 130
2. टाइम्स ऑफ इण्डिया, 2 अक्टूबर 1970, पृष्ठ- 3।

कि शक्ति के दुरूपयोग के खतरे को वे आसानी से दूर कर देते थे। संवैधानिक प्रावधानों की केन्द्रीय सरकार द्वारा रक्षा की जाती थी, परन्तु कालान्तर में संविधान निर्माताओं की इच्छायें पूरी न हो सकीं और सिद्धान्त और व्यवहार में काफी अन्तर हो गया। केन्द्र में सत्ताधारी दल ने अपनी सुविधानुसार राज्यपालों को पद से हटा दिया, स्थानान्तरित कर दिया या फिर उनके कार्यकाल में वृद्धि कर दी।

1971 में पश्चिम बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर को अपने कार्यकाल समाप्त होने से काफी पहले त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि उन्होंने मार्क्सवादी दल को विधान सभा में बहुमत सिद्ध करने का निमंत्रण दिया था।[1] महाराष्ट्र के राज्यपाल प्रकाश मेहरा का बिना कोई कारण बताये राजस्थान स्थानान्तरण कर दिया गया। ऐसा तब किया गया जब महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ए. आर. अन्तुले ने न्यायाधीश लेन्टिन के न्यायिक निर्णय के बाद त्याग पत्र दे दिया था। श्री मेहरा के स्थान पर नियुक्त राज्यपाल एयर चीफ मार्शल श्री लतीफ ने नियुक्ति के पश्चात् अन्तुले के विरुद्ध अभियोग चलाने की अनुमति प्रदान की ।[2]

तमिलनाडु के राज्यपाल श्री प्रभुदास पटवारी स्वतन्त्र भारत के प्रथम राज्यपाल थे जिन्हें 1980 में पांच साल का कार्यकाल पूरा करने से पहले पदच्युत किया गया। श्री पटवारी की नियुक्ति जनता पार्टी सरकार ने की थी। उनको पदच्युत करने के पीछे एक कारण यह भी था कि वह गाँधीवादी विचारधारा के व्यक्ति थे और गाँधीवादी आदर्शों के अनुरूप उन्होंने राजभवन में मद्यपान, धूम्रपान व मांसाहारी भोजन पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, जिससे कई विशिष्ट व्यक्तियों का मनोरंजन व आतिथ्य करने में वह असफल रहे थे।[3] इसके साथ ही केन्द्र की कांग्रेस (आई) सरकार का यह मानना था कि राज्यपाल को उसी समय त्यागपत्र दे देना चाहिए जिस समय नयी सरकार सत्ता में आती है और फलस्वरूप 26 अक्टूबर 1980 को राष्ट्रपति के प्रसाद प्रतिसंहरण के कारण श्री पटवारी को पद से हटा दिया गया।[4] इसी तरह गोवा के उपराज्यपाल प्रताप सिंह गिल को बर्खास्त किया गया।

---

1. राजीव धवन - प्रेसीडेन्टस रूल इन दि स्टेट्स, 1979 पृष्ठ - 118
2. नवाज बी. मोदी - रोल ऑफ गवर्नर सिन्स 1967, जरनल ऑफ कान्स्टीटूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज 20 (1-4) जनवरी, 1986 पृष्ठ - 98
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 20 अगस्त 1980, सम्पादकीय, दि डिसमिसल ऑफ ए गवर्नर ।
4. दि टाइम्स अफ इण्डिया, 27 अक्टूबर 1980

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि श्री पटवारी और गोवा के उपराज्यपाल प्रताप सिंह गिल दोनों को त्याग-पत्र देने के लिए कहा गया था परन्तु दोनों ने त्यागपत्र नहीं दिया था। राजस्थान के राज्यपाल श्री रघुकुल तिलक का मामला भी सर्वविदित है। उनकी नियुक्ति भी जनता दल सरकार द्वारा 1977 में की गयी थी और 1980 में कांग्रेस (आई) ने सत्ता में आते ही उनको पदच्युत कर दिया। वास्तव में श्री तिलक का चार वर्षीय कार्यकाल विवादित था और संविधान द्वारा परिभाषित राज्यपाल पद सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए। श्री तिलक राजस्थान लोक सेवा आयोग के सदस्य थे जब उनकी नियुक्ति राज्यपाल पद पर ली गयी। उनकी नियुक्ति को उच्चतम न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत किया गया कि संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य को राज्य सरकार या केन्द्र सरकार द्वारा पुनः नियुक्त नहीं किया जा सकता है। 1978 में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्यपाल का पद स्वतंत्र संवैधानिक पद है, जो भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन नहीं है और तिलक की नियुक्ति सम्बन्धी याचिका को रद्द कर दिया।[1] इस न्यायिक निर्णय के उपरान्त भी तत्कालीन गृहमंत्री श्री ज्ञानी जैल सिंह द्वारा तिलक को त्यागपत्र देने के लिए कहा गया परन्तु उन्होंने केन्द्र के सामने झुकने से इन्कार कर दिया। तत्पश्चात् केन्द्रीय गृह मंत्रालय का एक प्रतिनिधि राजस्थान गया और राष्ट्रपति का पत्र श्री तिलक को दिया, जिसके अनुसार उन्हें 8 अगस्त 1981 को तत्कालिक प्रभाव से पदच्युत कर दिया गया।[2] इसी प्रकार पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री टी० एन० सिंह ने अगस्त 1981 के अन्तिम सप्ताह में अपना सामान्य कार्यकाल पूरा होने के पूर्व त्यागपत्र दे दिया।[3] यह अनुमान लगाया गया था कि श्री सिंह ने स्वेच्छा से त्यागपत्र नहीं दिया वरन् उन्हें केन्द्र सरकार द्वारा त्यागपत्र देने के लिये बाध्य किया गया था। केन्द्र सरकार श्री सिंह को और अधिक समय तक पश्चिम बंगाल में रहने नहीं देना चाहती थी क्योंकि उसे आशंका थी कि श्री सिंह केन्द्र के इशारों पर कार्य नहीं करेंगे। सी० पी० आई० (एम) के सांसद श्री नीरेन घोष का आरोप था कि श्री सिंह को पश्चिम बंगाल के राज्यपाल पद से इसलिए हटाया गया है

---

1. ए० आई० आर० 1979, एस० सी० - 1109
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया 9 अगस्त, 1981 तथा एशियन रिकार्डर, 3-9 सितम्बर 1981, पृष्ठ - 16205
3. दि स्टेट्स मैन 26 अगस्त 1981, श्री सिंह की राज्यपाल पद की अवधि एक वर्ष शेष थी

ताकि राज्य सरकार को किसी भी प्रकार से गिराकर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सके।[1] यद्यपि यह आशंका सत्य साबित नहीं हुयी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि श्री सिंह को पद से हटाते समय वह अपमान जनक तरीका नहीं अपनाया गया जैसा श्री पटवारी तथा श्री तिलक के साथ अपनाया गया था। दूसरी बात यह है कि श्री सिंह को राजस्थान के राज्यपाल पद प्रदान करने का प्रस्ताव भी रखा गया था, जिसे स्वीकृत करने की श्री सिंह ने अनिच्छा व्यक्त की थी,[2] जबकि वास्तव में श्री परवारी तथा श्री तिलक को ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया गया था।

भारत के उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री एच. आर. खन्ना ने केन्द्र सरकार द्वारा राज्यपालों को हटाये जाने की आलोचना करते हुये कहा कि केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ राज्यपालों को हटाने का प्रयास राज्यपाल पद के पक्षपाती स्वरूप को उजागर करेगा और राज्यपाल को केन्द्र की राजनीतिक व्यवस्था के एक अंग के रूप में स्थापित करेगा । श्री खन्ना ने चेतावनी दी कि इससे व्यक्ति के राज्यपाल पद की निष्पक्षता में अविश्वास उत्पन्न होगा और उसे राज्य के राजनीतिक जीवन से जुड़े विभिन्न वर्गों की दृष्टि में आरोपी बनाने में सहायता मिलेगी ।[3]

केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ साथ राज्यों के राज्यपालों को परिवर्तित करने की परम्परा का 1989 में श्री वी.पी. सिंह के नेतृत्व में गठित राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने भी अनुसरण किया । 14 जनवरी, 1990 को तत्कालीन गृहमंत्री श्री मुफ्ती मोहम्मद सईद द्वारा पदमुक्त किये जाने वाले राज्यपालों की एक सूची राष्ट्रपति को दी गई । राष्ट्रपति वैंकट रमन का मानना था कि कुछ राज्यपालों को हटाना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा, अतएव प्रधानमंत्री से विचार विमर्श के पश्चात् राष्ट्रपति ने यह निर्णय लिया कि सभी राज्यपालों से त्यागपत्र ले लिया जाय और केवल उन्हीं राज्यपालों के त्यागपत्र स्वीकृत किये जायें जिनको केन्द्र सरकार हटाना चाहती है ।[4] केन्द्रीय गृहमंत्री का यह कथन कि

---

1. दि स्टेट्समैन 15 सितम्बर, 1981
2. दि स्टेट्समैन 26 अगस्त, 1981
3. सिवरंजन चैटर्जी - गवर्नस रोल इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ठ 180 पर उद्धृत
4. पंजाब के तत्कालीन राज्यपाल सिद्धार्थ शंकर रे को भी त्याग पत्र देने के लिए बाध्य किया गया जबकि उन्होंने पंजाब में आतंकवादी गतिविधियों का दृढ़ता से सामना किया था।

केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ राज्यपालों को त्याग पत्र दे देना चाहिए कटु आलोचना का विषय बना। जनवरी माह में लगभग सभी राज्यपालों ने त्याग पत्र दे दिए। कांग्रेस (आई) ने राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की आलोचना की।[1] श्री गुलाम नबी आजाद का कहना था कि यद्यपि अल्पमत सरकार को शासन करने की संवैधानिक सत्ता प्राप्त है परन्तु उसे स्थापित व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने का जनमत प्राप्त नहीं है। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का इस प्रकार का दृष्टिकोण राज्यपाल पद की गरिमा व स्तर को कम करते हुये इस उच्च पद को वास्तविक रूप से राजनीतिकरण की ओर ले जायेगा। हमारे प्रजातंत्र में यह सामान्य तथ्य है कि मुख्यमंत्री चुनाव परिणामों के आधार पर पद ग्रहण करता है परन्तु यह पूर्णतया प्रजातांत्रिक नियमों के विरूद्ध है कि राज्यपाल का पद निर्वाचन परिणाम पर निर्भर करे। वास्तव में हमारी व्यवस्था का ढांचा ऐसा है कि राज्य की निरन्तरता राज्यपाल पद में निहित है। निर्वाचन तो मात्र यह निर्धारित करता है कि मुख्यमंत्री कौन होना चाहिए।[2] तमिलनाडु के राज्यपाल सुरजीत सिंह बरनाला का मामला राज्यपाल पद का केन्द्र द्वारा दुरूपयोग का एक अन्य उदाहरण है। 30 जनवरी, 1991 को केन्द्र सरकार ने तमिलनाड में कानून व व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जबकि राज्यपाल ने इस सम्बन्ध में कोई रिपोर्ट केन्द्र को प्रेषित नहीं की थी। केन्द्र सरकार ने इसी कारण बरनाला को बिहार के राज्यपाल पद पर स्थानान्तरित कर दिया और इस सम्बन्ध में राज्यपाल से परामर्श भी नहीं किया गया।[3] श्री बरनाला के विचार में यह सामान्य औपचारिकता के विरूद्ध था। डा. अम्बेडकर ने 'थोपे गये राज्यपाल

---

1. यद्यपि 1980 में सत्ता ग्रहण करने पर कांग्रेस (आई) ने स्वयं यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया था।
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स 19 जनवरी 1990 पृष्ठ 10 अन्य आलोचनाओं के लिये देखें -

   (क) दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 जनवरी, 1990

   एस. सहाय - रिमूवल ऑफ गवर्नरस - ए रॉग प्रेसिडेन्ट पृष्ठ 13

   (ख) वही - 22 जनवरी, 1990, अरविन्द घोष - कैन प्रेसीडेन्ट आस्क गर्वनर्स टू क्विट

   (ग) दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 17 जनवरी, 1990 सम्पादकीय - रिप्लेसिंग गवर्नर
3. घटनाक्रम के अनुसार 14 जनवरी, को राज्यपाल के सलाहकारों व मुख्य सचिव ने राज्यपाल को सूचित किया कि उनका बिहार स्थानान्तरण करने हेतु कागजात राष्ट्रपति के पास भेजे गये हैं।

पद' का सृजन नहीं किया था। राज्यपाल की नियुक्ति राज्य सरकार के परामर्श व सहमति से होनी थी।

करूणानिधि सरकार ने बरनाला की नियुयक्ति को सहमति प्रदान की थी परन्तु जब बरनाला स्वयं राज्य सरकार का नेतृत्व कर रहे थे,[1] तब केन्द्र सरकार ने उनसे उनके स्वयं के स्थानान्तरण के विषय में पूछने या कम से कम सहमति लेने का कष्ट नहीं किया । बरनाला ने राज्यपाल के सरकारी कर्मचारियों के समान स्थानान्तरण के विरूद्ध कड़ा रूख अपनाया और विरोध स्वरूप अपना त्यागपत्र केन्द्र को भेज दिया।[2] बरनाला के स्थान पर चन्द्रशेखर सरकार ने कांग्रेस (आई) के नेता भीष्म नारायण सिंह की नियुक्ति की।[3] तमिलनाडु के राज्यपाल के त्यागपत्र के घटनाक्रम से ही बिहार के राज्यपाल यूनुस सलीम की पदच्युति भी सम्बन्धित है । यूनुस सलीम ने राज्य विधान सभा के अपने प्रथम सम्बोधन में तमिलनाडु सरकार की बर्खास्तगी की आलोचना की थी । राज्यपाल के अभिभाषण के शब्द थे - ''इस सरकार (तमिलनाडु) को विधान सभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त था और राज्यपाल ने भी संवैधानिक विफलता की किसी सम्भावना का संकेत नहीं किया था। यह कार्यवाही लोकतांत्रिक मूल्यों पर प्रहार है और साथ ही राज्यों की स्वायत्तता पर भी आक्रमण है । इसलिए हमारी सरकार इस कार्यवाही से नाराजगी व्यक्त करती है ।'' केन्द्र सरकार का मानना था कि इन शब्दों को राज्यपाल अभिभाषण से निकाल देते। प्रश्न उठता है कि क्या राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्णयों की आलोचना करने का अधिकार है? इस सम्बन्ध में ए. जी. नूरानी का मानना है कि राज्यपाल को राष्ट्रपनि के विवेकाधिकार से लिये गये निर्णयों की आलोचना करने का अधिकार नहीं है, जैसे कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति । परन्तु उसे केन्द्रीय सरकार द्वारा लिये गये निर्णयों की आलोचना करने का पूरा अधिकार है और संविधान के अनुसार यह निर्णय राष्ट्रपति के नाम से लिये जाते हैं, अतएव राष्ट्रपति की इस रूप

---

1. क्योंकि वहां राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था।
2. नाट ए रबर स्टैम्प - फ्रन्ट लाईन- 2 मार्च से 15 मार्च 1991, पृष्ठ 35-36
3. यहाँ उल्लेखनीय है कि चन्द्रशेखर की अल्पमत सरकार को कांग्रेस (आई)का समर्थन प्राप्त था और यही कारण था कि चन्द्रशेखर सरकार उसके दबाव में कार्य कर रहीं थी और तमिलनाडु सरकार की बर्खास्तगी भी इसी का परिणाम थी।

में आलोचना कर सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राज्यपाल सरकारी तौर पर राज्य सरकार के रूप में बोलता है अपने व्यक्तिगत विचार नहीं। अतएव इसे उसके व्यक्तिगत विचार नहीं मानने चाहिए । इस अधिकार को अमान्य करने के परिणाम स्वरूप राज्यों को केन्द्रीय नीतियों की राज्य विधान सभा में चर्चा करने के अधिकार का हनन होगा।[1]

प्रसिद्ध न्यायविद जी. एस. पाठक जब उपराष्ट्रपति थे, तब एक भाषण में 3 अप्रैल, 1970 को राज्यपालों के विषय में कहा था, "उन क्षेत्रों में जहाँ वह मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य है, वहां उन्हें स्पष्ट कारणों से केन्द्र से स्वतंत्र होना चाहिए । ऐसे मामले हो सकते हैं जहाँ केन्द्र की सलाह, राज्य मंत्रिपरिषद की सलाह के विरूद्ध हो, तो ऐसे मामलों में राज्यपाल को केन्द्र की सलाह पर ध्यान नहीं देना चाहिए एवं अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करना चाहिए ।"[2]

इससे पूर्व पश्चिम बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने अजय मुखर्जी मंत्रिपरिषद द्वारा तैयार भाषण के कुछ अंश पढ़ने से इन्कार कर दिया था परन्तु इसलिये नहीं कि उसमे केन्द्र की आलोचना की गयी थी, वरन् इसलिये कि इसमें स्वयं उनके विरूद्ध दोषारोपण किया गया था। अपने संस्मरण [3] में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि, "मेरा स्वयं का दृष्टिकोण सीधा व स्पष्ट था। अपनी समस्त परम्पराओं एवं व्यवहारों के साथ संसदीय सरकार शताब्दियों से अस्तित्व में है। परन्तु इसके इतिहास में कभी भी किसी सरकार के प्रमुख को ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा होगा जिसमे उसे स्वयं की निंदा से युक्त प्रपत्र को पढ़ना पड़े "।[4]

इसी तरह जनवरी 1968 में केरल के राज्यपाल पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने

---

1. फ्रन्टलाईन 2-15 मार्च 1991 - गवर्नर - ए रोल डिनाइड - ए.जी. नूरानी पृष्ठ 33-34
2. फ्रन्ट लाईन पूर्वोधृत पृष्ठ 34
3. फ्रन्ट लाईन पूर्वोधृत पृष्ठ 34
4. पश्चिम बंगाल में संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी की निंदा भाषण में की गयी थी जिससे केन्द्र सरकार की कार्यवाही की आलोचना भी होनी थी। इसके अतिरिक्त इस बर्खास्तगी से सम्बन्धित विधिक कार्यवाही उच्चतम न्यायालय में विचाराधीन थी।

मंत्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत भाषण को परिवर्तित किया था। उन्होंने एक वाक्य में से एक शव्द 'विचारधारात्मक' निकाला था। इस वाक्य में मंत्रिपरिषद के सदस्यों के मध्य 'विचारधारात्मक' मतभेद के बावजूद सामंजस्यता की बात कही गयी थी । उनके विरूद्ध यह भी आरोप था कि उन्होंने केरल को आवंटित चावलो के दामों में वृद्धि की केन्द्र की कार्यवाही की आलोचना को निकाल दिया था। लेकिन एक वर्ष पश्चात जनवरी 1969 में विश्वनाथन ने केन्द्रीय उपक्रम की योजनाओं की स्थिति एवं वित्तीय स्रोतों के आवंटन में की जा रही राज्य की अवहेलना के लिये केन्द्र की आलोचना की थी। इन मामलों के सन्दर्भ में मॉरिस जोन्स का कहना है कि, ''इसीलिये यह सन्देह से अलग हैं कि राज्यपाल उसके लिये मंत्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गये भाषण में परिवर्तन नहीं कर सकता है यदि मंत्रिमण्डल राज्यपाल द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों को स्वीकृत करने का इच्छुक नहीं है।''[1]

इसलिए बिहार के राज्यपाल यूनुस सलीम को इस आधार पर त्याग पत्र देने के लिये कहना कि उन्होंने केन्द्र की कार्यवाही की निन्दा की थी गलत था और उनके त्याग पत्र न देने पर पदच्युत करना नि:सन्देह केन्द्र द्वारा राज्यपाल को अपना एजेन्ट मानना सिद्ध करता है। उनकी पदच्युति के पीछे अन्य कारणों का उल्लेख यूनुस सलीम द्वारा प्रेस को दिये गये साक्षात्कार में स्पष्ट होते हैं। उन्होंने कहा,''मैंने प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर व बिहार से अन्य केन्द्रीय मंत्रियों के लालू प्रसाद यादव सरकार के विरूद्ध रिपोर्ट देने के दबाव के आगे झुकने से इन्कार कर दिया, ... मै कैसे कह सकता था कि बिहार में कानून व व्यवस्था की स्थिति गिर रही है।''[2] इसके अतिरिक्त यूनुस सलीम का आरोप था कि, ''प्रधान मंत्री ने इससे पूर्व मुझसे सदन का अधिवेशन बुलाने से मना किया जिसमें मुख्यमंत्री को विश्वास मत हासिल करना था।'' इस मामले में प्रधान मंत्री को कोई अधिकार नहीं है कि वह राज्यपाल को राज्य प्रमुख के रूप में विवेक का प्रयोग करने के विषय में निर्देशित करे, विशेष रूप में उन मामलों में जहाँ राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिये बाध्य है। यूनुस सलीम की पदच्युति में एक अनियमितता और जुड़ गई, जब केन्द्रीय गृहसचिव ने मध्य रात्रि को राज्यपाल को टेलीफोन कर त्याग पत्र देने के लिये कहा और जब ऐसा न हुआ तो अगली सुबह से लेकर दिन भर

---

1. फ्रन्टलाईन, पूर्वोधृत पृष्ठ 34
2. फ्रन्टलाईन – ए.जी.नूरानी पूर्वोधृत पृष्ठ 33

सात बार टेलीफोन किया, जब कि केन्द्रीय गृह सचिव को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं था। त्याग पत्र देने के लिए कहना एक मात्र अधिकार राष्ट्रपति में निहित है।[1] 12 अप्रैल, 1992 में नागालैण्ड के राज्यपाल पद से श्री एम० एस० थॉमस को बर्खास्त कर दिया गया। श्री थॉमस ने राज्य में वामुजो सरकार जो अल्पमत में आ गई थी को काम चलाऊ सरकार बने रहने का अवसर देते हुये राज्य विधान सभा को भंग कर दिया था। उनकी बर्खास्तगी की आलोचना करते हुये नागालैण्ड के पूर्व मुख्यमंत्री वामुजो ने इसे केन्द्र की बदले की भावना बताया था, जबकि जनता दल के हरि किशोर सिंह का कहना था कि थॉमस की एक मात्र गलती यह थी कि उन्होंने संविधान के अनुरूप काम किया एवं राज्यपाल के पद की मर्यादा को बरकरार रखने की कोशिश की।[2] परन्तु थॉमस का यह तर्क किसी के गले नहीं उतर सकता कि विधान सभा भंग करते समय उन्हें यह मालूम नहीं था कि सत्ताधारी दल के अनेक सदस्य पाला बदल चुके हैं और सरकार को अल्पमत में पहुँचा चुके हैं। थॉमस का कसूर यह नहीं था कि उन्होंने केन्द्र सरकार की अनदेखी की बल्कि यह था कि उन्होंने नागालैण्ड में अपने पद का इस्तेमाल करते हुए एक समानान्तर सत्ता बनाने की कोशिश की थी।[3]

गुलशेर अहमद को 29 जून, 1993 को हिमाचल का राज्यपाल बनाया गया था।[4] मध्य प्रदेश के सतना विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र से गुलशेर अहमद के पुत्र सईद अहमद कांग्रेस के उम्मीदवार थे। गुलशेर अहमद ने हिमांचल के राज्याल रहते हुये भी सतना जाकर अपने पुत्र के चुनाव अभियान में मदद की। राज्यपाल होने के नाते गुलशेर अहमद जब अपने गृहनगर सतना गये तो प्रोटोकाल के अनुसार उन्हें सुविधाएं और सम्मान दिया गया जिसका उन्होंने अपने पुत्र के चुनाव अभियान में किसी न किसी रूप में प्रयोग किया। इससे न केवल सरकारी मशीनरी का दुरूपयोग हुआ वरन् चुनावी आचार

---

1. फ्रन्टलाईन - ए.जी.नूरानी पूर्वोधृत पृष्ठ 33
2. जनसत्ता, 14 अप्रैल, 1992 पृष्ठ - 6
3. जनसत्ता-पूर्वोधृत पृष्ठ 4, सम्पादकीय - बर्खास्तगी आमंत्रित की थी
4. हिमाचल में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद छः महीने में वे तीसरे राज्यपाल थे। वीरेन्द्र वर्मा को केन्द्र सरकार से सहयोग न करने के कारण हटना पड़ा। बलिराम भगत का स्वास्थ्य हिमाचल की भौगोलिक जटिलताओं के अनुरूप काम करने योग्य नहीं था अतएव उनका राजस्थान, स्थानान्तरण किया गया।

संहिता का भी उल्लंघन हुआ जिससे तत्कालीन चुनाव आयुक्त ने सतना विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र का चुनाव 2 माह के लिए स्थगित कर दिया। गुलशेर अहमद ने इस आरोप का खण्डन किया और कहा कि वह नैतिक आधार पर इस्तीफा दे रहे हैं एवं 22 नवम्बर, 1993 को उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।[1] केन्द्र सरकार राज्यपालों का अपनी मनमर्जी से अपने हितों के अनुरूप प्रयोग करती रही है, जिसको लेकर पिछले लम्बे अर्से से विवाद चला आ रहा है। परन्तु श्री अहमद का मामला इस विवाद से अलग हो जाता है क्योंकि यहाँ राज्यपाल ने अपने पद का प्रयोग अपने हित में ही किया था।

राज्यपाल को पद से हटाते समय राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करता हैं परन्तु 1996 में हिमांचल की राज्यपाल श्रीमती शीला कौल का मामला बिल्कुल अलग है, क्योंकि इस मामले में राष्ट्रपति ने स्वंय राज्यपाल को हटाने की पहल की थी।[2]

शीला कौल हाउसिंग घोटाले में अभियुक्त थीं। 1995 में जब वह केन्द्रीय शहरी विकास मंत्री थीं तो उन्होंने दुकानों के आवंटन में अनियमितता बरती थी, जिसकी केन्द्रीय जांच ब्यूरो ने जांच की और प्रथम दृष्टया उन्हें दोषी पाया। इस मामले में अपनी संलिप्सा ज्ञात होने पर भी शीला कौल राज्यपाल पद से त्यागपत्र देने की अनिच्छुक थीं, तब राष्ट्रपति ने स्वयं पहल करते हुये प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर जानना चाहा कि वह इस मामले में क्या कार्यवाही करना चाहते हैं। प्रधानमंत्री द्वारा राज्यपाल को पद त्याग करने के लिए कहने के स्थान पर प्रधानमंत्री सर्वोच्च न्यायायल के निर्णय तक प्रतीक्षा करना चाहते थे। प्रधानमंत्री पुनः राष्ट्रपति से मिले क्योंकि वह रज्यपाल को हटाने के अनिच्छुक थे। तब राष्ट्रपति ने पुनः प्रधानमंत्री को पत्र लिखा जिसमें यह स्पष्ट किया कि शीला कौल को अविलम्ब पद त्याग कर देना चाहिए। राष्ट्रपति के पत्र के अंश समाचार पत्रों में प्रकाशित हुये। राष्ट्रपति ने स्पष्ट किया कि ''यह सामान्य रूप से किसी राज्य के राज्यपाल के उच्च पद की गरिमा तथा सम्बन्धित राज्य की जनता की गरिमा से असंगत होगा यदि किसी राज्यपाल के विरुद्ध एकत्रित प्रमाणों के आधार पर उससे केन्द्रीय जाँच ब्यूरो जाँच पड़ताल करे।'' श्रीमती शीला कौल को राष्ट्रपति की इस

---

1. राष्ट्रीय सहारा, 30 नवम्बर, 1993 पृष्ठ - 7
2. चन्द्रभूषण पाण्डे - पूर्वोधृत - पृष्ठ - 10

कार्यवाही के दबाव के फलस्वरूप त्यागपत्र देना पड़ा। यह मामला इस तथ्य को प्रकाश में लाता है कि भ्रष्टाचार में लिप्त राज्यपालों से किसतरह का व्यवहार करना चाहिए। संवैधानिक उन्मुक्ति के प्रावधान भी उन्हें नहीं बचा सकते जिस प्रकार से शीला कौल के मामले में राष्ट्रपति ने उच्च सिद्धान्तों व गरिमा का सहारा लिया।[1]

इसी तरह 1 मई, 1996 को उ० प्र० के राज्यपाल मोतीलाल वोरा तथा केरल के राज्यपाल शिवशंकर को त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि हवाला कांड की जांच में केन्द्रीय जाँच ब्यूरो ने इनके विरुद्ध साक्ष्य इकट्ठा करने के पश्चात् इनके विरुद्ध अभियोग पत्र तैयार किया था।[2]

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने 21 जनवरी 1998 को कल्याण सिंह मंत्रिमण्डल को बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिये बिना बर्खास्त कर दिया और जगदम्बिका पाल को मुख्यमंत्री की शपथ दिला दी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने 23 फरवरी 1998 को अन्तरिम आदेश पारित करते हुये कल्याण सिंह मंत्रिमण्डल को बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

भारतीय जनतापार्टी के नेता अटल बिहारी बाजपेयी 21 फरवरी की रात कल्याण सिंह मंत्रिमण्डल की बर्खास्तगी के विरोध में भूख हड़ताल पर बैठ गये। 23 फरवरी को उच्च न्यायालय के निर्णय के परिणाम स्वरूप हड़ताल तो समाप्त कर दी परन्तु राष्ट्रपति के० आर० नारायणन से राज्यपाल को वापस बुलाने का आग्रह किया और कहा कि ऐसे मामलों में मंत्रिपरिषद की सहमनि की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने कहा कि , ''राष्ट्रपति को संविधान के अधीन अर्न्तनिहित शक्ति प्राप्त है कि वह राज्यपाल को वापस बुलाले और उन्हें इसका प्रयोग करना चाहिए। राष्ट्रपति को साधारण रूप में प्रधानमंत्री श्री गुजराल को इस निर्णय के बारे में लिखित सूचना दे देनी चाहिए। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भण्डारी द्वारा कल्याण सिंह सरकार की बर्खास्तगी अवैधानिक घोषित की है अतएव यह निर्णय इस सन्दर्भ में आवश्यक है । वर्तमान की असामान्य परिस्थितियों में जब केन्द्र में काम चलाऊ सरकार है, राष्ट्रपति के लिए आवश्यक नहीं है कि वह राज्यपाल को वापस बुलाने के निर्णय हेतु

---

1. चन्द्रभूषण पाण्डे - पूर्वोधृत - पृष्ठ -11
2. एशियन रिकार्डर, 3-9 जून -1996, पृष्ठ 25669

मंत्रिमंडल की सहमति का इन्तजार करें।[1]

24 फरवरी, 1998 को राष्ट्रपति ने राज्यपाल रोमेश भण्डारी के कई विवादास्पद कार्यों का वर्णन करते हुये एक पत्र प्रधानमंत्री को भेजा और इस सम्बन्ध में उनकी राय जाननी चाही कि क्या भण्डारी को पद पर बने रहना चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी नेता हरकिशन सिंह सुरजीत ने इसे राष्ट्रपति द्वारा शक्तियों का दुरूपयोग बताया अैर कहा कि राष्ट्रपति को अपने मंत्रीमंडल की सलाह से ही कार्य करना चाहिए ।[2] पूर्व प्रधान मंत्री श्री चन्द्रशेखर ने न केवल पत्र को प्रेस तक पहुंचाने का आरोप राष्ट्रपति पर लगाया वरन् यहाँ तक कहा कि यह पत्र भारतीय जनता पार्टी के नेता अटल बिहारी वाजपेयी के इशारे पर लिखा गया है ।[3]

राष्ट्रपति भवन ने इन आरोपों का खण्डन किया । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि राष्ट्रपति ने अक्टूबर 1997 में भण्डारी व केन्द्रीय मंत्रिमंडल की उ.प्र. में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश को अस्वीकार कर दिया था। लोकसभा के पूर्व जनरल सेक्रेटरी सुभाष कश्यप का कहना था कि राष्ट्रपति राज्यपाल को बरखास्त कर सकते हैं ।[4] श्री कश्यप का तर्क था कि राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिमंडल की सलाह मानना लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर आधारित है कि इसके पीछे जनता के प्रतिनिधि सदन का समर्थन है । जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य पर निर्भर है उसी तरह मंत्रियों की अपनी कोई शक्ति व सत्ता नहीं है । यह केवल प्रतिनिधि सदन के द्वारा प्राप्त है जो जनता द्वारा प्रत्यक्षत: निवार्चित प्रतिनिधि संस्था है। वर्तमान सरकार के साथ ऐसा नहीं है । वर्तमान में कोई जनता का प्रतिनिधि सदन नहीं है जिसके प्रति यह उत्तरदायी है । काल चलाऊ सरकार निर्वाचित अध्यक्ष राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है जिसका यह संवैधानिक दायित्व है कि वह काम चलाऊ सरकार को नियन्त्रित व उत्तरदायी बनाये रखे।

प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति का पत्र प्राप्त करने के पश्चात कोई सुझाव नहीं दिया क्योंकि 15 मार्च, 1998 को नयी सरकार का गठन होना था और मार्च में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में सरकार गठित

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 25 फरवरी, 1998
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 26 फरवरी, 1998
3. पायनियर, 27 फरवरी 1998, सम्पादकीय
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 1, 1998

होने पर श्री भण्डारी को अन्ततः त्याग पत्र देना पड़ा । त्याग पत्र देते समय भंडारी का कहना था कि नयी सरकार को उनमें विश्वास नहीं है । तमिलनाडु की राज्यपाल श्रीमती एम. फातिमा बीवी ने उन्हें वापस बुलाने के केन्द्र सरकार के फैसले के कुछ ही समय बाद 1 जुलाई 2001 को अपने पद से इस्तीफा दे दिया । 1 जुलाई, को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की बैठक में उन्हें वापस बुलाने का फैसला किया गया था । केन्द्र सरकार 30 जून को घटित घटनाओ [1] के सम्बन्ध में राज्यपाल द्वारा भेजी गयी रिपोर्ट से सन्तुष्ट नहीं थी और साथ ही साथ दो केन्द्रीय मंत्रियों की गिरफ्तारी पर भी केन्द्र ने कड़ा रूख अपनाया था।[2] विधि मंत्री अरूण जेटली ने कहा कि तमिलनाड़ की राज्यपाल ने राज्य में कल हुई घटनाओं के मद्देनजर न तो संविधान की मर्यादा की रक्षा की और न ही संविधान के प्रावधानों का पालन सुनिश्चित किया । ऐसी स्थिति में मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति से फातिमा बीवी को वापस बुलाने की सिफारिश करने का फैसला लेते हुये प्रधान मंत्री से आग्रह किया कि वह मंत्रिमंडल के फैसले से राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन को अवगत करा दें ।[3]

केन्द्र सरकार ने संविधान में राज्यपालों के स्थानान्तरण सम्बन्धी कोई प्रावधान न होने के उपरान्त भी उनका स्थानान्तरण किया है । केन्द्र के सत्ताधारी सरकार द्वारा राज्यपालों का स्थानान्तरण अपने हितों के अनुरूप किया गया, जिससे राज्य सरकारों विशेषतया विपक्षी दलों की सरकारों का केन्द्रीय सत्ता पर सन्देह और बढ़ गया । श्री तपासे का उत्तर प्रदेश से हरियाणा, श्री पूंचा का मध्य प्रदेश से उड़ीसा और एयर मार्शल मेहरा का महाराष्ट्र से राजस्थान स्थानान्तरण बिना कारण बताये किया गया। इससे पूर्व पश्चिम बंगाल की अजय मुखर्जी सरकार ने 1969 में राज्यपाल धर्मवीर को वापस बुलाने की मांग की थी तब इनका स्थानान्तरण मैसूर कर दिया गया था। अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण हैं – नित्यानन्द कानूनगो का गूजरात से बिहार (1968) , जोगेन्दर सिंह उड़ीसा से राजस्थान (1972), उज्जवल सिंह पंजाब से मद्रास श्री बी. डी. शर्मा उड़ीसा से मध्य प्रदेश (1980), श्री ए.पी. शर्मा पंजाब से पश्चिम

---

1. तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमंत्री श्री करूणानिधि को पुलिस अधिकारियों द्वारा काफी अपमानित तरीके से गिरफ्तार किया गया था। यह कार्यवाही मुख्यमंत्री जय ललिता की राजनीतिक प्रतिशोध के कारण की गई थी

2. अमर उजाला, दिनांक 2/7/2001

3. अमर उजाला, 2 जुलाई 2001

बंगाल तथा श्री बी. डी. पाण्डे को पंजाब (1983) लाया गया ।[1] 1984 में श्री बी. के. नेहरू का जम्मू कश्मीर से स्थानान्तरण कर दिया गया क्योंकि वह केन्द्र सरकार के राज्य में हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं कर रहे थे और राज्य में राष्ट्रपति शासन का मार्ग प्रशस्त करने में असहयोग कर रहे थे ।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की राज्यपालों की पदावधि विस्तार के विषय में कोई निश्चित मापदण्ड नहीं अपनाया गया है। कुछ राज्यपालों को दो अवधियों से अधिक का विस्तार, कुछ को या तो एक वर्ष या छ: महीने या फिर निर्धारित तिथि को पदत्याग करने के लिए कहा गया ।[2]

राज्यपाल अपने पद पर तब तक कार्यरत रह सकता है जब तक कि उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण नहीं कर लेता ।[3] इस प्रावधान का सत्ताधारी दल ने भेदभावपूर्ण तरीके से दुरूपयोग किया है। उदाहरण के लिए पश्चिम बंगाल की राज्यपाल सुश्री पद्मजा नायडू अपनी पदावधि की समाप्ति के काफी समय बाद तक कार्यरत रही थीं । उनके पद पर बने रहने को कलकत्ता उच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। यद्यपि न्यायालय ने इसे संवैधानिक बताया परन्तु यह कहा कि इस प्रावधान का इतने लम्बे समय तक प्रयोग नहीं करना चाहिए । परिस्थितियों के अनुसार राष्ट्रपति को उन्हें दूसरी पाँच वर्षीय पदावधि के लिए नियुक्त करना चाहिए था। इसी तरह का मामला हरियाणा के राज्यपाल श्री बी.एन. चक्रवर्ती का था । उन्हें सितम्बर 1973 में सेवानिवृत होना था परन्तु वह काफी लम्बे समय तक पद पर बने रहे ।[4]

अरूणाचल के राज्यपाल श्री माता प्रसाद का पांच वर्ष का कार्यकाल अक्टूबर 1998 में समाप्त हो गया था और इसी तरह पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ए.आर. किदवई का पांच वर्षीय कार्यकाल पूरा

---

1. दि टाइम्स आफ इण्डिया , 9 अक्टूबर, 1983
2. उदाहरण के लिए श्री प्रकाश आसाम बाम्बे तथा मद्रास के राज्यपाल के रूप में दो अवधियों से अधिक रहे। श्री चन्दु लाल पंजाब व आन्ध्र के राज्यपाल दो अवधियों से अधिक रहे जबकि उ.प्र. के राज्यपाल बी. गोपाल रेड्डी को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को कार्यभार देने के लिए कहा गया ।
3. अनुच्छेद 156 (3)
4. दि टाइम्स आफ इण्डिया , नई दिल्ली, 29 जुलाई, 1974

हो चुका था। अतएव मई 1999 में केन्द्र सरकार ने दोनों से त्यागपत्र देने के लिये कहा । श्री किदवई ने तो त्याग पत्र दे दिया परन्तु श्री माता प्रसाद ने ऐसा करने के इन्कार कर दिया। अन्तत: केन्द्रीय मंत्रिपरिषद की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने श्री माता प्रसाद को उनके पद से हटा दिया ।[1] इन दोनों राज्यों में केन्द्र सरकार नियमित राज्यपाल नहीं नियुक्त कर पाई । पश्चिम बंगाल के कार्यवाहक राज्यपाल पद पर कलकत्ता उच्च न्यायालय के कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश श्री श्यामल कुमार सेन को नियुक्त किया गया जबकि असम के राज्यपाल अवकाश प्राप्त लेफ्टिनेन्ट जनरल एस. के. सिन्हा को अरूणाचल प्रदेश का अतिरिक्त कार्यभार दिया गया ।[2]

जनवरी 1990 में भारत के राष्ट्रपति के सम्मुख राज्यपाल की पदावधि सम्बन्धी प्रश्न उत्पन्न हुआ । उड़ीसा के राज्यपाल प्रो. नूरूल हसन ने राष्ट्रपति से कहा कि संविधान के अन्तर्गत त्यागपत्र तुरन्त प्रभावी हो जाता है इसलिए कुछ समय बाद होने वाली उड़ीसा विधानसभा की बैठक को वह सम्बोधित नहीं करेंगे । अनुच्छेद 156 (2) में निर्धारित प्रक्रिया के आधार पर त्याग पत्र देने से त्यागपत्र तत्काल ही प्रभावी हो जाता है। यह व्याख्या 1975 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये एक निर्णय पर आधारित है । इसके अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि न्यायाधीश के त्याग पत्र के मामलें में यह तत्काल प्रभावी हो जाता है ।[3] न्यायालय का दृष्टिकोण यह था कि इन संवैधानिक उच्च पदाधिकारियों को यह विशेषाधिकार है कि वे एकपक्षीय संकल्प द्वारा पद त्याग कर सके। संविधान के अनुच्छेद 156(2) अनुच्छेद 217(1) के समरूप हैं इसलिये राज्यपाल यदि पत्र के माध्यम से पद त्याग करता है तो वह उसी समय से राज्यपाल पद पर नहीं रहता ।

राष्ट्रपति उपरोक्त विवेचना से सहमत नहीं थे । उनका विचार था कि अनुच्छेद 153 निर्धारित करता है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा और पद खाली नहीं हो सकता । अनुच्छेद

---

1. अमर उजाला ,13 मई, 1999
2. विपक्ष ने दोनों राज्यों में राज्यपालों को हटाने को एक राजनैतिक मुद्दा बना दिया था और एक का अल्पसंख्यक वर्ग से तथा दूसरे का दलित वर्ग से संबंधित होने के कारण भी सरकार फंस गई थी ।
3. चन्द्र भूषण पाण्डे - गवर्नर - प्रिजर्वर, प्रोटैक्टर एण्ड डिफेन्डर आफ यदि कान्स्टीट्यूशन ? पृष्ठ 13

156(3) यह व्यवस्था करता है कि राज्यपाल अपनी पदावधि समाप्ति के पश्चात भी उत्तराधिकारी द्वारा पद ग्रहण तक कार्य कर सकता है । अनुच्छेद 160 राष्ट्रपति को आकस्मिक परिस्थितियों में राज्यपाल के कार्यों को करने के लिये प्रावधान करने का अधिकार देता है । ये सभी तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि राज्यपाल पद एक मिनट के लिए भी रिक्त नहीं हो सकता है । राज्यपाल राष्ट्रपति को पत्र देकर राज्यपाल पद से तब तक अलग नहीं हो सकता जब तक कि अन्य कोई व्यक्ति उसका पद ग्रहण न करें । इस तरह से राज्यपाल की स्थिति न्यायाधीश की स्थिति से भिन्न है । अत: राष्ट्रपति ने सभी राज्पालों को एक परिपत्र भेजा कि जिन्होंने त्यागपत्र दिये हैं वे वैकल्पिक व्यवस्था होने तक अपने पद पर बने रहेंगे ।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि राज्यपालों को उनके पद से मनमाने तरीके से हटाने का वैधानिक उपचार क्या हो ? यह स्पष्ट है कि राज्यपाल को हटाते समय राष्ट्रपति अपने मंत्रिमंडल की सलाह से कार्य करता है । वास्तव में उसके कार्य सरकार के कार्य हैं और इसलिये न्यायिक समीक्षा से उन्मुक्त नहीं है । ऐसे मामलों में सम्भव है कि कार्यवाही को चुनौती दी जाय । इस आधार पर नहीं कि परम्परा का उल्लंघन हुआ है वरन् इस आधार पर कि यद्यपि पदच्युति की शक्ति आत्यान्तिक (पूर्ण) परन्तु इसमें अर्न्तनिहित सीमायें हैं कि यह केवल संविधान के उल्लंघन करने पर ही प्रयोग की जा सकती है या इसी तरह की अन्य कार्यवाही राज्यपालों की इस संवैधानिक पद को ग्रहण करने के अयोग्य ठहराती हो । इसलिए कोई कार्यवाही जो मनमानी पूर्ण या अस्थिर या विद्वेषपूर्ण हो, उसे सफलतापूर्वक चुनौती दी जा सकती है। जैसा कि न्यायमूर्ति भगवती का कहना है कि, ''कोई भी उच्च पदस्थ व्यक्ति और सम्मानित सत्ता यह दावा नहीं कर सकती कि संविधान के अधीन उसकी शक्तियों के विस्तार की वह एकमात्र निर्णायक है या क्या उसकी कार्यवाही संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों की सीमा के अन्तर्गत है । इसलिए यह इस न्यायालय का दायित्व है कि वह संवैधानिक मूल्यों को बनाये रखे तथा संवैधानिक प्रतिबन्धों को लागू करे।[2] तथापि यह ध्यान रखना चाहिए कि कानूनी लड़ाईयाँ प्राय: संस्थाओं को दागदार बना देती हैं। इसलिये जहाँ तक सम्भव हो, उससे बचना चाहिए।''

---

1. चन्द्र भूषण पाण्डे - पूर्वोधृत पृष्ठ 14
2. एच० ए० गनी- गवर्नर इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन, पृष्ठ 34

राज्यपालों की निष्पक्षता व स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए आज संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि राज्यपालों को पदच्युत करने के आधारों को संविधान में विनिर्दिष्ट कर दिया जाय। यह अधिक अच्छा होगा कि जिस प्रक्रिया से उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हटाये जाते हैं उसी प्रकार से राज्यपालों को हटाया जाये। श्री अशोक कुमार सेन का सुझाव है कि राज्यपालों का एक निश्चित कार्यकाल होना चाहिए ताकि वे केन्द्र द्वारा हटाये जाने से निरन्तर भयभीत न रहें। उनके अनुसार ऐसी प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिए जिससे राज्यपाल सामान्यता: पाँच वर्ष तक कार्यकर सकें जब तक कि उन्हें हटाये जाने या स्थानान्तरित करने का अत्यधिक कारण न हो।[1]

श्री सिवाच ने ठीक ही कहा है कि केवल निश्चित कार्यकाल की व्यवस्था से राज्यपाल पद को स्वतंत्र नहीं बनाया जा सकता। उनका कहना है कि राष्ट्रपति को राज्यपाल की पदावधि कम करने की शक्ति से यह भी सम्भावना है कि भविष्य में उसकी पदावधि को बढ़ा दिया जाये जिससे राज्यपाल की स्वतंत्रता प्रभावित होगी।[2] द्वितीय पदावधि की आशा ने कई राज्यपालों को केन्द्र की सत्ताधारी दल के हाथों की कठपुतली बना दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि राज्यपाल को उसी राज्य या दूसरे राज्य में द्वितीय पदावधि प्रदान करने की परम्परा को विधि द्वारा समाप्त कर देना चाहिए। राज्यपाल के उत्तराधिकारी की नियुक्ति की घोषणा उसकी पदावधि की समाप्ति से पूर्व कर देनी चाहिए। उसकी पदच्युति की प्रक्रिया संविधान द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए जो कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने जैसी होनी चाहिए। एक बार नियुक्ति के पश्चात् लोक सेवकों की भांति राज्यपालों का एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरणनहीं करना चाहिए।[3]

---

1. अशोक कुमार सेन- रोल ऑफ गवर्नर इन दि इमरजिंग पैटर्न ऑफ सेन्टर स्टेट रिलेशन्स - जरनल ऑफ कान्स्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज, वाल्यूम V नं-3, 1969
2. एच० ए० गनी-गर्वनर इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन पृष्ठ - 36 पर उद्धृत
3. यही विचार विभिन्न समितियों द्वारा व्यक्त किये गये जैसे प्रशासनिक सुधार आयोग, राज्यपालों, की समिति रिर्पोट पृष्ठ 47 तथा राजमन्नार कमेटी रिपोर्ट पृष्ठ - 131

सेवानिवृत्ति के पश्चात् राजनीतिक पदों की आशा में राज्यपाल उन दलों की हित साधना करते हैं जो उन्हें भविष्य में कुछ पद व स्थिति का पुरस्कार दे सकें। इसलिये यह सुझाव दिया जाता है कि राज्यपाल को एक पदावधि की समाप्ति के पश्चात् राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के पदों के अतिरिक्त अन्य पद प्रदान नहीं करने चाहिए। उन पर संवैधानिक प्रतिबन्ध होना चाहिए कि वे सक्रिय राजनीति में नहीं लौटेंगे या अन्य पद ग्रहण नहीं करेंगे।[1] इस सुझाव के विपरीत तर्क दिये गये हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति ने ईमानदारी व स्वतंत्रता पूर्वक कार्य किया है तो उसे द्वितीय पदावधि या सक्रिय राजनीति में भाग लेने से क्यों रोका जाये ? उसने जो अनुभव ग्रहण किया है उससे देश को क्यों वंचित किया जाय और यदि इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये तो कई ईमानदार व सक्षम व्यक्ति राज्यपाल के रूप में कार्य करने के अनिच्छुक होंगे। ये तर्क अधिक तर्क संगत नहीं लगते हैं। चूंकि राज्यपाल, राष्ट्रपति के आँख व कान के रूप में तथा मुख्यमंत्री के सचेत रक्षक के रूप में दोहरी भूमिका निभाता है, इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि उसे उसके पद से हटाने से पूर्व प्राकृतिक न्याय सिद्धान्त का ध्यान रखा जाय।[2]

---

1. वी० के० वरदचारी - गर्वनरस इन दि इण्डियन कान्सटीट्शन पृष्ठ-25
2. नवाज़ बी० मोदी - रोल ऑफ गवर्नस सिन्स 1967, पृष्ठ - 98 जरनल ऑफ कान्सटीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज 20(1-4) जनवरी-दिसम्बर 1986

चतुर्थ अध्याय

राज्यपाल और मंत्रिपरिषद

राज्यपाल और मंत्रिपरिषद

केन्द्र राज्य सम्बन्धों में सबसे अधिक विवाद जिस पद ने उत्पन्न किया है, वह राज्यपाल का पद है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य का एक राज्यपाल होगा। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित की गयीं हैं, और इन शक्तियों का प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं प्रत्यक्षत: या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माधयम से करेगा।[1] संविधान निर्माओं ने राज्यपाल को केवल एक संवैधानिक प्रमुख के रूप में कल्पना की थी, परन्तु साथ ही, उसे कुछ विवेकाधीन शक्तियाँ भी प्रदान की थीं। 1950-1967 के काल में राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रमुख के रूप में ही सामान्यतया अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह से ही कार्य करता था। इसीलिए सरोजनी नायडू ने राज्यपाल की तुलना, ''सोने के पिंजड़े में बंद पक्षी'' से की थी और डा० पी० सीता रमैय्या का कहना है कि, उसे राष्ट्रपति को रिपोर्ट देने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करना है।[2]

1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात्, राज्यपाल राजभवन में अलंकारिक वस्तु के स्थान पर गहरे विवाद का कारण बने, क्योंकि 1967 के निर्वाचन के पश्चात्, कई राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। कई राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के गठन के पश्चात् राज्य में केन्द्रीय हस्तक्षेप बढ़ता गया। राज्यपाल ने संविधान के दो प्रावधान अनुच्छेद 163(1) और अनुच्छेद 163(2) का सहारा लिया, जिसने विवाद को और बढ़ाया। अनुच्छेद 163 (1) के अनुसार, 'जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करें, उन बातों को छोड़कर राज्यपालों को अपने कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। अनुच्छेद 163(2) के अनुसार राज्यपाल का अपने

---

1. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 154
2. एच० ए० गनी- गर्वनर इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ठ-3

विवेकानुसार किया गया विनिश्चय अन्तिम होगा और इसे इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जायेगा कि उसे अपने विवेकानुसार कार्य करना चाहिये था या नहीं।

1967 के निर्वाचन के पश्चात् राजनीतिक परिदृश्य में परिवर्तन हुआ और राज्य में गठबन्धन सरकारें बनी। कांग्रेस का विरोध करने के लिये संयुक्त मोर्चा का गठन हुआ। दल-बदल एक सामान्य घटनाक्रम हो गया और राज्यपाल के लिये यह निर्धारित करना कठिन हो गया कि मुख्यमंत्री को बहुमत प्राप्त है अथवा नहीं। इस राजनीतिक संकट के समय राज्यपाल का स्वविवेकाधीन अधिकारों का क्षेत्र स्वत: विस्तृत हो गया। श्री वी० के० वरदचारी का कहना है कि, ''यद्यपि राज्यपाल ब्रिटिश सम्प्रभु के समान संवैधानिक प्रमुख है, राजनीतिक संकट के समय उसका पद सामरिक महत्व का हो जाता है, एक सुसुप्त ज्वालामुखी जो किसी भी समय फूट सकता है।''[1] मुख्यमंत्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपालों ने अलग-अलग मापदण्ड अपनाये हैं। इसलिये राज्यपालों की इस सम्बन्ध में की गयी कार्यवाही प्राय: आलोचना व विवाद का कारण बनी।

मुख्यमंत्री पद की योग्यताएं :-

संविधान द्वारा मुख्यमंत्री पद के लिये कोई विशिष्ट योग्यताएं निर्धारित नहीं की गयी हैं। मात्र एक सिद्धान्त अपनाया गया है कि वह विधायिका का बहुमत प्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी भी सदन का सदस्य नहीं है, तो भी उसे मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया जा सकता है, लेकिन उसे छह माह के अन्दर किसी न किसी सदन की सदस्यता अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि मुख्यमंत्री राज्य विधायिका के निम्नसदन से ही सम्बन्धित हो। यद्यपि हमने ब्रिटिश संसदीय पद्धति को केन्द्र व राज्य स्तर पर अपनाया है, परन्तु हम ब्रिटिश परम्परा को कायम नहीं रख पाये हैं कि प्रधानमंत्री निम्न सदन का होना चाहिए और ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ मुख्यमंत्री व प्रधानमंत्री उच्च सदन से सम्बन्धित रहे हैं। उदाहरण के लिए 1952 में मोगरजी देसाई बाम्बे, सी राजगोपालाचारी मद्रास, 1962 में निजलिंगपा मैसूर और 1968 में बी० पी० मण्डल, उच्च सदन के सदस्य रहते हुये राज्य के मुख्यमंत्री बने। श्री मण्डल का मामला विशेष उल्लेखनीय है।

---

1. वी० के० वरदचारी, गर्वनर इन दि इण्डियन कान्स्टीटयूशन, नई दिल्ली 1980, पृष्ठ-45

सितम्बर 1967 में लोकसभा सदस्यता से त्यागपत्र देकर श्री मंडल बिहार में श्री एम०पी०सिन्हा के मंत्रिमंडल के सदस्य बने, यद्यपि वे किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे। छह माह की अवधि पूर्ण होने के कुछ दिन पहले ही उन्होंने सिन्हा मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया और विरोधी दलों को एकजुट करके नये मंत्रिपरिषद के गठन का दावा प्रस्तुत किया। राज्यपाल श्री आयेगर ने उन्हें मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त करने से इन्कार कर दिया और कहा कि जब तक वह राज्य विधायिका के सदस्य नहीं बन जाते हैं, मुख्यमंत्री नहीं बन सकते हैं। तब संयुक्त दल ने अस्थायी रूप में श्री सतीश प्रसाद सिन्हा को अपना नेता चुना और उन्होंने सरकार का गठन करके श्री मंडल को राज्य विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया। इसके पश्चात् उन्होंने स्वयं मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र देकर श्री मण्डल को मुख्यमंत्री पद ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया। बिहार के राज्यपाल ने बिना विधायिका सदस्य बने श्री मंडल को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त न करके अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया।[1]

हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने पंजाब के तेज सिंह के मामले में यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी व्यक्ति छः माह की अवधि के पश्चात् विधायिका की सदस्यता प्राप्ति के बिना पुनः मंत्री नहीं बन सकता है।[2]

निर्वाचन में पराजित व्यक्तियों के मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति के भी उदाहरण हैं। 1952 में श्री मोरारजी देसाई को महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया यद्यपि वह निर्वाचन में पराजित हुए थे। उन्हें उच्च सदन का सदस्य बनाकर मुख्यमंत्री पद के लिये मार्ग प्रशस्त किया गया। इसी तरह उत्तर प्रदेश में श्री सी०बी० गुप्ता चुनावों में यद्यपि दो बार पराजित हुये थे, परन्तु दल के संगठन में प्रभावी भूमिका होने के कारण उन्हें मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया। उत्तर प्रदेश में ही 1970 में श्री टी० एन० सिंह को संयुक्त मोर्चा सरकार का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया यद्यपि वह राज्य विधान मण्डल के किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे। श्री सिंह ने उप-चुनाव में भाग लिया परन्तु पराजित हुए और फिर उन्होंने अपना पद नहीं छोड़ा क्योंकि छह माह की अवधि पूरी होने से पहले वह दूसरे उपचुनाव में

---

1. एन० एस० गहलौत- स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया : ट्रेण्डस एण्ड इश्यूज़ पृष्ठ - 66

2. जनसत्ता, 18 अगस्त, 2001

भाग लेने की सोच रहे थे। यद्यपि तकनीकी रूप से श्री सिंह का यह निर्णय सही था परन्तु नैतिक दृष्टिकोण से इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता।[1]

मुख्यमंत्री की नियुक्ति से जुड़ा एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त कर सकता है, जो राज्य विधान मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं है? संविधान और न्यायिक निर्णयों और परम्पराओं द्वारा किसी भी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति को प्रतिबन्धित नहीं किया गया है जो किसी भी सदन का सदस्य नहीं है। 1952 में मद्रास उच्च-न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री राजमन्नार ने यह निर्णय दिया कि राज्यपाल द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को जो विधायिका का सदस्य नहीं है, मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति, किसी भी न्यायालय में अपील की विषय वस्तु नहीं है।[2] इसके पश्चात् श्री त्रिभुवन नारायन सिंह की उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति को इलाहाबाद उच्च न्यायालय (लखनऊ खण्डपीठ) में चुनौती दी गयी। श्री सिंह नियुक्त के समय किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे। उच्च न्यायालय ने याचिका को खारिज कर दिया, परन्तु संविधान के अनुच्छेद 132 के अधीन प्रमाण-पत्र स्वीकृत किया।[3] अपील के माध्यम से मामला उच्चतम न्यायालय के सम्मुख लाया गया। उच्चतम न्यायालय ने उच्च न्यायालय से सहमत होते हुये, कहा कि किसी भी व्यक्ति की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि नियुक्ति के समय वह राज्य विधायिका के किसी भी सदन का सदस्य नहीं था।[4] ऐसे बहुत से उदाहरण है जब राज्य विधायिका के बाहर के व्यक्ति को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। श्री के० कामराज मद्रास, श्री सी०बी० गुप्ता और श्री टी० एन० सिंह उत्तर प्रदेश, श्री ज्ञानी गुरूमुख सिंह, मुसाफिर पंजाब, बलवन्त सिंह मेहता, गुजरात के मुख्यमंत्री बनाये गये यद्यपि वे विधायिका के सदस्य नहीं थे। इसी तरह श्री विश्वनाथ दास और श्रीमती नन्दनी सतपथी उड़ीसा (1970) देवराज अर्स

---

1. पी० एल० माथुर- रोल ऑफ गवर्नरस इन नॉन-कांग्रेस स्टेट्स, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर पृष्ठ-74
2. ए०आई०आर० - 1953 मद्रास, पृष्ठ 94-95
3. ए०आई०आर०-1971, इलाहाबाद, पृष्ठ 237, अनुच्छेद 132 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कुछ मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है
4. ए०आई०आर० 1971, उच्चतम न्यायालय, पृष्ठ 1331

मैसूर, घनश्याम दास ओझा गुजरात, एस० सी० सिन्हा असम और पी० सी० सेठी मध्य प्रदेश (1972) में मुख्यमंत्री बनाये गये। 1983 में बंसीलाल हरियाणा, एस०बी० चव्हाण महाराष्ट्र, वीर बहादुर सिंह उत्तर प्रदेश तथा चन्द्रशेखर सिंह की बिहार के मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति भी इसी श्रेणी में आती है।[1] 1972 में पश्चिम बंगाल में सिद्धार्थ शंकर रे की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति की गयी यद्यपि उस समय वह केन्द्रीय मंत्री थे। 1977 में एक के० एन्टोनी की केरल के मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति की गयी। उस समय वह विधान सभा सदस्य नहीं थे।[2] 1980 में जगन्नाथ पहाड़िया, जे० बी० पटनायक और टी. अन्जैया ने क्रमशः राजस्थान, उड़ीसा[3] तथा आन्ध्र प्रदेश[4] के मुख्यमंत्री पद की शपथ ली जबकि वे केन्द्र में मंत्री थे और राज्य विधायिका के सदस्य नहीं थे। 1982 में आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर विजय भास्कर रेड्डी[5] तथा महाराष्ट्र में बसन्त दादा पाटिल[6] की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति हुयी यद्यपि ये दोनों संसद सदस्य थे। इसी तरह 10 जनवरी 1983 को संसद सदस्य रामकृष्ण हेगड़े की कर्नाटक के प्रथम गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति की गयी।[7] अक्टूबर 2000 में नवगठित राज्य छत्तीसगढ़ के प्रथम मुख्यमंत्री पद पर श्री अजीत जोगी की नियुक्ति की गयी जबकि वह राज्य विधायिका के सदस्य नहीं थे। इसी तरह अक्टूबर 2001 में गुजरात के मुख्यमंत्री पद पर श्री नरेन्द्र मोदी की नियुक्ति की गयी जबकि वह भी राज्य विधायिका के सदस्य नहीं थे।[8]

---

1. पी०एल० माधुर- रोल ऑफ गर्वनर इन नॉन कांग्रेस स्टेट्स पृष्ठ 74-75
2. एशयिन रिकार्डर, 28 मई-3-जून, 1977, पृष्ठ 13759-60
3. एशियन रिकार्डर, 22 जूलाई- 28 जुलाई, 1980, पृष्ठ 15565-66
4. एशियन रिकार्डर, 18-24 नवंबर 1980, पृष्ठ 15747-48
5. एशियन रिकार्डर 5-11 नवम्बर 1982, पृष्ठ 16875
6. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया - 3 फवरी, 1983
7. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया - 11 जनवरी, 1983
8. प्रायः राज्य विधायिका से बाहर के व्यक्ति को मुख्यमंत्री पद पर इसलिये अधिरोपित (Imposed) किया गया ताकि होने वाले निर्वाचनों में दल सफलता प्राप्त कर सके या फिर राज्य की दलीय गुटबन्दी को दूर करने के लिये या राज्य में दल की गिरती साख को बचाया जा सके

राज्य विधायिका का सदस्य न होने पर राज्य के मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति का एक बहुत ही महत्वपूर्ण मामला मई 2001 में सामने आया, जिसने देश के सम्मुख महत्वपूर्ण संवैधानिक संकट प्रस्तुत किया। यह मामला 14 मई ,2001 को तमिलनाडु की राज्यपाल श्रीमती फातिमा बीवी द्वारा सुश्री जयललिता की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति से उत्पन्न हुआ।

सुश्री जयललिता को 9 अक्टूबर, 2000 को एक विशेष अदालत ने ताँसी घोटाले से संबंधित मुकदमें में उन पर 10,000 रूपये का जुर्माना किया और तीन वर्ष की कठोर सजा सुनाई। एक अन्य मुकदमें (शशी एंटर प्राइजेज) में भी जयललिता पर 5000 रुपये का जुर्माना किया गया तथा दो वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुनाई गई।

जयललिता ने इन फैसलों के विरुद्ध चेन्नई उच्च न्यायालय में अपील की तथा उच्च न्यायालय की एकल पीठ ने 11 अप्रैल, 2001 क उनकी सजाओं को निलंबित कर दिया। मई में तमिलनाडु विधान सभा निर्वाचन में जयललिता ने चार निर्वाचन क्षेत्रों से नामांकन भरा था, लेकिन चुनाव आयोग ने उन्हें जनप्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के अन्तर्गत चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया।[1] अत: उनके नामांकन पत्र रद्द कर दिए गए।[2]

जय ललिता चुनाव लड़कर विधान सभा की सदस्य तो नहीं बन सकीं, लेकिन चुनाव में उनके नेतृत्व वाले गठबन्धन को 234 सदस्यों को सदन में 196 स्थान प्राप्त हुए। अकेले अन्नाद्रमुक को सदन में बहुमत के लिये आवश्यक 132 स्थान मिल गए। इस विराट जनसमर्थन को ध्यान में रखकर राज्य की राज्यपाल और सर्वोच्च-न्यायालय की सेवानिवृत्त न्यायमूर्ति फातिमा बीवी ने 14 मई को जयललिता को अन्नाद्रमुक गठबंधन की नेता के नाते मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार वह छह महीने के लिए मुख्यमंत्री बन गईं। उनके मुख्यमंत्री बनने पर देश के एक बड़े वर्ग ने विरोध

---

1. जन प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के अनुसार दो वर्ष से अदिक सजा पाये व्यक्ति को निर्वाचन हेतु अयोग्य घोषित कर दिया जाता है

2. निर्वाचन आयोग द्वारा 1997 में घोषित दिशा निर्देश मेंयह स्पष्ट किया गया था कि परीक्षण न्यायाल के निर्णय के आधार पर उसी दिन से अयोग्यता लागू हो जाती है

व्यक्त किया। राज्यपाल के निर्णय को असंवैधानिक बताते हुए सर्वोच्च न्यायालय में याचिकाएं दायर की गईं।

पाँच सदस्यीय खण्डपीठ[1] के सम्मुख अनेक संवैधानिक प्रश्न उठाए गए, जिनमें प्रमुख मुद्दा यह था कि जिस व्यक्ति को जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अन्तर्गत चुनाव लड़ने का अधिकार ही नहीं है, उसे मुख्यमंत्री कैसे बनाया जा सकता है। जयललिता की ओर से तर्क दिया गया कि सर्वोच्च-न्यायालय जयललिता द्वारा की गई अपीलों पर जब तक अपना निर्णय नहीं सुनाता, तबतक उन्हें निर्दोष माना जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया और व्यवस्था दी कि जब तक जयललिता को उच्च न्यायाल द्वारा निर्दोष घोषित न कर दिया जाए, तब तक विशेष न्यायालय के निर्णय के आधार पर उन्हें दोषी माना जाएगा तथा उन्हें चुनाव लड़ने के लिए सक्षम नहीं माना जाएगा।

जयललिता के वकील श्री वेणू गोपाल ने संविधान पीठ के समक्ष कहा कि विधान सभा चुनाव में जयललिता के दल को मिले भारी बहुमत से सिद्ध हो गया है कि उनके पीछे भारी जनसमर्थन है। अत: राज्यपाल ने जनादेश का आदर करते हुए उन्हें मुख्यमंत्री बनाया, जिसे विहित माना जाना चाहिए, क्योंकि लोकतंत्र में जनता की इच्छा सर्वोपरि होती है। सर्वोच्च न्यायालय ने जनता की इच्छा के प्रति आदर व्यक्त करते हुए, उसे तब तक ही प्रभावशाली माना है, जब तक कि वह संविधान का उल्लंघन न करे।[2] खण्डपीठ ने कहा कि 14 मई को जयललिता की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति न तो बैध थी और न ही संवैधानिक। इसलिए संविधान पीठ मुख्यमंत्री पद पर उनकी नियुक्ति को रद्द करती है। अदालत ने हालांकि इस बात को स्वीकार किया कि संविधान के अनुच्छेद 164 में राज्यपाल को किसी भी व्यक्ति को अपने विवेक के आधार पर मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाने का अधिकार है, लेकिन राज्यपाल को यह अधिकार भी है कि वह चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य ठहराए गए किसी व्यक्ति को

---

1. खण्डपीठ के पाँच सदस्य थे- न्यायमूर्ति एस० पी० भरूचा, न्यायमूर्ति जी०बी० पटनायक, न्यायमूर्ति वाइ० के० सब्बरवाल, न्यायमूर्ति श्रीमती रूमापाल और न्यायमूर्ति बृजेश कुमार।

2. दि हिन्दु, 7 सितम्बर, 2001

मुख्यमंत्री अथवा मंत्रिपद की शपथ दिलाने से इंकार कर दे।[1] अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् सुश्री जयललिता ने 21 सितम्बर, 2001 को मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति में राज्यपाल का स्वविवेक :-

भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में एक महत्वपूर्ण प्रश्न प्रभावी रहा है कि राज्यपाल किस सीमा तक मुख्यमंत्री की नियुक्ति में स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। यह प्रश्न सरल होने के साथ ही साथ, पेचीदा भी है। राज्य विधायिका में किसी एक दल के स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने पर राज्यपाल की मुख्यमंत्री की नियुक्ति की शक्ति बहुत ही साधारण है। सामान्यतः राज्य विधायिका में बहुमत प्राप्त दल के नेता को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया जाता है। इस परिस्थिति में राज्यपाल को मुख्यमंत्री के चयन में कोई समस्या नहीं होती है। यदि निर्वाचन से पूर्व बने गठ-बन्धन को पूर्ण बहुमत मिल जाता है और वे अपना नेता चुन लेते हैं तो राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री के चयन की प्रक्रिया औपचारिक व अविवादित रहती है। परन्तु उसकी मुख्यमंत्री की नियुक्ति में भूमिका तब महत्वपूर्ण हो जाती है, जब किसी भी दल को राज्य विधायिका में स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल के सम्मुख दो विकल्प होते हैं :- प्रथमतः यह कि वह सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता को मुख्यमंत्री पद हेतु आमंत्रित करे, इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना कि वह स्थिर बहुमत प्राप्त करने में सक्षम है या नहीं। द्वितीयतः वह ऐसे गठ बन्धन के नेता या ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त करें जो उसकी दृष्टि में विधायिका में स्थिर बहुमत प्राप्त करने में सक्षम है। इस सम्बन्ध में राज्यपालों ने अलग-अलग राज्यों में एक जैसी परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न मापदण्डों को अपनाया है।

1952 में मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने 'सबसे बड़े राजनीतिक' दल के नेता को मुख्यमंत्री पद हेतु आमंत्रित करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। 1967 से पूर्व जब किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला तो, उन राज्यों में जहाँ कांग्रेस सबसे बड़ा राजनीतिक दल था, इस सिद्धान्त को अपनाया गया। 1952 में पेप्सू व त्रावणकोर - कोचीन के राजप्रमुखों तथा मद्रास व आन्ध्रप्रदेश के राज्यपालों ने कांग्रेस दल के नेताओं को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया, जबकि उके दलों

---

1. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 22 सितम्बर, 2001

को राज्य में पूर्ण बहुमत नहीं मिला था वरन् वे विधायिका में सबसे बड़े दल थे। पेप्सू में इसे 60 में से 26, त्रावणकोर-कोचीन में 118 में से 44, मद्रास में 375 में से 155 और आन्ध्रप्रदेश में 140 में से 51 स्थान प्राप्त थे। 1957 में उड़ीसा में 140 में से 56 स्थान प्राप्त करने पर कांग्रेस को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। 1962 में राजस्थान व मध्य प्रदेश में कांग्रेस ने सरकार गठित की जबकि राजस्थान में उसे 176 में से 88 व मध्य प्रदेश में 288 में से 142 स्थान प्राप्त हुए थे।[1]

सबसे बड़े राजनीतिक दल को आमंत्रित करने की परम्परा 1965 में केरल राज्य में नहीं अपनाई गई। केरल में 4 मार्च, 1965 के मध्यावधि चुनाव में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी को 133 में से 40 स्थान प्राप्त हुए थे और वह सदन में सबसे बड़ा राजनीतिक दल था, फिर भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता नम्बूदरीपाद को सरकार गठित करने का अवसर नहीं दिया गया। राज्यपाल ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजी कि चुनावों के परिणाम स्वरूप प्रतिनिधि सरकार का गठन सम्भव नहीं है और संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। यद्यपि श्री नम्बूदरीपाद ने राज्य की वामपंथी लोकतंत्रिक दलों के समर्थन से सरकार गठित करने की इच्छा व क्षमता की घोषणा की थी, फिर भी उन्हें अवसर नहीं दिया गया।[2] सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता को सरकार गठित करने के अवसर की अस्वीकृति पूरे देश में गहरे विवाद का विषय बना।[3]

1967 के उपरान्त भी कई मामले हुए जब राज्यपालों ने पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण अपनाया और गैर कांग्रेसी दलों की सरकार बनने के मार्ग में बाधा उत्पन्न की, यद्यपि उन्होंने या तो सबसे अधिक स्थान प्राप्त किये थे या फिर संयुक्त मोर्चा बना लिया था ।

1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात मुख्य मंत्री के चयन की समस्या सर्वप्रथम राजस्थान में उत्पन्न हुई । विधान सभा में कांग्रेस दल 89 सदस्यों के साथ सबसे बड़ा दल था, परन्तु उसे वहां पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं था। कांग्रेस के विरोध में राजस्थान के कुछ दक्षिण पंथी दलों ने संयुक्त मोर्चा

---

1. एच० ए0 गनी - गवर्नर इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ठ-41
2. सिवरंजन चैटर्जी - गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ठ - 113
3. एस० आर० माहेश्वरी - प्रेसीडेन्ट रूल इन इण्डिया, पृष्ठ 49

बनाकर निर्वाचन में भाग लिया था । मोहन लाल सुखाड़िया कांग्रेस दल के नेता थे तथा महारावल लक्ष्मण सिंह संयुक्त मोर्चा या संयुक्त विधायक दल के नेता थे । निर्दलीय सदस्यों ने दोनों दलों को समर्थन देने का आश्वासन दिया था। दोनों गुटों ने बहुमत का दावा किया परन्तु राज्यपाल डा. सम्पूर्णानन्द ने सबसे बड़ें राजनीतिक दल कांग्रेस के नेता मोहन लाल सुखाड़िया को मंत्रीमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया । उन्होंने संयुक्त मोर्चे के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया, यद्यपि उन्हें विधान सभा के 183 सदस्यों में से 93 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। राजस्थान के विपक्षी दलों ने आरोप लगाया कि जिस ''नाटकीय तरीके'' से घोषणा की गयी, वह पूर्व नियोजित षडयन्त्र और राज्यपाल व सुखाड़िया के मध्य धुरी को दर्शाता है।[1] अपनी कार्यवाही को उचित ठहराते हुए राज्यपाल ने कहा कि कांग्रेस को 88 स्थान प्राप्त हैं (कांग्रेस की प्रभावी शक्ति 88 थी क्योंकि एक सदस्य दो स्थानों से निर्वाचित हुआ था)जबकि संयुक्त विरोधी दल के पक्ष में 80 विधायक हैं । उनका तर्क था कि प्रतिद्वन्दी राजनीतिक दलों की सापेक्षिक शक्ति परीक्षण में निर्दलीय सदस्यों को नहीं गिनना चाहिए क्योंकि जनता उनकी नीतियों को नहीं जानती है।[2] राज्यपाल के निर्णय के विरोध स्वरूप जयपुर में व्यापक रूप में हिंसा व प्रदर्शन हुए । राज्य में कानून व व्यवस्था की स्थिति बिगड़ गई और परिणाम स्वरूप श्री सुखाड़िया ने सरकार गठित करने में अनिच्छा व्यक्त की । सुखाड़िया की अस्वीकृति पर राज्य पाल ने संयुक्त विधायक दल के नेता को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित नहीं किया और 13 मार्च, 1967 को राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू कर राज्य विधानसभा को निलम्बित कर दिया गया । संयुक्त विधायक दल के 93 सदस्यों ने 15 मार्च को राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णनन के समक्ष उपस्थित हो अपनी शक्ति का प्रर्दशन किया और सभी सदस्यों के हस्ताक्षरयुक्त एक ज्ञापन राष्ट्रपति को दिया। राष्ट्रपति के सम्मुख विधायकों का इस तरह का प्रदर्शन भारत में पहली बार हुआ था [3]

---

1. पी. एल. माथुर - रोल ऑफ गवर्नर इन नान कांग्रेस स्टेट्स - पृष्ठ-79-80
2 दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 5मार्च , 1967
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स,16 मार्च , 1967

समय के साथ साथ राजनीतिक क्रय विक्रय शुरू हो गया और संयुक्त विधायक दल की शक्ति कम हो गई । 25 अप्रैल, को राष्ट्रपति शासन समाप्त हुआ और 26 अप्रैल को मोहनलाल सुखाड़िया राजस्थान के मुख्य मंत्री बने ।[1] इस समय कांग्रेस द्वारा निर्दलीय सदस्यों की सहायता से सत्ता प्राप्ति का राज्यपाल द्वारा न तो विरोध किया गया और न ही अप्रजातांत्रिक या असंवैधानिक कहा गया ।[2]

उत्तर प्रदेश में भी चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात कोई दल पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। कांग्रेस 425 सदस्यों के सदन में 198 स्थान प्राप्त करके सबसे बड़ा राजनीतिक दल था। दूसरी तरफ सभी विपक्षी दलों ने मिलकर संयुक्त विधायक दल (एस.वी.डी.) बनाया , जिसके नेता राम चन्द्र विकल थे। उन्होंने बहुमत का दावा किया और राज्यपाल डा. गोपाल रेड्डी से सरकार गठित करने के लिये आमंत्रित करने को कहा ।[3] राज्यपाल ने एडवोकेट जनरल का मत जानना चाहा[4] और सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता श्री सी. बी. गुप्ता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया ।[5]

बिहार में मार्च 1969 में मध्यावधि चुनाव हुए और पुनः कोई दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। यहाँ भी कांग्रेस अकेला सबसे बड़ा दल था। राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने, कांग्रेस के नेता हरिहर सिंह को, सरकार गठन हेतु आमंत्रित किया।[6]

मार्च 1971 में पश्चिम बंगाल में मध्यावधि चुनाव हुए । कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में संयुक्त वाम मोर्चा (ULF) ने 280 सदस्यों के सदन में 123 स्थान प्राप्त किया । संयुक्त वाम मोर्चा के नेता. श्री ज्योति बसु ने राज्यपाल एस. एस. धवन से उन्हें सरकार के गठन हेतु आमंत्रित करने के लिए कहा।

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 27 अप्रैल, 1967
2. 29 मार्च को राजस्थान में श्री सम्पूर्णानन्द के स्थान पर श्री हुकुम सिंह की राज्यपाल पद पर नियुक्ति हो चुकी थी।
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 2 मार्च, 1967
4. दि स्टेट्स मैन, 11 मार्च, 1967
5. दि स्टैट्समैन, 13 मार्च, 1967
6. पी. एल. माथुर - पूर्वोधृत पृष्ठ 80

क्योंकि उनका मोर्चा राज्य विधान सभा में सबसे बड़ा दल था । परन्तु राज्यपाल ने ज्योति बसु को आमंत्रित न करके नवगठित प्रजातांत्रिक गठबंधन के नेता श्री अजय मुखर्जी को सरकार के गठन हेतु आमंत्रित किया। राज्यपाल द्वारा यह तर्क दिया गया कि कम्युनिस्ट नेता सदन में विश्वास मत प्राप्त करने में सक्षम नहीं थे, यदि उन्हें सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता । राज्यपाल की यह कार्यवाही संसदीय प्रजातंत्र के निर्धारित मानकों के विपरीत थी।[1]

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 1969 में बिहार में किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने पर सबसे बड़े राजनीतिक दल को आमंत्रित किया गया था, परन्तु पश्चिम बंगाल में उस मापदण्ड को अस्वीकार कर दिया गया । इससे पूर्व 1969 में पश्चिम बंगाल में ही मध्यावधि चुनाव के पश्चात राज्यपाल धर्मवीर ने एक वक्तव्य दिया था कि, ''वह सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता के रूप में श्री ज्योति बसु को सरकार गठित करने का अवसर देते, यदि श्री बसु ने यह घोषणा न की होती, कि राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा के नेता को आमंत्रित किया जाना चाहिए ।''[2] इस प्रकार लगभग समान परिस्थितियों में भी दो राज्यपालों ने अलग-अलग कार्यवाही की।

मार्च 1971 मध्यावधि चुनाव में, उड़ीसा में कोई भी राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। कांग्रेस (आर) सबसे बड़ा राजनीतिक दल था।[3] 21 मार्च 1971 को राज्यपाल श्री एस० एस० अन्सारी ने सत्ताधारी कांग्रेस विधायी दल के नेता, हरे कृष्ण महताब को, लोकप्रिय सरकार के गठन की सम्भावना का पता लगाने के लिए आमंत्रित किया। यद्यपि उनका दल अकेला सबे बड़ा राजनीतिक दल था परन्तु उन्होंने सरकार बनाने का दावा नहीं किया, क्योंकि उनका उत्कल कांग्रेस दल से कुछ मूलभूत मुद्दों पर सहमति नहीं हो सकी थी। इसलिए वे अपने बहुमत के दावे को सिद्ध करने में सक्षम नहीं थे। परिणाम स्वरूप राज्यपाल ने कांग्रेस (आर) के नेता को सरकार गठन के लिए

---

1. पी.एल. माथुर - पूर्वोधृत पृष्ठ 81
2. सिबरंजन चैटर्जी - गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ठ 116
3. दि स्टेट्समैन, 15 मार्च 1971, 140 सदस्यों की उड़ीसा विधान सभा में दलीय स्थिति इस प्रकार थी- कांग्रेस (आर) 51, स्वतन्त्रत-36, उत्कल कांग्रेस-32, झारखण्ड-4, पीएसपी-4, सीपीआई-3, सीपीआई ([illegible])-2, कांग्रेस (ओ) तथा जन कांग्रेस प्रत्येक-1 निर्दलीय-4

आमंत्रित नहीं किया। इसी समय स्वतन्त्र, उत्कल कांग्रेस और झारखण्ड दलों ने श्री बिस्वनाथ दास के नेतृत्व में ''उड़ीसा यूनाइटेड फ्रन्ट असेम्बली पार्टी'' का गठन किया। इस नव गठित दल को 140 में से 72 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। यूनाइटेड फ्रन्ट के बहुमत के समर्थन के दावे से सन्तुष्ट होकर राज्यपाल ने श्री दास को 31 मार्च, 1971 को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया । श्री दास ने आमंत्रण स्वीकृत किया। यद्यपि उड़ीसा में सरकार गठन में विलम्ब हुआ, परन्तु श्री दास को मुख्यमंत्री नियुक्त करके राज्यपाल ने सावधानी पूर्वक न्यायपूर्ण ढंग से कार्य किया और यह प्रथम अवसर था जब कांग्रेस दल की सरकार गठन की इच्छा को अस्वीकृत करके सरकार गठन से दूर रखा गया।[1]

गुजरात में 31 मार्च, 1971 को मुख्यमंत्री हितेन्द्र देसाई ने त्यागपत्र के पश्चात् राज्पाल ने कांग्रेस (आर) विधायी दल के नेता कांतिलाल घिया, को वैकल्पिक सरकार के गठन की सम्भावना का पता लगाने के लिये कहा। श्री विद्या ने राज्यपाल से परामर्श हेतु कुछ समय देने का अनुरोध किया। 6 अप्रैल, 1971 को कांग्रेस (आर) नेता ने अपने समर्थकों की सूची उपलब्ध कराने में असमर्थता प्रकट की। परिणाम स्वरूप राज्यपाल को कांग्रेस (आर) के बहुमत की सन्तुष्टि नहीं हुई और इसलिए उन्होंने दल के नेता को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित नहीं किया और न ही उसकी कुछ समय के लिए राष्ट्रपति शासन लागू करने की मांग को स्वीकार किया। राज्यपाल ने श्री देसाई को पुनः सरकार गठित करने के लिये आमंत्रित किया।[2]

फरवरी 1978 में असम के विधान सभा निर्वाचन में, कोई भी दल सदन में बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। जनता पार्टी सबसे बड़ा राजनीतिक दल था और राज्यपाल ने दल के नेता श्री गोपाल चन्द्र बारबोरा को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया। श्री बारबोरा ने दावा किया था कि वह सी पी आई (एम) तथा समान विचार वाले निर्दलीयों के समर्थन से स्थिर सरकार बनाने में सक्षम हैं। जनता सरकार 7 मार्च,1978 को सत्ताआसीन हुई।[3] यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि केन्द्र में जनता पार्टी

---

1. सिवाच जे. आर. ऑफिस ऑफ दि गवर्नर : ए क्रिटिकल स्टडी 1950-1973, पृष्ठ-61
2. सिवरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ 118
3. एशियन रिकार्डर, 2-8 अप्रैल 1978, पृष्ठ 14243-44

की सरकार थी। फरवरी 1978 में ही महाराष्ट्र विधान सभा निर्वाचन में जनता पार्टी कुल 288 स्थानों में से 99 स्थान प्राप्त करके अकेली सबसे बड़ी पार्टी थी, परन्तु उसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया गया। कांग्रेस (एस) और कांग्रेस (आई) ने क्रमश: 70 और 62 स्थान प्राप्त करके निर्दलीयों की सहायता से गठबन्धन सरकार बनाने की सहमति दी।[1] 4 मार्च, 1978 को दोनों दलों के नेताओं ने राज्यपाल से मिलकर संयुक्त रूप से 148 विधायकों की सूची दी, जिनका समर्थन उन्हें प्राप्त था। कांग्रेस (एस) नेता श्री वसन्त राव पाटिल ने 2 अन्य विधायकों के नाम 5 मार्च, 1978 को उपलब्ध कराने को कहा। उसी समय जनता पार्टी व उसके सहयोगियों ने 145 विधायकों की सूची उपलब्ध कराकर बहुमत का दावा किया। 5 मार्च को कांग्रेस (एस) तथा कांग्रेस (आई) के विधायकों ने राजभवन में राज्यपाल के सम्मुख उपस्थित होकर बहुमत के समर्थन का दावा किया। पाँच विधायकों के नाम दोनों समूहों की सूचियों में थे। राज्यपाल ने उन्हें अपने कक्ष में बुलाकर व्यक्तिगत रूप से उनकी निष्ठा की जांच की।[2] कांग्रेस (एस) और कांग्रेस (आई) के गठबन्धन के बहुमत के समर्थन की पुष्टि होने पर राज्यपाल ने बसन्त राव पाटिल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।

असम में लगभग तीन वर्षों तक विपक्षी दलों को सरकार बनाने के अधिकार से वंचित रखा गया. यद्यपि उन्हें विधान सभा में बहुमत प्राप्त था और कांग्रेस (आई) का बहुमत का दवा बार-बार असत्य सिद्ध हुआ। 6 दिसम्बर, 1980 को राज्यपाल एल०पी०सिंह ने कांग्रेस (आई) नेता अनवरा तैमूर को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई। कांग्रेस ने 188 सदस्यों के सदन में 52 सदस्यों के समर्थन का दावा किया।[3] 28 जून, 1981 को श्रीमती तैमूर ने पी.टी.सी.ए. द्वारा समर्थन वापस लेने पर त्याग पत्र दे तिया। विधायिका का सत्रावसान कर, 30 जून, 1981 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

---

1. एशियन रिकार्डर, - 2-8 अप्रैल 1978 पृष्ठ 14243 और 14245

2. हीरावत सरोज - 'चेन्जिंग रोल ऑफ दि गवर्नर इन अपाइन्टिंग दि कोआलिशन मिनिस्टरी इन दि कान्टेक्सट ऑफ महाराष्ट्र - एन.एपरैसल'' जरनल ऑफ कान्सटीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज, खण्ड XI, अक्टूबर-दिसम्बर, 1974, पृष्ठ 58-59।

3. कांग्रेस-45, प्लेन्स ट्राइबल काउन्सिल ऑफ असम (पी.टी.सीए) 4 और अन्य 3 का समर्थन।

[1] विपक्षी दलों को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया। 13 जनवरी, 1982 को राष्ट्रपति शासन समाप्त किया गया, जब कांग्रेस (आई) नेता के० सी० गगोई को राज्यपाल प्रकाश मेहरोत्रा ने मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई। श्री मेहरोत्रा ने विपक्ष के नेता श्री एस० सी० सिन्हा के 65 सदस्यों के समर्थन के दावे को अस्वीकार करके सरकार गठन का अवसर प्रदान नहीं किया। यही नहीं राज्यपाल ने श्री गंगोई को अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए दो माह का समय दिया और जब 18 मार्च को विधायिका की बैठक होने वाली थी, श्री गगोई ने कुछ क्षण पूर्व त्यागपत्र दे दिया। एक बार फिर श्री सिन्हा को सरकार गठित करने का अवसर नहीं दिया गया और 19 मार्च, 1982 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करके विधान सभा भंग कर दी गई। अपनी इस कार्यवाही से राज्यपाल विपक्ष की आलोचना का केन्द्र बने और विपक्ष ने संयुक्त रूप से उन्हें पदच्युत करने का ज्ञापन राष्ट्रपति को दिया। यहाँ तक कि कांग्रेस (आई) समर्थकों ने भी श्री गगोई की नियुक्ति को पक्षपातपूर्ण होने से इन्कार नहीं किया। राज्यपाल पूर्व में कह चुके थे कि वह अल्पमत सरकार को सत्तारूढ़ नहीं करेंगे, परन्तु उन्होंने ऐसा ही किया और श्री सिन्हा को किसी न किसी कारण से सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित नहीं किया। उन्होंने अपने उस आश्वासन को भी पूरा नहीं किया कि जो भी समूह सत्ता ग्रहण करेगा, उसे यथाशीघ्र विधायिका में अपना बहुमत सिद्ध करना पड़ेगा। इसके विपरीत उन्होंने श्री गगोई को दो माह का समय दिया और अल्पमत सरकार के विधान सभा भंग करने की सलाह को भी अस्वीकार कर लिया। इस प्रकार प्रकाश मेहरोत्रा ने अल्पमत सरकार को सत्तारूढ़ करके केन्द्र के निर्देशन तथा दबाव में पक्षपात पूर्ण ढंग से कार्य किया।[2]

28 दिसम्बर, 1981 को केरल में कांग्रेस (आई) नेता श्री करुणाकरण के नेतृत्व में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट (यू.डी.एफ.) की अल्पमत सरकार गठित की गई। राज्य में राज्यपाल की इस कार्यवाही के विरुद्ध व्यापक प्रदर्शन हुए। विधान सभा अध्यक्ष के निर्णायक मत द्वारा सरकार स्वयं को

---

1. नवाज़ बी० मोदी रोल ऑफ गवर्नरस सिन्स 1967, जरनल ऑफ कान्सटीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज 20(124) जनवरी-दिसम्बर 1986, पृष्ठ-103
2. वी० एल० फाड़िया- स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया, खण्ड- I, पृष्ठ 227-228

बचापाई और बाद में मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र दे दिया। मंत्रिमंडल के त्यागपत्र के पश्चात् राज्यपाल ने विपक्ष को सरकार गठित करने का अवसर प्रदान नहीं किया।[1]

मई 1982 के विधान सभा निर्वाचनों में, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश में कोई भी दल या गठबन्धन पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। हरियाणा में कांग्रेस (आई), 90 सदस्यों के सदन में 36 स्थान प्राप्त करके अकेला सबसे बड़ा राजनीतिक दल था।[2] 22 मई, 1982 को लोकदल नेता देवी लाल ने भाजपा के सहयोग से सरकार गठित करने का दावा प्रस्तुत किया। राज्यपाल श्री जी.डी. तपासे ने देवीलाल से अपने समर्थकों सहित 24 मई,1982 को राजभवन में उपस्थित होने के लिए कहा, ताकि उनका शारीरिक सत्यापन किया जा सके। परन्तु 23 मई, 1982 को कांग्रेस (आई) नेता भजनलाल, राज्यपाल से मिले और अपने समर्थकों की सूची प्रस्तुत कर, सरकार बनाने का दावा किया। राज्यपाल ने उनके दावे को स्वीकार किया और उसी शाम उन्हें मुख्य मंत्री पद की शपथ दिला दी। भजन लाल को अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए 38 दिन का समय दिया गया और श्री भजन लाल ने इसे सिद्ध भी कर दिया। परन्तु उल्लेखनीय तथ्य यह है कि शपथ ग्रहण से पूर्व समर्थकों की जो सूची भजनलाल ने प्रस्तुत की थी, उसमें 42 या 44 नाम ही थे।, इस तथ्य को स्वयं राज्यपाल ने भी स्वीकार किया।[3] जबकि बहुमत के समर्थन हेतु कम से कम 46 सदस्यों का समर्थन आवश्यक था।

राज्यपाल के इस कदम की सभी विपक्षी दलों ने निन्दा की और राष्ट्रपति से उन्हें पदच्युत करने के लिए कहा।[4] राज्यपाल की कार्यवाही की पंजाब व हरियाणा उच्च न्यायालय में प्रजातांत्रिक सोशलिस्टपार्टी के नेता द्वारा चुनौती दी गई। न्यायालय ने याचिका रद्द कर दी।[5] श्री तपासे ने भजनलाल

---

1. यू० एन० गुप्ता – इण्डियन फेडरेलिजम एण्ड यूनिटी ऑफ नेशन में चन्द्रपाल शरण का लेख रोल ऑफ गवर्नर इन सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स रिसेन्ट ट्रेन्डस, पृष्ठ-182-183
2. विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति इस प्रकार थी - कांग्रेस (आई) 36, लोकदल-31, भाजपा-6, कांग्रेस (जे)-3, जनता-1, निर्दलीय-12, पुनर्निर्वाचन -1
3. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ-119
4. इण्डियन एक्सप्रेस, 25 मई, 1982
5. इण्डियन एक्सप्रेस, 21 अक्टूबर 1982

की नियुक्ति के लिए 'अकेले सबसे बड़े राजनीतिक दल' का तर्क दिया था और यदि तपासे के तर्क के आधार पर कार्यवाही की जाती तो केरल में सी.पी.आई. (एम) मुख्यमंत्री पद का हकदार था। केरल में भी विधान सभा चुनाव मई 1982 में हुए थे। यद्यपि कांग्रेस (आई) के नेतृत्व में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट ने, 140 में से 77 स्थान प्राप्त किये थे, परन्तु सी.पी.आई. (एम) को 25 स्थान के अतिरिक्त 3 प्रायोजित निर्दलीयों का भी समर्थन प्राप्त था। यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट के नेता को मुख्यमंत्री पद प्रदान किया गया क्योंकि उसे विधायिका में बहुमत प्राप्त था।

उपरोक्त दोनों उदाहरणों की तुलना की जाय तो हरियाणा में लोकदल - भाजपा चुनाव पूर्व का गठबंधन था और उन्होंने मिलकर चुनाव लड़ा था। अतएव श्री तापसे को उन्हें अलग-अलग दल के रूप में न गिनकर एक इकाई के रूप में गिनना चाहिए था, जैसा कि केरल के राज्यपाल ने युनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट को सबसे बड़े समूह के रूप में सरकार गठित करने का अवसर दिया।

मई 1982 के निर्वाचन में हिमाचल प्रदेश में, कांग्रेस (आई) 68 सदस्यों के सदन में 32 स्थान प्राप्त करके सबसे बड़ा राजनीतिक दल था। भाजपा की नवगठित सदन में सदस्य संख्या 29 थी।[1] हिमाचल कांग्रेस (आई) विधायी दल के नेता को मुख्यमंत्री पद हेतु आमंत्रित किया गया।[2] भाजपा ने कोई विरोध नहीं किया वरन् भाजपा अध्यक्ष श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने कहा कि उनका दल विपक्ष की भूमिका निभायेगा, जिसके लिए जनता ने उसे निर्वाचित किया है।[3]

फरवरी 1983 में मेघालय में, 1978 के ही समान कोई भी राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। 60 सदस्यों के सदन में कांग्रेस (आई) सबसे बड़ा दल था।[4] कांग्रेस (आई) विधायी दल नेता कैप्टन संगमा ने, सबसे बड़े राजनीतिक दल के आधार पर सरकार बनाने का दावा किया।

---

1. इण्डियन एक्सप्रेस, 25 मई, 1982
2. इण्डियन एक्सप्रेस, 25 मई, 1982
3. इण्डियन एक्सप्रेस, 25 मई, 1982
4. विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी, कांग्रेस (आई)-25, ऑल पार्टी4 हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स - 15, हिल स्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी-15, पब्लिक डिमान्ड इम्पलीमेन्टेशन कन्वेन्शन-2 और तीन निर्दलीय।

अन्य दलों ने मिलकर नया गठबन्धन, ''यूनाइटेड मेघालय पार्लियामेन्टरी पार्टी'' (यू.एम.पी.पी)'' बनाया और श्री लिंगदोह को इसका नेता निर्वाचित किया। 28 फरवरी, 1983 को लिंगदोह ने 32 सदस्यों के समर्थन की सूची राज्यपाल को दी।[1] 1 मार्च को राज्यपाल ने श्री लिंगदोह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।[2] इस प्रकार मेघालय में 'सबसे बड़े राजनीतिक दल' का सिद्धान्त नहीं अपनाया गया। इसी प्रकार फरवरी 1990 में मणिपुर विधान सभा चुनाव में कांग्रेस (आई) को सबसे बड़े राजनीतिक दल होने के उपरान्त भी सरकार गठित करने का अवसर नहीं दिया गया।[3] उत्तर प्रदेश में नवम्बर 1993 में राज्य विधान सभा निर्वाचन हुए। समाजवादी पार्टी (सपा) और बहुजन समाज पार्टी (बसपा) ने चुनाव से पूर्व गठबन्धन किया था और निर्वाचन में साथ-साथ भाग लिया। राज्य में दलों की स्थिति इस प्रकार थी:-

दल		सीट
सपा	—	109
बसपा	—	67
भाजपा	—	177
कांग्रेस	—	28
जनतादल	—	27
सी.पी.आई.	—	3
सी.पी.आई. (एम)	—	1
यूकेडी	—	1
निर्दलीय	—	8

1. इण्डियन एक्सप्रेस, 1 मार्च, 1983
2. इण्डियन एक्सप्रेस, 2 मार्च, 1983
3. इण्डियन एक्सप्रेस, 24 फरवरी, 1990

भाजपा 177 स्थानों के साथ अकेला सबसे बडा राजनीतिक दल था और सपा-बसपा गठबन्धन 176 स्थानों के साथ द्वितीय स्थान पर था। सपा-बसपा गठबन्धन के नेता मुलायम सिंह ने भाजपा के अतिरिक्त, अन्य सभी दलों व चार निर्दलीय सदस्यों के समर्थन से सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत किया। तत्कालीन राज्यपाल श्री मोतीलाल वोरा ने पहले भाजपा के नेता से पूछा कि क्या वह स्थिर सरकार बनाने के इच्छुक व सक्षम हैं। 1 दिसम्बर, 1993 को वोरा ने श्री कल्याण सिंह को उनको समर्थन देने वाले विधायकों की सूची देने के लिए एक दिन का समय दिया कल्याण सिंह 2 दिसम्बर को सूची उपलब्ध नहीं करा सके, एवं एक दिन का समय और मांगा। इस पर श्री वोरा सहमत हो गये और 3 दिसम्बर तक इन्तजार किया, परन्तु भाजपा अपने समर्थकों की कोई भी सूची उपलब्ध कराने में सफल न हो सकी । तब श्री वोरा ने द्वितीय सबसे बड़े राजनीतिक समूह के नेता श्री मुलायम सिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। यद्यपि भाजपा ने इस कार्यवाही का विरोध किया, परन्तु प्रथम दृष्टया भाजपा सरकार बनाने में सक्षम नहीं थी और न ही वह अपने समर्थन में कोई प्रमाण दे पायी थी जबकि श्री मुलायम सिंह ने 240 विधायकों के समर्थन की सूची व विभिन्न राजनीतिक दलों के समर्थन के पत्र राज्यपाल को उपलब्ध कराये थे।[1]

फरवरी 2000 में बिहार विधान सभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। राजद गठबन्धन सबसे बड़ा राजनीतिक दल बना जबकि एन.डी.ए. गठबन्धन कुछ स्थान कम प्राप्त करके द्वितीय स्थान पर था। [2]

3 मार्च, 2000 को एन.डी.ए. विधायी दल के नेता श्री नितीश कुमार को मुख्य मंत्री पद की शपथ दिलाई गयी । श्री कुमार ने केन्द्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिया था। राज्यपाल विनोद चन्द्र पाण्डेय ने उन्हें 10 दिन के अन्दर अपना बहुमत सिद्ध करने के लिये कहा ।

राजद के नेता लालू प्रसाद ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि उनके पास 161 सदस्यों का समर्थन प्राप्त है जो स्पष्ट बहुमत के लिये आवश्यक 163 सदस्यों में केवल 2 कम हैं । उनका कहना था कि राज्यपाल ने केन्द्र सरकार के इशारे पर कार्य किया है ।

---

1. चन्द्रभूषण पाण्डेय - गवर्नर - प्रिजर्वर, प्रोटेक्टर एण्ड डिफेन्डर ऑफ दि कान्सटीट्यूशन- पृष्ठ 41-42

2. दि टाइम्स आफ इण्डिया (लखनऊ) 27 फरवरी, 2000

राज्यपाल का कहना था कि 1 मार्च, 2000 को राबड़ी देवी ने मंत्रीपरिषद गठित करने के दावे के साथ अपने समर्थकों की सूची नहीं दी थी और राजभवन सूत्रों के अनुसार राज्यपाल ने 48 घन्टे इन्तजार किया था।[1] 2 मार्च, को ही नितीश कुमार ने भी मंत्रि परिषद गठित करने का दावा किया था और अपने 146 समर्थकों की सूची राज्यपाल को दी थी। जबकि लालू प्रसाद यादव सबसे बड़े राजनीतिक दल गठबन्धन के आधार पर मंत्रि परिषद गठित करने की मांग कर रहे थे।[2] राज्यपाल श्री पाण्डेय ने पिछले वर्ष महाराष्ट्र का उदाहरण लिया जहां राज्यपाल पी.सी. एलेक्जेन्डर ने शिव सेना - भाजपा गठबन्धन को सबसे बड़ा दल होने के बावजूद कांग्रेस एन.सी.पी. गठबन्धन को आमंत्रित किया क्योंकि इसका विधान सभा में बहुमत था। राबड़ी देवी ने राज्यपाल को वापस बुलाने की मांग की।[3]

विधान सभा अध्यक्ष (स्पीकर) के निर्वाचन में कांग्रेस के प्रत्याशी सदानन्द सिंह की जीत ने सदन में राजद के बहुमत को सिद्ध कर दिया।[4] 10 मार्च को नितीश कुमार ने विधान सभा में विश्वास प्रस्ताव पर बोलते हुये कहा कि वह आवश्यक समर्थन जुटाने में असफल रहे हैं जिससे कि विधान सभा में बहुमत सिद्ध किया जा सके । इस कारण उन्होंने त्याग पत्र दे दिया । राज्यपाल ने वैकल्पिक व्यवस्था होने तक उन्हें पद पर बने रहने को कहा ।[5]

11 मार्च को राबड़ी देवी को मुख्य मंत्री पद की शपथ दिलायी गयी और 10 दिन के अन्दर बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा गया । 16 मार्च को राबड़ी देवी ने विश्वास मत प्राप्त किया ।

---

1. कांग्रेस (आई) ने राजद का समर्थन देने की घोषणा में विलम्ब किया और यह सूचना 3 मार्च को दोपहर में दी गयी ।
2. नितीश कुमार 151 का बहुमत और राजद को 160 सदस्यों के समर्थन का दावा था।
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया (लखनऊ) 5 मार्च, 2000
4. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 10 मार्च , 2000
5. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया . 11 मार्च, 2000

इस प्रकार से संविधान लागू होने के बाद से ही, राज्यों में स्थिर सरकार की स्थापना के लिये राज्यपालों ने विभिन्न राज्यों मे एक सी परिस्थितियों में अलग-अलग मापदण्ड अपनाया है । सबसे बड़े राजनीतिक दल को सरकार गठित करने के लिये आमंत्रित करने का सिद्धान्त प्रायः उन्हीं राज्यों में अपनाया गया है जहाँ केन्द्रीय सत्ताधारी दल की राज्य ईकाई, सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में सामने आई थी।[1] ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जबकि केन्द्र के सत्ता धारी दल की राज्य इकाई को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित नहीं किया गया,यद्यपि राज्य इकाई सरकार बनाने की इच्छुक थी।[2] कुछ राज्यों में सबसे बड़े राजनीतिक दल का सिद्धान्त नहीं अपनाया गया । इन राज्यों में गठबन्धन सरकार को प्राथमिकता दी गयी, यद्यपि चुनाव पूर्व व चुनाव पश्चात गठबन्धन व उनके बहुमत के दावे के लिए राज्यपालों ने अलग अलग मापदण्ड अपनाया था।

जब किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है तो राज्यपाल को क्या करना चाहिए? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर, लोगों ने अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं। क्या उसे अकेले सबसे बड़े राजनीतिक दल को सरकार के गठन हेतु आमंत्रित करना चाहिए, या उसे अन्य छोटे समूहों को गठबन्धन सरकार बनाने का अवसर देना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर में विचारकों में मतभेद हैं । प्रसिद्ध न्यायविद जैसे ए. के. सरकार, पी. बी. गजेन्द्र गडकर और मेहर चन्द महाजन ने इस मत का समर्थन किया कि जो व्यक्ति स्थिर सरकार प्रदान कर सके, उसे राज्यपाल द्वारा सरकार गटन हेतु आमंत्रित करना चाहिए ।[3] श्री सीतलवाड़ के अनुसार ,''यदि सत्ताधारी दल बहुमत प्राप्त करने में

---

1. 1980 तक कांग्रेस या कांग्रेस (आई) सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी थी ये राज्य है - उड़ीसा (1957), राजस्थान और उत्तर प्रदेश (1967), बिहार (1969), मणिपुर (1980), हिमाचल व हरियाणा व हिमाचल प्रदेश (1982), 1978 में असम में जनता पार्टी सबसे बड़ा राजनीतिक दल था और केन्द्र में जनता पार्टी की ही सरकार थी।

2. उड़ीसा में कांग्रेस दल (1971), महाराष्ट्र में जनता पार्टी (1978) , मेघालय में कांग्रेस आई (1983), एवं 1983 में कांग्रेस केन्द्र में सत्ताधारी दल था जबकि 1978 में जनता पार्टी केन्द्रीय सत्ता धारी दल था।

3. चन्द्र पाल शरण - गवर्नर इन सेन्टर स्टेट रिलेशन्स जरनल ऑफ कान्स्टीटयूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज 20 (1-4), जनवरी - दिसम्बर 1986 पृष्ठ 83

असफल होता है तो राज्यपाल को इसे जन अस्वीकृति मानना चाहिए और विरोधीदल के नेता को सरकार के गठन के लिए आमंत्रित करना चाहिए। उसके ऐसा करने में असफल होने पर सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता को आमंत्रित करना चाहिए।[1] राज्यपालों की समिति ने भी विचार व्यक्त किया है कि, ''मुख्यमंत्री की नियुक्ति के लिये प्रासंगिक परीक्षण दल का आकार नहीं वरन् विधायिका में बहुमत का समर्थन प्राप्त करना है।''[2]

इस प्रकार से मुख्य मंत्री की नियुक्ति या सरकार के गठन में तब तक कोई समस्या नहीं आती है जब तक कि किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है। स्पष्ट बहुमत के अभाव में राज्यपाल को स्वविवेक का प्रयोग कर नियुक्ति करनी पड़ती है, जो पक्षपातपूर्ण होने के कारण प्राय: विवाद का विषय बनती है। अतएव उचित यह होगा कि राज्यपाल निष्पक्ष रूप से कार्यवाही करें और ऐसे दल, गठबन्धन या व्यक्ति को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करें जो स्थिर सरकार देने में सक्षम हो। इसके लिए उचित यही होगा कि निर्वाचन के तुरन्त बाद, जब कोई दल पूर्ण बहुमत प्राप्त न कर सके तो सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता या चुनाव पूर्व गठित सबसे बड़े संयुक्त मार्चा के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करें ।

पूर्व राज्यपाल गोविन्द नारायण का कहना है कि ''स्पष्ट बहुमत के अभाव में सबसे सरल तरीका यह होगा कि सबसे बड़े राजनीतिक दल से राज्यपाल प्रमाण उपलब्ध कराये कि प्रथम दृष्टया, दल विधायिका में बहुमत प्राप्त करने में सफल हो सकेगा । ऐसे प्रमाण सन्तोष प्रद होने पर, राज्यपाल, उस दल को सरकार गठित करने के लिये इस शर्त पर कहे कि बहुमत के परीक्षण के लिए विधायिका का सत्र यथाशीघ्र बुलाया जाये।''[3]

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में राज्यपाल यह कैसे निधार्रित करे कि किस व्यक्ति, दल या गठबन्धन के पास स्थिर सरकार की क्षमता है । इसके लिए राज्यपालों ने निम्न तीन तरीके अपनाये हैं :-

---

1. चन्द्रपाल शरण - पूर्वोधृत - पृष्ठ 83
2. राज्यपालों की समिति रिपोर्ट, 1971 पृष्ठ 27
3. दि गवर्नर - सेज और सेबोटेयर - कान्स्टीट्यूशनल आब्लीगेशन - गोविन्द नारायण पृष्ठ 82

1) **सूची व्यवस्था :-**

इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुख्य मंत्री पद का दावेदार अपने समर्थकों के नाम की एक सूची बना कर राज्यपाल को दे देता है ।

2) **परेड या शारीरिक सत्यापन :-**

इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुख्यमंत्री पद के दावेदार अपने अपने समर्थकों को राजभवन में राज्यपाल के सम्मुख उपस्थित करते हैं ।

3) **सूची के साथ सत्यापन :-**

इस व्यवस्था में राज्यपाल सूची में निर्दिष्ट व्यक्तियों के नामों पर सन्देह होने पर उनसे व्यक्तिगत रूप से साक्षात्कार करके या समर्थकों को अपने सम्मुख उपस्थित करवा कर बहुमत का परीक्षण करते हैं ।

कुछ राज्यों में मुख्यमंत्री पद के एक से अधिक दावेदार थे। राज्यपाल ने उन्हें अपने समर्थकों की सूची उपलब्ध कराने के लिए कहा। जिन विधायकों के नाम दोनों सूचियों में थे, उन विधायकों से राज्यपाल ने साक्षात्कार किया । 1967 में उत्तर प्रदेश में विश्वनाथ दास, राजस्थान में हुकुम सिंह, 1974 में नागालैण्ड में बी.के. नेहरू और 1978 में महाराष्ट्र में सादिक अली ने इस प्रक्रिया को अपनाया। यह सूची सहित सत्यापन था। यद्यपि कुछ दूसरे राज्यों में बहुमत के प्रश्न का निर्धारण उन विधायकों से साक्षात्कार के बिना किया गया जिनका नाम दोनों सूचियों में उपलब्ध था। ऐसा बिहार में 1969 व 1970 में राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो द्वारा किया गया और दोनों ही बार कांग्रेसी नेता मुख्य मंत्री बनाये गये । यहां तक कि 1984 में आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल राम लाल ने, रामाराव सरकार को बर्खास्त करके भाष्कर राव को मुख्यमंत्री नियुक्त करते समय इसी सिद्धान्त को अपनाया । ऐसे मामलों में राज्यपाल का निर्णय हमेशा कांग्रेसी दल या कांग्रेस समर्थित दल के पक्ष में था।[1]

---

1. जे.आर. सिवाच - डाइनेमिक्स ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स पृष्ठ 127

यद्यपि किसी भी राज्यपाल ने शुद्ध परेड व्यवस्था पर बल नहीं दिया,[1] परन्तु इस प्रक्रिया को कुछ दावेदारों ने राज्यपाल को प्रभावित करने के लिए अपनाया । उदाहरण के लिए 1970 में गुरनाम सिंह को अकाली दल द्वारा हटा दिया गया, तो नव निर्वाचित अकाली नेता प्रकाश सिंह बादल अपने समर्थकों को राजभवन ले गये और राज्यपाल श्री पावटे से उनकी संख्या की जांच करने के लिए कहा। यही सिद्धान्त 1974 में मणिपुर में अपनाया गया, जब दोरेन्द्र सिंह ने अपने सभी समर्थकों को राज्यपाल एल. पी. सिंह के सम्मुख प्रस्तुत किया। 1978 में महाराष्ट्र में कांग्रेस और कांग्रेस (आई) ने संयुक्त रूप से अपने 149 समर्थक विधायकों को राज्यपाल सादिक अली के सम्मुख उपस्थित किया । 1984 में आंन्ध्र प्रदेश के पदच्युत मुख्य मंत्री रामाराव ने राष्ट्रपति के सम्मुख अपने 163 समर्थकों को उपस्थित किया । इससे पहले 1967 में राजस्थान के संयुक्त मोर्चा नेता महारावल लक्ष्मन सिंह ने भी ऐसा ही किया था, जब उन्होंने अपने बहुमत को सिद्ध करने के लिए, समर्थक विधायकों को राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत किया । 1984 में जम्मू कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन ने भी इसी सिद्धान्त को अपनाया, जब उन्होंने फारूक अब्दुल्ला सरकार को पदच्युत करके, जी.एम. शाह को मुख्य मंत्री नियुक्त किया।[2]

यहां भी ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि अनुमान लगाते समय बिहार के राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने 1967 में निर्दलीयों को गिनने से इन्कार कर दिया था जबकि उत्तर प्रदेश में विश्वनाथ दास व बिहार में सम्पूर्णानन्द के उत्तराधिकारी हुकुम सिंह ने उन्हें गिना था। 1967 के पूर्व व पश्चात सभी राज्यपालों ने निर्दलीयों को बहुमत का अनुमान लगाने में सम्मिलित किया था।

इस प्रकार से स्थिर सरकार बनाने की सम्भावना का अनुमान लगाने में राज्यपालों ने अलग अलग प्रक्रिया अपनाई । यही नहीं राज्यपाल ने मुख्यमंत्रियों को बहुमत सिद्ध करने के लिये भी अलग

---

1. 1982 में हरियाणा के राज्यपाल श्री तपासे ने लोकदल नेता देवी लाल से अपने समर्थकों सहित 24 मई 1982 को राजभवन में उपस्थित होने के लिए कहा था, ताकि उनके समर्थकों का शारीरिक सत्यापन किया जा सके परन्तु 23 मई 1982 की शाम उन्होंने कांग्रेस नेता भजनलाल को उनके द्वारा प्रस्तुत सूची के आधार पर शपथ दिला दी ।

2. जे. आर. सिवाच - पूर्वोधृत पृष्ठ 127-128

अलग समय सीमा निर्धारित की। उदाहरण के लिये उत्तर प्रदेश श्में राज्यपाल बी. गोपाल रेड्डी ने 3 माह का समय दिया जबकि पश्चिम बंगाल में धर्मवीर ने 20 दिन का समय देना भी उचित नहीं समझा। पुनः बिहार में चार व हरियाणा में 3 माह का समय दिया गया । 1984 में जम्मू कश्मीर में फारूक अब्दुल्ला के उत्तराधिकारी श्री शाह तथा आन्ध्र प्रदेश में रामाराव के उत्तराधिकारी भाष्कर राव को 1 माह का समय दिया गया । विधान सभा में बहुमत सिद्ध करने के लिए अधिक समय देना केवल दल बदल को प्रोत्साहन देता है । अतएव यह अनुचित है । विधान सभा कक्ष में बहुमत के परीक्षण के लिए एक सप्ताह से अधिक का समय नहीं देना चाहिए ।

मुख्य मंत्री की नियुक्ति के पश्चात् राज्यपाल विधान सभा कक्ष में बहुमत के परीक्षण के लिए कम से कम एक सप्ताह व अधिक से अधिक 2 सप्ताह का समय दे, जिससे कि दल बदल को अधिक प्रोत्साहन न मिले । यदि उपरोक्त सिद्धान्तों को परम्परा के रूप में अपना लिया जाये,तो बहुत सम्भव है कि अब तक मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति में पक्षपात पूर्ण व केन्द्र के निर्देशन में कार्यवाही करने के आरोपों से राज्यपाल को बचाया जा सकता है ।

मुख्य मंत्री/ मंत्रिपरिषद की पदच्युति :

1967 के बाद का काल भारतीय राजनीति में राजनीतिक उपद्रव व अनिश्चितता का काल था। जैसा के पहले भी कहा जा चुका है कि 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् कई राज्यों में एक दलीय प्रभुत्व समाप्त हुआ और लोकसभा में भी कांग्रेस सीमान्त बहुमत पर पहुंच चुकी थी। विरोधी दल एक जुट हुआ और उन्होंने संयुक्त मोर्चा बना कर कई राज्यों में सत्ता प्राप्त की । कभी कभी यह गठबन्धन दस बारह दलों को मिलाकर बना था । इन दलों के राजनीतिक दर्शन में कोई समानता नहीं थी, परन्तु वे कांग्रेस को सत्ता से दूर रखने के एक मात्र लक्ष्य के लिये एकजुट थे । गठबन्धन सरकारों ने संवैधानिक विधि सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को जन्म दिया । राज्यों में राष्ट्रपति शासन, विधान सभा भंग होना और राज्यपाल की शक्तियों, विशेष रूप से मुख्यमंत्री की नियुक्ति व पदच्युति सम्बन्धी कई संवैधानिक प्रश्न उत्पन्न हुए । इनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या राज्याध्यक्ष को मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने का अधिकार है और क्या वह मंत्रीपरिषद की सलाह का उल्लंघन कर विधान सभा अधिवेशन बुला सकता है । यहां हम राज्यपाल की मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने के अधिकार का अध्ययन करेंगे ।

संविधान में कहा गया है कि मंत्रिपरिषद राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त कार्य करेंगी । प्रसाद पर्यन्त शब्द का तकनीकी अर्थ में प्रयोग किया गया है । इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद को अपनी इच्छा से पदच्युत कर सकता है। यह संसदीय व्यवस्था का सुस्थापित सिद्धान्त है कि मंत्रिपरिषद को जब तक विधायिका का विश्वास मत प्राप्त है, उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता है। संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष, डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में ''प्रसाद पर्यन्त'' शब्द को स्पष्ट करते हुये कहा कि, ''मुझे इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है कि इस संविधान का यह उद्देश्य है कि मंत्रिपरिषद को जब तक बहुमत का विश्वास प्राप्त है, अपने पद पर बनी रहेगी। संविधान इस सिद्धान्त पर कार्य करेगा ... प्रसाद पर्यन्त का हमेशा यह अर्थ होगा कि प्रसाद तब बना नहीं रहेगा, जब मंत्रिपरिषद ने बहुमत का विश्वास खो दिया है । जिस क्षण मंत्रिपरिषद बहुमत का विश्वास खोती है, यह अनुमानित है कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने में अपने प्रसाद का प्रयोग करेगा और इसलिए यह अनावश्यक है कि सभी उत्तरदायी सरकारों में प्रयुक्त रूढ़िवद्ध भाषा शैली से असहमत हुआ जाए ।''[1]

ऐसे बहुत से विचारक हैं जो इस मत का समर्थन करते हैं कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद को पदच्युत नहीं कर सकता है । उदाहरण के लिए, एन.सी.चैटर्जी, पूर्व संसद सदस्य का विचार है कि विधान सभा की बैठक हुए बिना और इस विषय पर स्पष्ट मतदान हुए बिना, राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से मंत्रिपरिषद को पदच्युत करना, संवैधानिक प्रावधानों के प्रतिकूल होगा । के.वी. राव का कहना है कि राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद के गठन के पश्चात्, वह परिदृश्य से अलग हो जाता है, और मामला विधायिका को हस्तगत हो जाता है। यह विधायिका निर्धारित करेगी कि मंत्रिपरिषद को कितने समय तक कार्य करने दिया जाय । बम्बई उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश एम.सी. छागला का मानना है कि जब तक विधायिका द्वारा मंत्रिपरिषद को मतदान द्वारा हटाया न जाये, राज्यपाल उसे पदच्युत नहीं कर सकता है।[2]

---

1. कान्सटीट्यून्ट असेम्बली डिबेड खण्ड आठ, पृष्ठ 520
2. पी. एल. माथुर - रोल आफ गवर्नर इन नान कांग्रेस स्टेटस पृष्ठ 91-92

दूसरी विचारधारा यह है कि राज्यपाल को मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने की अप्रतिबन्धित शक्ति प्राप्त है। वह प्रसादपर्यन्त शब्द का शाब्दिक अर्थ लेते हैं । राज्यपाल का प्रसाद कब तक बना रहेगा, यह राज्यपाल पर निर्भर करेगा । 1967 में पश्चिम बंगाल मंत्रिपरिषद को राज्यपाल द्वारा पदच्युत करने पर मामला कलकत्ता उच्च न्यायालय में गया । महावीर प्रसाद बनाम पी. सी. घोष [1] के मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय का कहना था कि अनुच्छेद 164(1) राज्यपाल की मुख्य मंत्री नियुक्त करने की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध व शर्त लागू नहीं करते हैं, अनुच्छेद 164(1) के अनुसार मंत्रिपरिषद राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद ग्रहण करती है। राज्यपाल के प्रसाद के ऊपर कोई बन्धन नहीं लगाया गया है । उसके द्वारा प्रसाद प्रदान करना या प्रतिसंहरण करना स्वविवेक पर निर्भर है, जिसे किसी भी विधि न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 164(2) में निहित सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त , उसकी इस शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता है ।

संविधान निर्माताओं को यह आशा थी कि परम्पराएं विकसित होंगी, जिनसे राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद की मनमाने तरीके से पदच्युति को रोका जा सकेगा । जैसा कि ठाकुर दास भार्गव ने कहा था कि परम्परा विकसित करनी होगी कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद को तभी पदच्युत कर सकता है जब वह विधान सभा में विश्वास प्राप्त करने में असफल हो।[2] परन्तु विधान सभा में कौन सी पराजय मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र मांगती है यह अभी तक स्पष्ट नहीं है। चूंकि हमने ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था को अपनाया है, अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि हम वहां स्थापित परम्पराओं को भी अपनाएं । ब्रिटिश संविधान के विधि विशेषज्ञों का मानना है कि ब्रिटिश सम्राट तीन आधारों पर मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने का विशेषाधिकार रखता है ।[3]

1. यदि क्राउन के निर्णय में मंत्रिपरिषद ने जनता का विश्वास खो दिया है । यह कामन सभा को भंग करने का अधिकार भी देती है ।

---

1. महावीर प्रसाद शर्मा बनाम पी.सी. घोष ए.आई.आर. 1969, कलकत्ता 198
2. सी. ए. डी. खण्ड आठ, पृष्ठ 513
3. एन. एस. गहलौत - स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया, ट्रेण्ड एण्ड इश्यूज, पृष्ठ 80

2. यदि क्राउन सन्तुष्ट है कि मंत्रिपरिषद ने कामन सभा का विश्वास खो दिया है ।

3. क्राउन को अधिकार है कि वह सदन का विश्वास प्राप्त मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर दे, यदि वह अपने क्रिया कलापों में दोषी पाया गया हो।

इसलिये राज्य के राज्यपाल को इन्हीं आधारों पर मंत्रिपरिषद को पजच्युत करने का विशेषाधिकार है। डा० अम्बेडकर ने 2 जून,1949 को संविधान सभा में स्पष्ट किया था कि राज्यपाल के कोई विशेष कार्य नहीं हैं वरन् उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। उसके कर्त्तव्यों को अम्बेडकर ने दो भागों में बाँटा था। पहला उसे मंत्रिपरिषद को बनाये रखना है, क्योंकि मंत्रिपरिषद् को उसके "प्रसाद पर्यन्त" पद ग्रहण करना है। उसे देखना है कि कब और कहाँ उसे मंत्रिपरिषद के विरुद्ध प्रसाद का प्रयोग करना है। दूसरा कर्त्तव्य जो राज्यपाल का है और होना चाहिए वह है कि मंत्रिपरिषद को सलाह, चेतावनी, विकल्प का सुझाव देना और पुनर्विचार के लिये कहना। उन्होंने आगे कहा कि राज्यपाल दल का प्रतिनिधि नहीं है। राज्य के एक पूर्ण के रूप में जनता का प्रतिनिधि है। वह जनता के नाम पर प्रशासन चलाता है। उसे देखना चाहिए कि प्रशासन उस स्तर पर चल रहा है, जिसे अच्छा, सक्षम और ईमानदार माना जा सके।[1]

राज्यपाल के सम्बन्ध में अम्बेडर के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि राज्यपाल के कोई कार्य नहीं वरन् कर्त्तव्य हैं। उनके कथन से यह भी स्पष्ट है कि अपने प्रसाद के प्रतिसंहरण में स्वविवेक का प्रयोग वह केवल तभी कर सकता है जब कर्त्तव्यों की पूर्ति में आवश्यक हो। वास्तव में देखा जाय तो वाक्य-खण्ड 'राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त' उसकी निहितार्थ शक्तियाँ बताता है। कुछ तार्किक व आवश्यक आधारों पर वह मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर सकता है। राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद को निम्न में से किसी एक आधार पर पदच्युत किया जा सकता है :-

1. राज्यपाल सन्तुष्ट हो जाय कि मंत्रिपरिषद् ने विधायिका में बहुमत खो दिया है और अल्पमत हो गई है।

---

1. सी.ए.डी. खण्ड VIII - पृष्ठ 546

2. विधान सभा में पराजित होने के पश्चात् मुख्यमंत्री त्यागपत्र देने से मना कर दे।

3. जब सरकार पर घूसखोरी और भ्रष्ठाचार या कुप्रशासन का आरोप हो।

4. जब मंत्रिपरिषद् जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व न करे।

5. यदि मंत्रिपरिषद भू-कानून का उल्लंघन करें।

राज्यपालों ने मंत्रिपरिषद् को पदच्युत करते समय इनमें से किसी न किसी एक आधार को अपनाया है। विशेष उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न आधारों को अपनाते समय एक जैसी परिस्थितियों में राज्यपालों ने अलग-अलग कार्यवाही की है। कुछ महत्पूर्ण मामले इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

मुख्यमंत्री के अल्पमत होने पर पदच्युति :-

संसदीय प्रजातंत्र में यह एक स्थापित सिद्धान्त है कि मंत्रिपरिषद विधायिका के प्रति उत्तरायी होती है। जब तक उसे विधायिका के बहुमत का समर्थन प्राप्त है उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब मंत्रिपरिषद बहुमत खो देती है और विधायिका का सामना किये बिना पद पर बने रहना चाहती है। राज्यपाल के लिए यह बहुत कठिन कार्य हो जाता है कि यह निर्धारित करे कि क्या वास्तव में मंत्रिपरिषद ने बहुमत का समर्थन खो दिया है और विशेष रूप से दल-बदल, दल के विघटन या गठनबन्धन सरकार में फूट पड़ने की स्थिति में है। इन सभी परिस्थितियों में राज्यपाल के लिए उचित होगा कि वह अनावश्यक प्रमाणों का सहारा लेने के स्थान पर विधान सभा का विशेष सत्र बुलाए और विधानसभा कक्ष में मंत्रिपरिषद की शक्ति परीक्षण की व्यवस्था करे। यदि मुख्यमंत्रा विधान सभा का अधिवेशन शीघ्र बुलाने से इन्कार कर दे तो राज्यपाल को तुरन्त ही मुख्यमंत्री को पदच्युत कर देना चाहिए। इस प्रकार की स्थिति गठबन्धन सरकारों के काल में उत्पन्न होती है।

उदाहरणार्थ ऐसी परिस्थिति चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् उत्पन्न हुई, जब पश्चिम बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने, पश्चिम बंगाल की प्रथम संयुक्त मोर्चा सरकार को 21 नवम्बर, 1967 को पदच्युत कर दिया।

प्रथम संयुक्त मोर्चा सरकार का संकट, खाद्य व कृषि मंत्री पी०सी० घोष के त्यागपत्र से प्रारम्भ होता है। श्री घोष ने दार्जलिंग में 3 नवम्बर 1967 को अपना त्यागपत्र सीधे राज्यपाल को दिया। त्यागपत्र के साथ उन्होंने 17 संयुक्त मोर्चा विधायकों के समर्थन की सूचना भी दी। सरकार से समर्थन वापसी के प्रमाण के रूप में 14 विधायक राजभवन में राज्यपाल से मिले और व्यक्तिगत रूप से उन्हें अपने निर्णय से अवगत कराया। कांग्रेस विधायी दल के नेता ने भी राज्यपाल के पास एक सूचना भेजी और मांग की कि चूंकि संयुक्त मोर्चा अल्पमत में है, इसलिए विधानसभा का अधिवेशन तुरन्त बुलाकर शक्ति परीक्षण कराया जाये। श्री घोष ने नये संसदीय दल-प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक पार्टी (पी.डी.एफ.) के गठन की घोषणा की। 6 नवम्बर को जब मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के साथ सहयोगियों के साथ राज्यपाल से मिलने गये तो राज्यपाल ने उनसे कहा कि चूंकि सरकार के बहुमत के विषय में सन्देह के लिये अनेक प्रतिनिधि मिल चुके हैं अतएव यह आवश्यक है कि शक्ति परीक्षण हेतु विधान सभा अधिवेशन शीघ्र बुलाया जाए। 7 नवम्बर को मंत्रिमंडल ने बैठक में विधान सभा अधिवेशन 18 दिसम्बर को बुलाने का निर्णय लिया और इस निर्णय से राज्यपाल को अवगत कराया। राज्यपाल ने मंत्रिमंडल के निर्णय से असंतोष व्यक्त किया और मुख्यमंत्री से विधान सभा अधिवेशन 23 नवम्वर को बुलाने का आग्रह किया। 17 नवम्बर को मंत्रिमंडल ने अपनी विशेष बैठक में राज्यपाल द्वारा अधिवेशन शीघ्र बुलाने के आग्रह को अस्वीकृत किया। राज्यपाल द्वारा मंत्रिमंडल की सलाह के विपरीत शीघ्र अधिवेशन बुलाने के आग्रह से उत्पन्न स्थिति पर विचार के लिये मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति को पत्र लिखकर यह अनुरोध किया कि वह उच्चतम न्यायालय से निम्नलिखित संवैधानिक प्रश्नों पर परामर्श देने को कहें :-[1]

1. क्या राज्यपाल विधान सभा के निर्णय के बिना किसी मंत्रिमंडल को पदच्युत कर सकता है?
2. क्या वह ऐसा केवल अपने वैयक्तिक विवेक के आधार पर कर सकता है?
3. क्या वह विधान सभा का अधिवेशन बुलाने के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री के परामर्श की उपेक्षा कर सकता है ?

---

1. एशियन रिकार्डर, 26 नवम्बर-2 दिसम्बर 1967, पृष्ठ 8038 और संसदीय पत्रिका में उद्घृत बृजेन्द्र गौतम के लेख-संविधान में राज्यपाल का पद तथा उसका उभरता हुआ स्वरूप, पृष्ठ 55-56

4. क्या वह मंत्रिमंडल को इस आधार पर पदच्युत कर सकता है कि मुख्यमंत्री द्वारा उसके परामर्श को स्वीकार न करने का अर्थ है संविधान का उल्लंघन?

5. यदि मुख्यमंत्री राज्यपाल के परामर्श को स्वीकार न करे तथा विधान सभा का अधिवेशन पहले न बुलाया जाये तो क्या इस स्थिति में राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रपति से यह अनुरोध करे कि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये ?

6. यदि विधान सभा में शक्ति परीक्षण नहीं हुआ है तो क्या राज्यपाल उस स्थिति में मंत्रिमंडल के परामर्श की उपेक्षा कर सकता है?

7. यदि राज्यपाल के विचार में मंत्रिमंडल को विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है तो क्या वह केवल अपने वैयक्तिक निर्णय के आधार पर मंत्रिमंडल के इस परामर्श की उपेक्षा कर सकता है कि विधान सभा को विघटित कर दिया जाय।

यद्यपि ये प्रश्न महत्वपूर्ण थे, किन्तु केन्द्रीय सरकार ने उनकी उपेक्षा की और घोषित किया कि उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान स्वयं संविधान में निहित है। 21 नवम्बर, 1967 को राज्यपाल ने संविधान के अनुच्छेद 164(1) में निहित शक्ति का प्रयोग करते हुए, मुखर्जी मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया। राजभवन से जारी एक सूचना में कहा गया कि यदि सरकार के बहुमत के समर्थन का सन्देह हो तो उचित कार्यवाही यह है कि विधान सभा कक्ष में यथाशीघ्र बहुमत का परीक्षण किया जाए। परन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि मुख्यमंत्री ने विधान सभा अधिवेशन शीघ्र बुलाने से इन्कार किया और उसे 18 दिसम्बर को बुलाने की सलाह दी। प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक फ्रन्ट के नेता पी०सी० घोष उसी दिन मुख्यमंत्री नियुक्त हुए।[1]

राज्यपाल ने अपनी कार्यवाही इस आधार पर उचित ठहराई कि मंत्रिपरिषद ने बहुमत खो दिया था। उनका विचार था कि किसी भी सूचना या सामग्री से यदि राज्यपाल को यह ज्ञात हो जाए कि मंत्रिपरिषद अल्पमत में आ गई है, तो राज्यपाल को मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने का पूर्ण अधिकार है,

---

1. एशियन रिकार्डर 10-16 दिसम्बर 1967, पृष्ठ 8068-61

पूरे घटनाक्रम पर विचार किया जाये, तो राज्यपाल द्वारा प्रस्तुत तर्क उचित प्रतीत नहीं होता है। संसदीय प्रजातंत्र में विधायिका का विश्वास मत प्राप्त मंत्रिपरिषद को पदच्युत नहीं किया जाना चाहिए। राज्यपाल और मंत्रिपरिषद द्वारा विधायिका के अधिवेशन की निर्धारित तिथि के मध्य 1 माह से भी कम काम अन्तर था और राज्यपाल को, तब तक इन्तजार करना चाहिए था। राजस्थान और मध्यप्रदेश में राज्यपालों ने इस सिद्धान्त को अपनाया। मंत्रिपरिषद के बहुमत के विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर राज्यपाल ने अन्य साक्ष्यों का सहारा न लेकर मंत्रिपरिषद के विरुद्ध विधान सभा में अविश्वास प्रस्ताव पारित होने तक इन्तजार किया। इस प्रकार लगभग एक समान परिस्थितियों में राज्यपाल ने अलग-अलग कार्यवाही की।[1]

इसी प्रकार का संवैधानिक संकट उत्तर प्रदेश में उत्पन्न हुआ जब नवम्बर 1969 में सी.बी. गुप्ता मंत्रिपरिषद अल्पमत में हो गई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विभाजन हो गया था, परन्तु गुप्ता मंत्रिपरिषद 10 फरवरी, 1970 तक पद पर बनी रही। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री से विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए नहीं कहा।

परन्तु इन्हीं राज्यपाल ने उत्तर प्रदेश में, अन्य संकट के समय दूसरी कार्यवाही की। 24 सितम्बर, 1970 को चरण सिंह के नेतृत्व में बी. के. डी. सरकार से, कांग्रेस (आर) ने अपना समर्थन वापस ले लिया। इस कारण सन्देह उत्पन्न हुआ कि क्या वास्तव में चरण सिंह को अब भी बहुमत का समर्थन प्राप्त है, क्योंकि बी.के.डी. गठबन्धन सरकार में एक बड़ा दल था। राज्यपाल बी. गोपाल रेड्डी ने मुख्यमंत्री से त्यागपत्र देने के लिए कहा और त्यागपत्र न देने पर,थोड़े समय के लिए राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। श्री रेड्डी की कार्यवाही को न्यायसंगत ठहराना कठिन कार्य है। प्रश्न केवल यह था कि कांग्रेस (आर) के समर्थन वापसी, के पश्चात् चरण सिंह को बहुमत का समर्थन प्राप्त है या नहीं, इस प्रश्न का निदान विधान सभा के अन्दर होना चाहिए था, बाहर नहीं।[2] राज्य विधान सभा की बैठक 6 अक्टूबर को होने वाली थी और श्री चरण सिंह ने विधान सभा का सामना करने से इन्कार या

1. पी. एल. माथुर- रोल ऑफ गर्वनर इन नॉन-कांग्रेस स्टेट्स, पृष्ठ - 98-99

2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 12 फरवरी, 1970

सभी का बैठक विलम्बित करने का कोई प्रयास नहीं किया। मुख्यमत्री ने राज्यपाल को सुझाव दिया कि सभा का अधिवेशन 6 अक्टूबर से पहले बुलाना चाहिए और उन्होंने 24 घंटे के अन्दर शक्ति परीक्षण कराने की इच्छा भी व्यक्ति की।[1] यह विवाद का विषय है कि विधान सभा अधिवेशन के ठीक 96 घन्टे पूर्व 2 अक्टूबर को राष्ट्रपति शासन क्यों लागू किया।[2] यह बड़ा आश्चर्य जनक है कि श्री रेड्डी ने सी.बी. गुप्ता, कांग्रेसी मुख्यमंत्री को 74 दिन तक पद पर बने रहने दिया और गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्री चरण सिंह को 4 दिन का समय भी नहीं दिया क्योंकि 6 अक्टूबर को विधासभा की बैठक होने वाली थी। 1967 में पश्चिम बंगाल में मुख्यमंत्री को इसलिए पदच्युत किया गया कि वह विधान सभा की बैठक बुलाने में विलम्ब कर रहे थे जबकि उत्तर प्रदेश में मुख्यमंत्री विधान सभा में शक्ति परीक्षण के लिए तैयार थे तब भी उन्हें पदच्युत कर दिया गया।

पंजाब, बिहार व हरियाणा के राज्यपालों ने सरकार के अल्पमत होने पर मुख्यमंत्रियों को विधान सभा अधिवेशन बुलाने के लिए बाध्य नहीं किया। पंजाब में प्रकाश सिंह बादल ने, अकाली और जनसंघ के गठबन्धन सरकार का 27 मार्च, 1970 को 30 जून, 1970 तक नेतृत्व किया। 30 जून को जनसंघ के समर्थन वापसी के कारण बादल मंत्रिपरिषद अल्पमत हो गयी, परन्तु फिर भी पद पर बनी रही। राज्यपाल डी.सी. पावटे ने मुख्यमंत्री से विधान सभा में बहुमत सिद्ध करने हेतु यथाशीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिए कहा परन्तु राज्यपाल ने मुख्यमंत्री द्वारा निर्धारित तिथि से पूर्व अधिवेशन बुलाने के लिए दबाव नहीं डाला। मुख्यमंत्री ने 24 जुलाई, 1970 को विधान सभा की बैठक बुलाने का निश्चय किया।[3] इसी तरह बिहार में राज्यपाल आयंगर ने मुख्यमंत्री महमाया प्रसाद सिन्हा को न तो विधान सभा अधिवेशन शीघ्र बुलाने के लिए बाध्य किया और न ही दल-बदल के कारण अल्पमत सरकार को पदच्युत किया।[4] 25 अगस्त, 1967 को बी.पी. मंडल ने संयुक्त विधायक दल

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स (नई दिल्ली) 3 अक्टूबर, 1970
2. राष्ट्रपति बी.वी गिरि उस समय सरकारी यात्रा पर कीव (रूस) में थे और एक विशेष पत्र वाहक ने कीव में जाकर उद्घोषणा पर राष्टपति के हस्ताक्षर लिए।
3. भवानी सिंह - गवर्नर, रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन, पृष्ठ-71
4. एन. एस. गहलौत- स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया : ट्रेन्ड एण्ड इश्यूज , पृष्ठ-85

(एस.वी.डी.) से त्यागपत्र दे दिया और एक नया ''शोषित दल'' का गठन किया। 24 नवम्बर ,1967 को शोषित दल-कांग्रेस गठबन्धन ने राज्यपाल को ज्ञापन दिया कि यदि मुख्यमंत्री 30 नवम्बर या अधिक से अधिक दिसम्बर 1967 के प्रथम सप्ताह में विधानसभा अधिवेशन बुलाने के लिए सहमत न हो, तो मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर देना चाहिए। मंत्रिपरिषद ने 18 फरवरी, 1968 विधान सभा अधिवेशन की तिथि निर्धारित की थी। राज्यपाल आयंगर ने मुख्यमंत्री की सलाह के अनुसार 18 जनवरी, 1968 को विधान सभा अधिवेशन बुलाया और सिन्हा मंत्रिमण्डल विधान सभा में विश्वासमत में पराजित हुआ। [1] राज्यपाल ने मण्डल के सुझाव को इस आधार पर अस्वीकृत किया था, कि उनके पास बहुमत का परीक्षण करने के लिए कोई यन्त्र नहीं है और यह केवल विधान सभा ही है, जो इस कार्य को कर सकती है।[2] इस प्रकार सिन्हा मंत्रिमंडल जनवरी, 1968 तक पद पर बना रहा। ऐसी समान परिस्थितियों में हरियाणा के राज्यपाल बी. एन. चक्रवर्ती ने कुछ समय तक मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह के प्रति यह दृष्टिकोण रखा। जब राव वीरेन्द्र सिंह के मंत्रिपरिषद के बहुमत के विश्वास का सन्देह उत्पन्न हुआ तो राज्यपाल ने कहा कि 'अभी उनके लिए (राव वीरेन्द्र सिंह) यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने मंत्रिपरिषद का त्याग पत्र दें। उन्होंने मुख्यमंत्री को सलाह दी कि शक्ति परीक्षण के लिए विधान सभा अधिवेशन शीघ्र बुलाया जाना चाहिए। मुख्यमंत्री का मानना था कि शक्ति परीक्षण, 3 दिसम्बर, 1967 को होने वाले उपचुनाव (हसनगढ़ उपचुनाव) के पश्चात् होना चाहिए। राज्यपाल ने इस प्रस्ताव को तर्कपूर्ण माना और शीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिए दबाव नहीं डाला। परन्तु राज्य की राजनीति में बड़े पैमाने पर निरन्तर हो रहे दल-बदल के कारण राज्यपाल को अपना विचार बदलना पड़ा और उन्होंने राज्य में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की।[3] राज्यपाल के लिए उचित कार्यवाही यह होती कि वह मुख्यमंत्री से यथाशीघ्र विधान सभा अधिवेशन बुलाने के लिए कहते या अधिवेशन की कोई तिथि निश्चित कर देते और जब मुख्यमंत्री ऐसा करने से मना करते तो राज्यपाल स्वयं अधिवेशन बुलाकर शक्ति परीक्षण कराते।

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइ्स, 19 जनवरी, 1968
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 12 सितम्बर, 1967
3. सिवरंजन चैटर्जी - गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्स्टीट्युशन, पृष्ठ-130

ऐसे ही समान घटनाक्रम में कर्नाटक के मुख्यमंत्री को विधान सभा कक्ष में शक्ति परीक्षण का अवसर नहीं दिया गया। 27 दिसम्बर, 1977 को कर्नाटक प्रदेश कांग्रेस, समिति के नेतृत्व में विधायक राज्यपाल गोविन्द नारायण सिंह से मिले और मुख्यमंत्री देवराज अर्स को तत्काल पदच्युत करने की मांग की। राज्यपाल द्वारा यह अनुमान लगाने के पश्चात् कि मंत्रिपरिषद ने विधायिका का बहुमत खो दिया है, 28 दिसम्बर, 1977 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया। राज्यपाल ने राष्ट्रपति को प्रेषित अपनी. आख्या (रिपोर्ट) में, "घोड़ा व्यापार", "घूस खोरी", "प्रलोभन". अनुचित दवाव. और "भयभीत करने" की शिकायत की थी, जिसमें राज्य का राजनीतिक वातावरण दूषित हो गया था। उनके अनुसार, यदि कार्यवाही करने में और विलम्ब किया जाता तो यह राजनीतिक वातावरण को और दूषित कर देता। विधान सभा की बैठक 3 जनवरी, 1978 को होने वाली थी और देवराज अर्स ने सत्र प्रारम्भ होते ही विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने की इच्छा व्यक्त की थी। राज्यपाल का मत था कि विधान सभा कक्ष में शक्ति परीक्षण के लिए प्रतिक्षा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। यहाँ तक कि केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने भी आशंका व्यक्त की थी, कि यदि विधान सभा की बैठक निश्चित तिथि पर होती है, तो क्या कार्यवाही निष्पक्ष और सुव्यवस्थित होगी।[1] उत्तर प्रदेश (1970) और कर्नाटक के घटनाक्रम कम या अधिक मात्रा में समान थे। दोनों राज्यों के राज्यपालों ने अपने आत्मनिष्ठ निर्णय के आधार पर, यह निष्कर्ष निकाला कि मुख्यमंत्रियों को अपने राज्यों में विधायिका के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है। कर्नाटक के राज्यपाल ने संख्या निर्धारित करने के लिए असाधारण प्रक्रिया अपनाई और विधायिका के उपमार्शल द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक विधायक की पहचान करने के पश्चात् उसकी गिनती की।[2] दोनों मुख्यमंत्री चरण सिंह व देवराज अर्स विधायिका का सामना करने के लिए तैयार थे। उत्तर प्रदेश में विधानसभा सत्र प्रारम्भ होने के 4 दिन पहले और कर्नाटक में 6 दिन पहले राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। दोनों ही राज्यों में केन्द्रीय सत्ताधारी दल के भिन्न दल के व्यक्ति

---

1. .एशियन रिकार्डर. 29 जनवरी - 4 फरवरी. 1978. पृष्ठ-14145-146

2. एशियन रिकार्डर, 29 फरवरी-4 जनवरी, 1978 पृष्ठ-14146

मुख्यमंत्री थे और केन्द्रीय सत्ताधारी दल की प्रान्तीय इकाई ने मंत्रिपरिषदों की पदच्युति में प्रत्यक्ष भूमिका निभाई।[1]

इसी तरह, जून 1983 में, केन्द्रशासित प्रदेश पाण्डिचेरी के डी.एम. के. मुख्यमंत्री, डी. रामचन्द्रन को विधानसभा में बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिये बिना पदच्युत कर दिया गया। पाण्डिचेरी की कांग्रेस (आई) डी.एम.के. गठबन्धन सरकार पर संकट तब आया जब 27 जून, 1983 को कांग्रेस (आई) ने अपना समर्थन वापस ले लिया।[2] मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से उनके दल को विधान सभा में बहुमत सिद्ध करने का अवसर देने या अपने समर्थकों के शारीरिक सत्यापन हेतु राजभवन में परेड करने की अनुमति देने का आग्रह किया। इस प्रकार प्रथम दृष्ट्या मुख्यमंत्री विधान सभा में शक्ति परीक्षण के लिये तैयार थे, परन्तु 24 जून को विधानसभा भंग कर दी गई और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।[3]

पुनः कर्नाटक में एस. आर. बोम्मई के नेतृत्व वाली जनता दल मंत्रि परिषद को पदच्युत कर दिया गया और 21 अप्रैल, 1989 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। 19 विधायकों द्वारा मंत्रिपरिषद से समर्थन वापसी के तुरन्त बाद राज्यपाल ने कर्नाटक विधान सभा भंग करने व राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने हेतु राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजी। कर्नाटक विधान सभा की बैठक 27 अप्रैल, 1989 को होने वाली थी और मुख्यमंत्री ने राज्यपाल द्वारा किसी भी समय विधान सभा कक्ष में शक्ति परीक्षण का आग्रह किया था।[4]

---

1. चरण सिंह बी. के. डी. (B.K.D.) से सम्बन्धित थे और केन्द्र में कांग्रेस (आर) सत्ताधीन थी। कांग्रेस (आर) द्वारा समर्थन वापसी पर चरण सिंह को पदच्युत किया गया। देवराज अर्स, कांग्रेस (आई) के सदस्य थे जबकि केन्द्र में जनतापार्टी की सरकार थी। जनतापार्टी और कांग्रेस विधायकों की संयुक्त माँग पर उन्हें बर्खास्त किया गया।
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 23 जून 1983
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 25 जून, 1983
4. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 22 अप्रैल, 1989

नागालैण्ड विधान सभा के निर्वाचन नवम्बर, 1987 में हुये थे। कांग्रेस (आई) को कुल 60 स्थानों में से 35 स्थान मिले थे। कांग्रेस (आई) ने होकिशो सेमा के नेतृत्व में मंत्रिमंडल गठित किया। अगस्त, 1988 में, सत्ताधारी दल में विघटन हो गया और 13 सदस्यों द्वारा समर्थन वापस लेने का कारण सत्ताधारी दल अल्पमत में हो गया था। अत: राज्यपाल के. वी. कृष्णाराव ने राजनीतिक अनिश्चितताओं को देखते हुए राज्य विधान सभा भंग कर दी थी तथा राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था, जबकि विपक्षी दलों ने श्री वामुजों के नेतृत्व में सरकार बनाने का दावा किया था जिसमं असन्तुष्ट सदस्य भी सम्मिलि थे लेकिन राज्यपाल ने दावों को अस्वीकृत कर दिया।[1]

मेघालय में मार्च 1990 में गठवन्धन सरकार बनी थी। स्पीकर द्वारा विपक्षी गठवन्धन बनाने के कारण सरकार के बहुमत का संकट उत्पन्न हुआ और राज्यपाल ने मुख्यमंत्री लिंग दोह से विधान सभा में बहुमत सिद्ध करने को कहा। लिंगदोह ने 7 अगस्त, 1991 को विशेष अधिवेशन में विश्वास मत का प्रस्ताव, रखा और 30 सदस्यों ने पक्ष में तथा 26 ने विपक्ष में मत दिया परन्तु स्पीकर ने परिणाम घोषित करने से पहले 5 सदस्यों को दल-बदल अधिनियम के अधीन अयोग्य घोषित कर दिया । बाद में राज्य में राजनीतिक अनिश्चितता बढ़ती गयी और राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की, जो 11 अक्टूबर ,1991 को लागू हुआ ।

कर्नाटक, मेघालय व नागालैण्ड की सरकार को बर्खास्त करने व राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध ठहराया गया और कहा कि न्यायालय, भंग की गयी विधान सभा को पुनर्जीवित भी कर सकता है ।[2]

1984 में सिक्किम, जम्मू कश्मीर व आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्रियों की बर्खास्तगी ने एक बार फिर राज्यपालों की मंत्रिपरिषद को बर्खास्त करने की विवेकाधीन शक्ति को विवादों के बीच ला खड़ा किया । आन्ध्र प्रदेश विधान सभा का चुनाव जनवरी 1983 में सम्पन्न हुआ था। नये क्षेत्रीय दल-

---

1. ए. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए.आई. आर., एस.सी., 1994, 2110

2. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए. आर. आर., एस.सी., 1994, 2112, कालम 365 उक्त मान्यों का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है ।

तेलगूदेशम ने, एन. टी. रामाराव के नेतृत्व में प्रचण्ड बहुमत प्राप्त करते हुए भी सत्ताधारी कांग्रेस दल को पदावरूढ़ किया । मुख्य मंत्री रामाराव व उनके वित्त मंत्री भाष्कर राव के मध्य कुछ विवाद उत्पन्न हुआ और परिणामस्वरूप भास्कर राव को मंत्रिमंडल से निकालते हुये दल विरोधी गतिविधियों के कारण दल से भी निकाल दिया गया । भास्कर राव ने अपने समर्थकों की एक सूची राज्यपाल को दी और कहा कि उन्होंने रामाराव के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद से समर्थन वापस ले लिया है। कांग्रेस पार्टी ने भास्कर राव को समर्थन दिया जबकि अन्य विरोधी दल जैसे भाजपा, सी.पी.आई., सी.पी.आई. (एम) और जनता पार्टी ने रामाराव को समर्थन दिया। रामाराव ने राज्यपाल, राम लाल से आग्रह किया कि 20 अगस्त, 1984 को विधान सभा अधिवेशन बुलाया जाय, ताकि वह विधान सभा कक्ष में अपना बहुमत सिद्ध कर सकें। राज्यपाल राम लाल का कहना था कि वह भास्कर राव के दावे से सन्तुष्ट हैं और रामाराव द्वारा त्याग पत्र न देने पर राज्यपाल ने मुख्य मंत्री को पदच्युत कर दिया । भास्कर राव को मुख्यमंत्री बनाया गया और उन्हें अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए एक माह का समय दिया गया ।

रामाराव ने अपने सहयोगी दलों के साथ राज्यपाल की अप्रजातांत्रिक कार्यवाही के विरूद्ध व्यापक अभियान प्रारम्भ किया। रामाराव के प्रति व्यापक जन समर्थन और बहुमत के दबाव में रामलाल ने अगस्त के अन्तिम सप्ताह में त्याग पत्र दे दिया और शंकर दयाल शर्मा नये राज्यपाल बनाये गये। राज्यपाल ने 11 सितम्बर, 1984 को विधान सभा की बैठक बुलाई । विधान सभा बैठक शोक प्रस्ताव के पश्चात स्थगित कर दी गई और कई कारणों से बैठक 12 व 13 सितम्बर को नहीं हो पाई । अन्ततः 17 सितम्बर को भास्कर राव मंत्रिपरिषद ने त्याग पत्र दे दिया और रामाराव पुनः मुख्य मंत्री बनाये गये। इस प्रकार से आन्ध्र प्रदेश के मामले में राज्यपाल ने पक्षपात पूर्ण ढंग से कार्य किया था। रामलाल ने जहां रामाराव को 48 घन्टे का समय बहुमत सिद्ध करने के लिए नहीं दिया वहीं भास्कर राव को 1 माह का समय दिया गया । यद्यपि राज्यपाल शंकर दयाल शर्मा ने रामाराव को पुनः मुख्य मंत्री बनाकर प्रशंसनीय कार्य किया परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह उन्होंने स्वविवेक से किया या केन्द्रीय नेतृत्व के इशारे पर था।

जम्मू कश्मीर की फारूक अब्दुल्ला मंत्रिपरिषद को, सत्ताधारी नेशनल कान्फ्रेन्स के 12 सदस्यों के समर्थन वापसी के कारण अल्पमत होने के सन्देह पर राज्यपाल द्वारा पदच्युत कर दिया

गया।[1] यद्यपि फारूक अब्दुल्ला ने राज्यपाल से शक्ति परीक्षण हेतु विधान सभा अधिवेशन शीघ्र बुलाने या विकल्प रूप में विधान सभा भंग करने का आग्रह किया था । राज्यपाल जगमोहन ने आग्रह अस्वीकार करते हुए नेशनल कान्फ्रेन्स के विरोधी गुट के नेता जी.एम. शाह को जिन्हें 26 कांग्रेस (आई) विधायी दल सदस्यों का समर्थन प्राप्त था, मुख्यमंत्री बनाया । नये मुख्यमंत्री को बहुमत सिद्ध करने के लिये 1 माह का समय दिंया गया।[2]

11 मई , 1984 को सिक्किम की नर बहादुर भंडारी की नेतृत्व वाली कांग्रेस (आई) सरकार को पदच्युत कर दिया गया । भंडारी के मंत्रिमंडल सहयोगी बी.बी.गुरूंग को मुख्यमंत्री बनाया गया। मुख्यमंत्री भंडारी द्वारा राज्यपाल के कहने पर त्यागपत्र न देने के कारण पदच्युत किया गया ।[3] आन्ध्र प्रदेश व जम्मू -कश्मीर के पदच्युत मुख्यमंत्री गैर-कांग्रेसी थे परन्तु सिक्किम में कांग्रेस (आई) मुख्यमंत्री को पदच्युत किया गया । इसके पीछे कारण राज्यपाल होमी तलयार खान व मुख्यमंत्री नर बहादुर भंडारी के मध्य लम्बे समय से चला आ रहा विवाद था। दोनों ही नीति व निर्णय निर्माण प्रक्रिया में एक दूसरे के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप का आरोप लगा रहे थे । दोनों के मध्य प्रतिद्वदिता ने राज्य प्रशासन को बहुत हानि पहुंचाई थी। इसके अतिरिक्त भंडारी ने नेपालियों के लिए सीटों के आरक्षण व 30,000 राज्य हीन लोगों को नागरिकता प्रदान करने के विषय में विरोधी रूख अपनाया था। उन्होंने यहां तक कहा था कि यदि केन्द्र सरकार उनकी मांगों को स्वीकार नहीं करती है, तो वह चुनावों का बहिष्कार करेंगे और कांग्रेस (आई) की सत्ता वापसी के मार्ग में बाधा उत्पन्न करेंगे ।[4] यह वास्तव में किसी भी स्वाभिमानी दल के लिए असहनीय थे, परन्तु यह मामला दल स्तर पर ही सुलझाना चाहिए था। श्री भंडारी को कांग्रेस (आई) विधायक दल के नेता पद से हटाया जाना चाहिए था और यदि ऐसा हो पाना सम्भव नहीं था, तो और कठोर कार्यवाही की जा सकती थी । उन्हें दल विरोधी गतिविधियों के दण्ड स्वरूप दल की प्राथमिक सदस्यता से निलम्बित किया जा सकता था।

---

1. जम्मू कश्मीर के मामले का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है ।
2. दि टामम्स आफ इण्डिया, 3 जुलाई 1984
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 12 मई, 1984
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 13 मई, 1984

वैकल्पिक रूप में भंडारी से सदन में बहुमत सिद्ध करने के लिये कहा जाता । परन्तु सीधे मुख्यमंत्री की पदच्युति जिसके बहुमत के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं था, सही अर्थों में उचित कार्यवाही नहीं थी।

नवम्बर 1993 में उत्तर प्रदेश के विधान सभा चुनाव में सपा व बसपा ने निर्वाचन पूर्व गठबन्धन बनाया था। 4 नवम्बर , 1993 को सप बसपा गठबन्धन ने श्री मुलायम सिंह के नेतृत्व में सरकार का गठन किया। 1 जून, 1995 को बसपा ने मंत्रिपरिषद से समर्थन वापस लिया और उसी दिन भाजपा ने बसपा नेता सुश्री मायावती द्वारा गठित होने वाली सरकार को समर्थन देने के निर्णय से अवगत कराया । इससे पूर्व 1 फरवरी, 1995 को कांग्रेस पहले ही भाजपा समर्थन वापस ले चुकी थी। इस घटना क्रम से मुलायम सिंह सरकार अल्पमत हो गयी । मुलायम सिंह ने राज्यपाल को एक पत्र दिया कि बहुमत के परीक्षण के लिये 8 जुलाई ,1995 को विधान सभा की बैठक बुलायी जाये, परन्तु मुलायम सिंह ने पत्र में समर्थन देने वाले दलों का वर्णन नहीं किया था। 2 जून को लखनऊ में ''गेस्ट हाउस कांड'' हुआ,[1] और 2 जून की हिंसक घटनाओं के परिणाम स्वरूप राज्यपाल मोती लाल बोरा ने मुलायम सिंह सरकार को बर्खास्त करके मायावती को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया और बहुमत सिद्ध करने के लिये 15 दिन का समय दिया। 19 जून, 1995 को मायावती ने बहुमत सिद्ध कर दिया।

समाजवादी दल के समर्थकों ने मोती लाल बोरा पर बोम्मई मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्धारित मापदण्डों को न अपनाने का आरोप लगाया । जिसके अनुसार मंत्रि परिषद का शक्ति परीक्षण राजभवन या अन्य स्थानों पर न होकर सदन में होना चाहिए ।

मार्च 1997 में भाजपा और बसपा ने 6-6 माह सत्ता ग्रहण करने का समझौता किया। 21 मार्च, 1997 को मायावती मुख्यमंत्री बनी। 6 माह पश्चात सितम्बर 1997 में कल्याण सिंह मुख्य मंत्री बने परन्तु 18 अक्टूबर 1997 को बसपा ने मंत्रिपरिषद से समर्थन वापस ले लिया । अल्पमत होने के

---

1. जिस गेस्ट हाउस में मायावती व बसपा विधायक रूके थे उसमें कुछ कुख्यात सपा विधायकों द्वारा आक्रमण करने, बसपा विधायकों के अपहरण करने और मायावती पर आक्रमण करने का आरोप लगाया गया ।

कारण कल्याण सिंह को 21 अक्टूबर को बहुमत सिद्ध करने के लिये कहा गया । 20 अक्टूबर को कांग्रेस में दल विभाजन हो गया और 22 सदस्यों वाले ''लोकतांत्रिक कांग्रेस'' के रूप में एक दल का गठन हुआ । इसी तरह जनता दल में विभाजन हुआ और 2 सदस्यों का जनता दल (राजा राम) दल बना। कल्याण सिंह ने इन विघटित दलों जिसमें 12 बसपा के विघटित सदस्य भी थे बहुमत सिद्ध कर दिया। परन्तु 21 फरवरी, 1998 को लोकतांत्रिक कांग्रेस व जनता दल (राजाराम) ने समर्थन वापस लिया और लोकतांत्रिक कांग्रेस ने 240 गैर भाजपा सदस्यों के समर्थन से सरकार बनाने का दावा किया। कल्याण सिंह ने अपने बहुमत का दावा किया, परन्तु राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने कल्याण सिंह सरकार को बर्खास्त कर जगदम्बिका पाल को मुख्यमंत्री बनाया। इस निर्णय को इलाहाबाद उच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी और उच्च न्यायालय ने राज्यपाल के निर्णय को स्थगित करते हुये कहा कि यह राज्यपाल पर निर्भर है कि वह यदि उचित समझें तो सदन को अधिवेशन बुलायें और शक्ति परीक्षण करायें । यदि विश्वास मत कल्याण सिंह के विरूद्ध पारित होता है तो राज्यपाल कोई भी उचित कदम उठा सकते हैं ।[1]

जगदम्बिका पाल ने 23 फरवरी, 1998 को उच्चतम न्यायालय में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध अपील की । उच्चतम न्यायालय ने विशेष विधान सभा अधिवेशन में संयुक्त शक्ति परीक्षण के लिये कहा ताकि यह स्पष्ट हो सके कि जगदम्बिका पाल या कल्याण सिंह, किसे बहुमत प्राप्त है और उच्च न्यायालय के निर्णय को स्थगित करने से इन्कार कर दिया।[2]प्रतिपक्षी दलों के बहुमत सिद्ध करने के लिए संयुक्त शक्ति परीक्षण हुआ और कल्याण सिंह 196 के मुकाबले 225 मतों से विजयी हुए ।

इस प्रकार से न्यायालय के हस्तक्षेप द्वारा कल्याण सिंह सरकार पुनः स्थापित हुयी। अब प्रश्न यह उठता है कि जिस तरह से विभिन्न राज्यपालों ने सरकार के अल्पमत होने पर अलग अलग कार्यवाही की है उसका निराकरण कैसे किया जाय। सरकार के अल्प मत होने पर निम्न परिस्थितियाँ हो सकती हैं :-

---

1. नरेन्द्र कुमार सिंह गौर बनाम भारत संघ एवं अन्य , यू.पी. एल. बी.ई.सी. 1998, वाल्यूम (1), पृष्ठ- 536-556

2. जगदम्बिका पाल बनाम भारत संघ एवं अन्य , यू.पी.एल.बी.ई.सी. 1998, वाल्यूम (1) एस.सी. पृष्ठ 557-558

1. सरकार अल्पमत हो जाये और विधान सभा सत्र में न हो ।

2. राज्यपाल मुख्यमंत्री को विधान सभा सत्र आहूत करने के लिए दबाव डाले ।

3. मुख्यमंत्री विधानसभा सत्र बुलाने से मना कर दें ।

4. राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह के विपरीत विधान सभा सत्र पहले आहूत करें ।

सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल मुख्य मंत्री की सलाह से विधान सभा सत्र बुलाता है परन्तु यदि सरकार अल्पमत में है या उसके बहुमत का सन्देह है तो राज्यपाल मुख्यमंत्री को विधान सभा अधिवेशन बुलाने के लिये बाध्य कर सकता है । यदि मुख्य मंत्री सहमत नहीं होता है तो राज्यपाल उसे बर्खास्त कर सकता है । मंत्रिपरिषद बहुमत में है या नहीं इसका परीक्षण विधान सभा कक्ष में ही होना चाहिए ।[1]

यदि मुख्यमंत्री भूमि के कानून का उल्लघन करें:-

एक अन्य अवसर और है जब राज्यपाल मंत्रिपरिषद को बरखस्त कर सकता है यह स्थिति है कि मंत्रिपरिषद द्वारा भूमि के कानून का उल्लघन करें। भारतीय संविधान के अनुच्छेउ 159[2] के अनुसार राज्यपाल को संविधान और देश के कानून का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करना होता है। राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् केरल जांच समिति का जो भारतीय न्याय विदों की समिति थी[3] विचार था कि [4] - जहां राज्यपाल को यह संतुष्टि हो जाए कि मंत्रिपरिषद के आदेश विधि का उल्लंघन है, तो संविधान सरंक्षक के रूप में यह उसका अधिकार ही नहीं वरन्

---

1. राज्यपालों को समिति ने भी यही विचार व्यक्त किया है। प्रेसीडेन्ट रूल्स इन स्ट्टेस- राजीव धवन द्वारा परिशिष्ट में उद्धृत रिपोर्ट पृष्ठ 218-219

2. पद ग्रहण से पूर्व राज्यपाल द्वारा ली जाने वाली शपथ का उल्लेख इस अनुच्छेद में है।

3. समिति के सदस्य थे- एन.एच. भगवती, उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायधीश, एम. पी. अमीन, बम्बई के पूर्व महाधिवक्ता और एन. के. नाम्बियार एक प्रसिद्ध संवैधानिक विधिवेत्ता।

4. पी.एल. माथुर- पूर्वोधृत पृष्ठ- 110

कर्तव्य भी है, जिसके परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण हेतु उसने शपथ ली है, उसे सुधारे व शुद्ध करें और अन्तिम उपाय के रूप में मंत्रिपरिषद को बर्खास्त करें। राज्यपाल जो अपने कर्तव्य में असफल होता है वह विधि उल्लंघन का सहयोगी माना जाना चाहिए और उसकी स्थिति समर्थन के पूर्णतया अयोग्य होगी। यह सम्भव है कि मंत्रिपरिषद की पदच्युति के पश्चात् विधायिका में बहुमत प्राप्त वैकल्पिक सरकार की प्राप्ति राज्यपाल के लिये संभव न हो परन्तु ऐसी स्थिति में, उसे विधानसभा भंग करने के आदेश देने और नव निर्वाचन के निर्देश देने का अधिकार है। प्रो0 पायली का विचार है कि यदि राज्यपाल को यह विश्वास करने के कारण है कि मंत्रिपरिषद ऐसी गतिविधियों में लिप्त है, जिससे राष्ट्रीय सुरक्षा व एकता को खतरा है या वह स्वतंत्र राज्य स्थापित करती है या संघ से अलग होने के दृष्टिकोण से विदेशी शक्तियों से गुप्त समझौता करती है, तो राज्यपाल न्यायोचित रूप में ऐसे मंत्रिपरिषद को भी जिसे सदन का बहुमत प्राप्त है पदच्युत कर सकता है ।

स्वतंत्र भारत के इतिहास में पहली बार 1953 में शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व वली जम्मू-कश्मीर मंत्रिमंडल को इसी आधार पर पदच्युत किया गया था। ऐसा कहा गया था कि मुख्य मंत्री राज्य की सुरक्षा व एकता के विरूद्ध विध्वंसकारी गतिविधियों में लिप्त थे जो अन्ततः भारत की सुरक्षा के लिए हानिकारक थी, ऐसी स्थिति में राज्य की रक्षा करना आवश्यक था और राज्यपाल, जो सदर-ए-रियासत के नाम से जाना जाता था, ने अब्दुल्ला मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर दिया। दूसरा उदाहरण 1959 में केरल का है । केरल में नम्बूदरीपाद सरकार को पूर्ण बहुमत प्राप्त था। कांग्रेस के नेतृत्व में विरोधी दलों के मोर्चा ने सरकार के विरूद्ध एक जन आन्दोलन प्रारम्भ किया था जिसे व्यापक आन्दोलन (Mass upsurge) का नाम दिया गया । सत्ताधारी कम्युनिस्ट पार्टी के विरूद्ध आरोप था कि उसने राज्य निधि का दुरूपयोग दल के हित में किया था ।

1984 में जम्मू कश्मीर की फारूक अब्दुल्ला सरकार को इसी आधार पर पदच्युत किया गया था। उनके ऊपर आरोप था कि उनके आतंकवादियों, अलगाववादियों और राष्ट्रविरोधी शक्तियों से सम्बन्ध हैं । यहां तक कि उन्होंने पूर्व राज्यपाल, बी.के. नेहरू को भी इन शक्तियों के राष्ट्रविरोधी व विनाशकारी गतिविधियों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ रखा। यहां तक कि सी.आई.डी. और खुफिया तंत्र भी पाक समर्थित व खालिस्तान समर्थित गतिविधियों को ज्ञात करने के विषय में असफल रहा ।[1]

---

1. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 7 नवम्बर, 1983

यदि उपरोक्त आरोप सत्य थे, और फारूक अब्दुल्ला इस संवेदनशील राज्य में वास्तव में सुरक्षा के लिए खतरा बन गए थे, तो स्थिति को अनुच्छेद 355 व 356 के अन्तर्गत नियंत्रित करना चाहिए था।[1] राज्यपाल कांग्रेस दल व उसके सहयोगियों ने श्री अब्दुल्ला के राष्ट्रविरोधी और सिक्ख आतंकवादी समर्थित गतिविधियों से गठजोड़ के विषय में व्यापक प्रचार किया । परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि जम्मू कश्मीर में जब ये गतिविधियां चल रही थीं तो, केन्द्रीय खुफिया एजेंसी क्या कर रही थी ? दूसरी बात यह है कि यदि राज्य सरकार राष्ट्र विरोधी और समाज विरोधी थी और जिससे राष्ट्र की एकता व अखण्डता को खतरा था तब इसे सीधे संवैधानिक प्रावधानों के माध्यम से व्यवस्थित करना चाहिए था। जबकि राज्यपाल ने ऐसी सरकार को दल बदल के माध्यम से बाहर किया । अन्तिम तथ्य यह कि कांग्रेस (आई) द्वारा जी.एम. शाह सरकार को समर्थन देना किस आधार पर उचित ठहराया जा सकता है, जबकि इसके अधिकांश सदस्य उस समय तक 'राष्ट्र विरोधी' सरकार के सदस्य थे ।

वास्तव में फारूक अब्दुल्ला सरकार की पदच्युति इसलिए की गयी थी क्योंकि वह केन्द्र के इशारे पर नहीं चल रहे थे। केन्द्र व फारूक के मध्य कटु सम्बन्ध उस समय से प्रारम्भ हुए थे जब जून 1983 के विधान सभा निर्वाचन में फारूक अब्दुल्ला ने नेशनल कान्फ्रेंन्स को कांग्रेस (आई) से गठबन्धित करने से इन्कार किया था। वास्तव में जम्मू कश्मीर के राज्यपाल बी. के. नेहरू के स्थान पर जगमोहन की नियुक्ति भी इसी उद्देश्य से की गयी थी ।

यदि मंत्रिपषिद पर भ्रष्टाचार व कुप्रशासन का ओराप हो :-

यदि राज्यपाल को सन्तुष्टि हो जाये कि मुख्यमंत्री या उसकी मंत्रिपरिषद पर भ्रष्टाचार या कुप्रशासन का आरोप है तो वह अपना प्रसाद प्रतिसंहरण कर सकता है और मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर सकता है। श्री आर.सी.एस. सरकार का विचार है कि उपरोक्त आधार पर मंत्रिपरिषद को पदच्युत किया जा सकता है, परन्तु राज्यपाल को यह कार्यवाही प्रत्यक्षतः स्वयं न करके केन्द्र के या राज्य विधानसभा

---

1. राज्य में सत्ताधारी नेशनल कान्फ्रेन्स के 12 विधायक दल से अलग हो गये थे और जी.एम. शाह के नेतृत्व में नयी सरकार गठित की गई थी जिसे कांग्रेस (आई) ने समर्थन दिया था।

के ऊपर छोड़ देनी चाहिए। इसी दृष्टिकोण का समर्थन श्री डी.डी.बसु ने किया है।।[1]प्रो0 पायली का विचार है कि यदि राज्यपाल को सन्तुष्टि है कि भ्रष्टचार के स्पष्ट मामलों में मंत्रिपरिषद एक साझेदार है और प्रशासन की शुचिता के हित में मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर देना चाहिए। राज्यपाल मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने में स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है, चाहे मंत्रिपरिषद को बहुमत प्राप्त हो।[2] डा0 अम्बेडकर ने भी यही विचार व्यक्त किया था, यद्यपि यह विचार राष्ट्रपति द्वारा मंत्री को पदच्युत करने की शक्ति के सन्दर्भ में था। उनके अनुसार 'राष्ट्रपति मंत्री विशेष को पदच्युत कर सकता है इस आधार पर कि वह भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और कुप्रशासन व दोषी है यद्यपि वह मंत्री सदन का विश्वास मत प्राप्त हो सकता है। मंत्री के पद पर कार्यावधि दो शर्तो पर निर्भर करती है वह है प्रशासन में शुद्धता और सदन का विश्वास।'[3] डा0 अम्बेडकर का राज्यपाल के सन्दर्भ में कहना था कि उसे देखना चाहिए कि प्रशासन उस स्तर पर चल रहा है जिसे अच्छा प्रभावी और ईमानदार कहा जा सके। उसे देखना है कि भ्रष्टाचार के बिना, निष्पक्षता से और मंत्रिपरिषद द्वारा प्रस्तुत सुझाव जनता की इच्छा के विरूद्ध नही है इस आधार पर प्रशासन को शुद्ध रखा गया है।[4]

इस प्रकार यह स्वीकृत सिद्धान्त बन गया है कि संसदीय प्रजातंत्र में यदि मंत्रिपरिषद भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और कुप्रशासन में लिप्त पायी जाती है तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए। यदि मंत्रिपरिषद त्याग पत्र नही देता है तो राज्यपाल को मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर देना चाहिए। बिहार के राज्यपाल, आर.डी. भण्डारे ने पत्रकारों से बात करते हुए कहा था कि ''यदि लोकायुक्त द्वारा मंत्रिपरिषद दुराचरण के लिए दोषी पायी गयी तो मैं उसे पदच्युत करने में संकोच नही करूँगा। '' उन्होंने आगे कहा कि 'यदि वे गलत है तो मैं उन्हें चेतावनी दे सकता हूँ।'[5]

---

1. एन.एस. गहलौत- पूर्वोधृत, पृष्ठ 87
2. पी. एल. माथुर- पूर्वोधृत, पृष्ठ 105-106
3. पी. एल. माथुर- पूर्वोधृत, पृष्ठ 106
4. कांन्स्टीट्यूट असेम्बली डिबेड, खण्ड -8, पृष्ठ- 546
5. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 15 अक्टूबर, 1973

1976 में डी.एम.के. सरकार राज्यपाल द्वारा भ्रष्टचार के आधार पद पदच्युत की गयी थी। राज्यपाल ने पक्षपात पूर्ण ढंग से कार्य करते हुए केन्द्र के एजेन्ट की भूमिका निभाई थी। 1971 के विधानसभा चुनावों में डी.एम.के. को कुल 234 में से 184 स्थान प्राप्त हुए थे।[1] राज्यपाल ने 29 जनवरी, 1976 में राज्य मंत्रिपरिषद को बर्खास्त करते हुए राज्य विधानसभा भंग कर दी थी। राज्यपाल ने राष्ट्रपति को प्रेषित रिपोर्ट में कहा था कि डी.एम.के. सरकार कुशासन, भ्रष्टाचार और शक्तियों के पक्षपातपूर्ण ढंग से दुरूपयोग की गंभीर कार्यवाही में लिप्त है। उन्होंने आगे अपनी रिपोर्ट में कहा कि राज्य सरकार ने केन्द्रीय नीतियों के सम्बन्ध केन्द्रीय निर्देशों की अवहेलना की है। यही नही अधिक स्वायत्ता की पृष्ठभूमि में अलगाववाद को प्रोत्साहित कर रही है। राज्यपाल ने एक उच्च शक्ति प्राप्त समिति के गठन के लिए कहा जो डी.एम.के. मंत्रियों के विरूद्ध लगाये गये आरोपों की जांच कर सके। केन्द्र ने फरवरी 1976 में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश आर.एस. सरकारिया के नेतृत्व में एक सदस्यीय जांच समिति गठित की।[2]

राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिये अपनी रिपोर्ट में निम्न चार कारण बताये थे-[3]

1. भ्रष्टाचार के आरोप जिसमें सूखा रहित निधि का दुरूपयोग भी सम्मिलित था।
2. सत्ता का दल हितों में दुरूपयोग।
3. आपातकालीन शक्तियों (मीसा, प्रेस सेन्सरशिप) का दलीय हितों में दुरूपयोग।
4. डी.एम.के. की अधिक स्वायत्तता की मांग और यदि नहीं दी जाती तो अलगाव की अप्रत्यक्ष धमकी।

---

1. 1971 में डी.एम.के.ने कांग्रेस पार्टी से विधानसभा निर्वाचन में सीटों के बारे में समझौता करने से इन्कार कर दिया था।
2. एशियन रिकार्डर , 26 फरवरी, 3 मार्च 1976 पृष्ठ 13041-13042
3. राज्यपाल की विस्तृत रिपोर्ट, एस.आर. माहेश्वरी:- प्रेसीडेन्ट एल्स इन इण्डिया, दिल्ली 1977, के पृष्ठ 206-207 पर उद्धृत है।

उपरोक्त आधारों पर डी.एम.के. की करूणानिधि सरकार को पदच्युत किया गया। पदच्युति के समय सरकार को पूर्ण बहुमत प्राप्त था और विधानसभा का कार्यकाल 21 मार्च, 1976 को समाप्त हो रहा था। इस प्रकार कार्यकाल समाप्ति के केवल 49 दिनों पहले सरकार को पदच्युत किया गया। इस सम्बन्ध में राज्यपाल की रिपोर्ट वास्तव में राजनीति से प्रेरित थी।

6 दिसम्बर, 1992 में अयोध्या कांड के पश्चात् चार राज्य सरकारों उत्तर प्रदेश, हिमाचल , राजस्थान व मध्य प्रदेश सरकारों को बर्खास्त किया गया और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। उत्तर प्रदेश में मुख्यमंत्री ने स्वत: त्याग पत्र दे दिया था। शेष तीन राज्यों के मुख्यमंत्री के विरूद्ध प्रतिबंधित हिन्दू संगठनों से सम्बन्ध व उत्पन्न स्थिति का सामना करने में अक्षमता की आंशका व्यक्त की गयी थी। जबलपुर उच्च न्यायालय ने इन सरकारों की बर्खास्तगी को अनुचित ठहराया परन्तु उच्चतम न्यायालयने धर्मनिर्पेक्षता के सन्दर्भ में इस कार्यवाही को उचित ठहराया था।[1]

परन्तु भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में ऐसे भी उदाहरण है जब राज्यपालों ने इस आधार पर मुख्यमंत्रियों को बर्खास्त नहीं किया है। कुछ मामले उदाहरण देने योग्य हैं। जुलाई 1963 में पंजाब विधानसभा के कुछ सदस्यों ने मुख्यमंत्री प्रताप सिंह कैरों के विरूद्ध भ्रष्टाचार व भाई–भतीजा वाद के आरोप लगाये, जो दास कमीशन द्वारा सत्य पाये गये परन्तु राज्यपाल ने उन्हें पदच्युत नही किया वरन् प्रधानमंत्री नेहरू के कहने पर ही उन्होनें त्यागपत्र दिया। इसी तरह बीरेन मित्रा , उडीसा के मुख्यमंत्री के विरूद्ध सी.बी.आई. ने गलत आचरण के आरोपों को सिद्ध कर दिया और उन्होंने भी प्रधानमंत्री नेहरू के कहने पर त्यागपत्र दिया। 1968 में पंजाब में लक्ष्मन सिंह गिल सरकार के विरूद्ध संयुक्त मोर्चा दलों ने आरोपों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की, परन्तु उनके विरूद्ध कुछ कार्यवाही नहीं की गयी।[2] राजस्थान में मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाडिया के विरूद्ध पराजित उम्मीद्वार द्वारा दायरकी गई याचिका पर उच्च न्यायालय ने सुखाड़िया की निंदा की परन्तु सुखाड़िया ने न तो त्यागपत्र दिया और न ही राज्यपाल ने कोई कार्यवाही की। इसी तरह आन्ध्रप्रदेश उच्च न्यायालय ने मुख्यमंत्री ब्रहमानन्द रेड्डी व

---

1. इन राज्यों का मामला व न्यायिक निर्णय का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में है।

2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 4 जुलाई, 1968

चार अन्य मंत्रियों को 'पक्षपातवाद, दुर्व्यवहार और सत्ता के दुरूपयोग का दोषी पाया। परन्तु उन्होंने न तो त्यागपत्र दिय और न ही राज्यपाल ने उनके विरूद्ध कोई कार्यवाही की।[1] राजस्थान में उच्च न्यायालय की एकल वेन्च ने कृषि मंत्री रामपाल उपाध्याय को दुराचार व सत्ता के दुरूपयोग का दोषी पाया। माननीय न्यायाधीश ने मुख्यमंत्री हरिदेव जोशी का भी, उस मामले में जिक्र किया। मंत्री ने तो त्यागपत्र दे दिया परन्तु मुख्यमंत्री ने नहीं दिया।

यहां यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कुछ गठबंधन सरकारों के मुख्यमंत्रियों ने सत्ता में बने रहने के लिये बहुमत का समर्थन भ्रष्टाचार, रिश्वत व राजनीतिक शिकार के माध्यम से एकत्रित किया, परन्तु किसी भी राज्यपाल ने प्रसाद प्रतिसंहरण नहीं किया और न ही मंत्रिपरिषद को पदच्युत किया। हरियाणा के मुख्यमंत्री भजनलाल अपने पूरे सहयोगियों के साथ जनता पार्टी से अलग हुए और कांग्रेस से मिल गये। इस तरह उन्होंने अपना मुख्यमंत्री पद बनाये रखा।

बिहार में लालू प्रसाद यादव को भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरे होने के बाद त्यागपत्र देना पड़ा परन्तु उन्होंने अपनी पत्नी राबडी देवी को मुख्यमंत्री बनवा कर अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता अपने हाथ में रखी परन्तु तमिलनाडु में राज्यपाल फातिमा बीवी ने भ्रष्टाचार के आरोपों में दण्डित सुश्री जयललिता को मुख्यमंत्री पद पर आसीन किया। राज्यपाल का तर्क था कि जयललिता को पूर्ण बहुमत प्राप्त था और वह दल की निर्विवाद नेता थी। परन्तु इस सम्बन्ध में राज्यपाल को थोड़े विवेक का सहारा लेना चाहिए था और कम से कम एक बार तो अन्ना. डी.एम.के. से कहती कि अपना दूसरा नेता चुन लें क्योंकि जयललिता भ्रष्टाचार के आरोप मे दण्डित हैं। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि इसी दण्ड व आरोपों के कारण जयललिता को निर्वाचन के अयोग्य ठहराया गया था। यद्यपि जयललिता की सजा को निलम्बित किया गया था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि वह आरोप मुक्त हो गई हैं। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जयललिता की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति को अवैध ठहराकर राज्यपाल द्वारा किये गये असंवैधानिक कार्य को संविधान की गरिमा के रूप में परिवर्तित किया गया।

संसदीय प्रजातंत्र में यह उचित नहीं समझा जा सकता कि मंत्री और मुख्यमंत्री अनैतिक आरोपों से धिरे होने के बावजूद पद पर बने रहें। यह परम्परा बननी चाहिए कि जांच समिति, आयोग या

---

1. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया 28 नवम्बर, 1970

न्यायालय द्वारा दोष सिद्ध होने पर मुख्यमंत्री और मंत्री त्यागपत्र दे दें और यदि वे ऐसा न करें तो राज्यपाल को उन्हें बर्खास्त कर देना चाहिए।

यदि मंत्रिपरिषद विधानसभा कक्षा में पराजित हो जाये:-

संसदीय प्रजातंत्र का यह मूल सिद्धान्त है कि सरकार तब तक सत्ता में रहती है जब तक कि उसे विधायिका का समर्थन प्राप्त है। इसका अर्थ है कि जब तक सरकार के पास बहुमत है यह शासन करती रहेगी परन्तु यदि सरकार किसी नीतिगत मामले पर सदन में पराजित हो जाती है या अविश्वास प्रस्ताव पास हो जाता है , या अचानक किसी विषय पर हुए मतदान पर पराजित हो जाये या तो उसके द्वारा नामित व्यक्ति स्पीकर पद के लिए पराजित हो जाये, तो सरकार को तुरन्त त्यागपत्र दे देना चाहिए। के.वी. राव का कहना है कि अविश्वास प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना चाहिए। यदि सरकार त्यागपत्र नहीं देती है तो राज्यपाल विधायिका की इच्छा लागू करने का माध्यम बन जाता है और बिना किसी औपचारिकता के स्वविवेक से सरकार को बर्खास्त कर देना चाहिए।[1] सामान्यत: अविश्वास प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् मुख्यमंत्री त्यागपत्र दे देते है। उदाहरण के लिए सी.बी.गुप्ता ने उत्तर प्रदेश (1967), बी.पी. मण्डल और एम.पी. सिन्हा ने बिहार (1968) और गुरूनाम सिंह ने पंजाब (1970) में अविश्वास प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् त्यागपत्र दे दिया। गुरूनाम सिंह ने 25 मार्च 1970 को अविश्वास प्रस्ताव पारित होने के बाद 1 दिन तक त्यागपत्र नही दिया था। तब राज्यपाल ने उन्हें त्यागपत्र देने के लिए कहा। उनके द्वारा 1 दिन का किया गया विलम्ब संवैधानिक मानकों और लोकतांत्रिक मूल्यों के विरूद्ध माना गया।[2]

कुछ विचारको का मानना है कि यदि सरकार सदन में पराजित हो जाती है तो आवश्यक नहीं है कि मंत्रिपरिषद त्यागपत्र दे। मंत्रिपरिषद को केवल अविश्वास प्रस्ताव पारित होने या प्रमुख नीतिगत मामले पर पराजित होने पर ही त्यागपत्र देना चाहिए क्योंकि सदन में पराजय का हमेशा यह अर्थ नही होता है कि सरकार ने विश्वास मत खो दिया है। उत्तर प्रदेश में चरण सिंह के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद

---

1. पी.एल.माथुर- पूर्वोधृत, पृष्ठ- 103
2. भवानी सिंह- गर्वनर रोल- आईडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन - पृष्ठ- 62

ने एक अध्यादेश का विधि रूप में परिवर्तित करने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया और सदन में पराजित हो गयी। उनके त्यागपत्र की मांग की गयी परन्तु उन्होंने त्यागपत्र नहीं दिया। कालान्तर में उन्होंने सदन में विश्वास प्राप्त कर लिया और मंत्रिपरिषद के विरूद्ध निन्दा प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया।[1] इसी तरह नवम्बर 1970 में ब्रहमानन्द के नेतृत्व वाली आन्ध्रप्रदेश सरकार आकस्मिक मतदान में पराजित हो गयी। ब्रम्हानन्द रेड्डी की सरकार कृषि रोग और नाशक पदार्थ (संशोधन) विधेयक के मामले में सदन में पराजित हो गयी थी, परन्तु उसने त्यागपत्र नहीं दिया।[2] यहा उल्लेखनीय यह है कि रेड्डी की सरकार को 288 सदस्यों के सदन में 177 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। विरोधी दलों के त्यागपत्र मांगने पर रेड्डी सरकार का कहना था कि यह कोई वित्त विधेयक नही था, इसलिए त्यागपत्र नहीं देंगे।[3] बजटीय मामले मे आकस्मिक मतदान में पराजित होने पर मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना चाहिए या नहीं यह विवाद का विषय है। बिहार की अब्दुल गफ्फूर मंत्रिपरिषद 1973 में विक्री कर संशोधन विधेयक पर आकस्मिक मतदान में पराजित हो गयी थी। विरोधी दल ने त्यागपत्र मांगा, परन्तु मंत्रिपरिषद ने त्यागपत्र नहीं दिया। उनका तर्क था कि आकस्मिक मतदान का अर्थ सरकार में विश्वास की मांग नहीं है।

कुछ लोगों का मानना है कि बजटीय मामलों में आकस्मिक मतदान में पराजय मंत्रिपरिषद के पतनके लिये उत्तरादायी है। क्योंकि ये धन से जुड़े मामले है, और यह परम्परा है कि ऐसे मामलों में बजट में कटौती सरकार में अविश्वास का सूचक है। यदि सरकार स्वंय कटौती करती है तो यह उचित है परन्तु यदि सदन कटौती प्रस्ताव पास करता है, तो सरकार में अविश्वास को परिलक्षित करता है और सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है। इस सम्बन्ध में 1971 में बिहार के मुख्यमंत्री भोला पासवान का है जिन्होंने बजट विषय में पराजित होने पर त्यागपत्र दियाा।

---

1. पी.एल.माथुर पूर्वोधृत,- पृष्ठ- 104
2. भवानी सिंह- पूर्वोधृत, पृष्ठ - 62
3. यही स्थिति 1959 में उडीसा में, एच. के महताब मंत्रिपरिषद के साथ उत्पन्न हुयी थी, जब शिक्षा विधेयक पारित नहीं हो सका था और मंत्रिपरिषद ने आकस्मिक मतदान होने के कारण त्यागपत्र नहीं दिया।

1981 में असम में राज्यपाल ने पक्षपातपूर्ण रूप से कार्य किया। श्रीमती अनवरा तैमूर की मंत्रिपरिषद के बजट प्रस्ताव पर विपक्ष ने दो कटौती प्रस्ताव पास कर दिये और परिणाम स्वरूप तैमूर मंत्रिपरिषद के त्यागपत्र की मांग होने लगी। राज्यपाल एल.पी. सिंह ने विधायिका के बजट सत्र का (31 मार्च 1981) सत्रावसान कर दिया, जबकि बजट में कटौती प्रस्ताव, निंदा प्रस्ताव के समकक्ष है और अप्रत्यक्ष रूप से मंत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास। परन्तु राज्यपाल ने सत्रावसान करके कांग्रेस (आई) मंत्रिमंडल को बचाये रखा। 19 मार्च को बजट पर विचार विमर्श करने के लिये अधिवेशन हुआ। वामपक्षी दलों द्वारा रणनीति परिवर्तित करने के कारण अनवरा तैमूर सरकार बच पायी।[1]

मंत्रिपरिषद की सदन में पराजय की एक स्थिति तब भी आती है जब राज्यपाल के भाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर सरकार समुचित समर्थन नहीं जुटा पाती है। राज्यपाल का अभिभाषण सदन की प्रथम कार्यवाही होता है और यह अभिभाषण मंत्रिपरिषद द्वारा तैयार किया होता है, जिसमें सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली प्रमुख नीतियों का वर्णन होता है। इसलिए राज्यपाल के अभिभाषण के धन्यवाद प्रस्ताव पर समुचित समर्थन न जुटा पाने के कारण सरकार की स्थिति काफी अस्थिर हो जाती है। ऐसी ही एक स्थिति 1967 में पंजाब में उत्पन्न हुयी जब गुरूनाम सिंह मंत्रिपरिषद पंजाबी भाषा के संधोधन विषय से सम्बन्धित धन्यवाद प्रस्ताव पर बहुमत नहीं प्राप्त कर सकी थी। चार अकाली सदस्यों ने विपक्षी दलों का साथ दिया और 53 के मुकाबले 49 से मंत्रिपरिषद पराजित हो गयी। सामान्य रूप से यह सरकार के प्रति अविश्वास का प्रतीक बन मंत्रिपरिषद के पतन का कारण बनती परन्तु मतदान के तुरन्त बाद इन चार अकाली सदस्यों ने गुरनाम सिंह मंत्रिपरिषद के प्रति समर्थन व्यक्त किया। परन्तु इसके विपरीत 1971 में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री टी.एन.सिंह ने राज्यपाल के अभिभाषण के धन्यवाद प्रस्ताव के मत विभाजन पर पराजित होने पर त्यागपत्र दे दिया।[2]

इस प्रकार से सदन में सरकार की प्रत्येक पराजय को अविश्वास प्रस्ताव के समकक्ष नहीं माना गया। परन्तु यह निश्चित है कि बजट प्रस्ताव व प्रमुख नीति के मामले में सदन में सरकार की पराजय निश्चित रूप से उसके प्रति अविश्वास की अभिव्यक्ति है।

---

1. सिबरंजन चैटर्जी- पूर्वोधृत, पृष्ठ- 199-200
2. भवानी सिंह- पूर्वोधृत, पृष्ठ- 63

यदि मंत्रीपरिषद जनइच्छा का प्रतिनिधित्व न करे-

यदि राज्यपाल इस बात से सन्तुष्ट हो जाये कि मंत्रिपरिषद जन इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही है तो, वह मंत्रिपरिषद से प्रसाद प्रतिसंहरण के परश्चात् उसे पदच्युत कर सकती है। राजनीतिक विशेषज्ञ इस मामले में एकमत नहीं हैं। हेल्सबरी का विचार है कि ब्रिटिश क्राउन को यह विशेषाधिकार प्राप्त है। वह मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर सकता है या आदेश दे सकता है कि सत्ताधारी सरकार अब निर्वाचकों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती है और 'पदच्युत की शक्ति का प्रयोग, सरकार को विनाश की प्रक्रिया से बचाने के दृष्टिकोण में संवैधानिक , न्यायपूर्ण और उचित' होगा।[1] प्रो0 डायसी का भी यही मानना है। उनके विचार में सम्राट को सभा भंग करने और सरकार को पदच्युत करने का विशेषाधिकार है, यदि सम्राट को यह समझने का उचित कारण है कि, 'सभा का मत निर्वाचकों का मत नहीं है'।[2]

राज्य स्तर पर इस शक्ति का प्रयोग राज्यपालों द्वारा कभी नहीं किया गया है। परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राज्यपाल यह कैसे निर्धारित करेगा कि मंत्रिपरिषद जनइच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। इस शक्ति का केन्द्र द्वारा राज्यपालों के माध्यम से दुरूपयोग करने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक है कि इस शक्ति का प्रयोग करने के लिये कुछ स्वस्थ परम्पराएं व दिशा निर्देशों को अपनाया जाए।

इस शक्ति के दुरूपयोग का मामला 1977 में सामने आया। जनता पार्टी ने सत्ता ग्रहण के छः माह के अन्दर कांग्रेस शासित नौ राज्यों के मुख्यमंत्रियों को सलाह दी गयी कि वे अपने-अपने राज्य के राज्यपालों को राज्य विधानसभा भंग करने की सलाह दें।[3] जनता पार्टी के सत्ता में आने पर यह आशा व्यक्त की गयी थी कि जनता पार्टी उन गल्तियों को नहीं दोहरायेगी, जो कांग्रेस सरकार करती आ रही थी। लेकिन जैसा कि बंगाली में कहावत है कि ,'जो भी व्यक्ति लंका जाता है, वह रावण बन जाता है'।

---

1. एन. एस. गहलौत- गवर्नर इन इण्डिया: ट्रेन्ड्स एण्ड इश्यूज- पृष्ठ 90
2. एन.एस.गहलौत- पूर्वोधृत, पृष्ठ- 90
3. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 24 अप्रैल, 1977

[1] यह कहावत जनता पार्टी पर सत्य साबित हुई और उसने नौ कांग्रेसी सरकारों[2] को इस तर्क के आधार पर बर्खास्त कर दिया कि उन्हें मतदाताओं का विश्वास प्राप्त नहीं है। जनता पार्टी सरकार द्वारा की गयी कथित कार्यवाही की जहां एक ओर गैर कांगेंसी दलों के नेताओं ने स्वागत किया वहीं दूसरी ओर कांगेंस ने इसकी कड़ी आलोचना की। कांग्रेस पार्टी ने इसे केन्द्र की तानाशाही पूर्ण कार्यवाही करार देते हुए संघीय सिद्धान्तों के विरूद्ध बताया। परन्तु 1980 में लोक सभा के मध्यावधि चुनावों में सत्तारूढ़ जनता पार्टी बुरी तरह पराजित हुयी और कांगेस दल सत्तारूढ़ हुआ। जिस तर्क के आधार पर 1977 में जनता पार्टी ने नौ राज्यों की पर सरकारों को बर्खास्त कर दिया था, उसी तर्क के आधार पर कांग्रेस पार्टी ने भी नौ राज्यों[3] की सरकारो को बर्खास्त कर दिया। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जनता पार्टी ने नौ राज्यों की विधानसभा निम्न दो प्रमुख आधारों पर भंग की थी[4] 1. 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई थी। इसलिए कांग्रेस ने राज्य में शासन करने के अधिकार को खो दिया है। जनता ने कांग्रेस को आश्चर्य जनक रूप से इतनी बुरी तरह अस्वीकार किया था कि यह पूरे उत्तर भारत में से लोक सभा के लिए केवल एक स्थान प्राप्त कर पायी थी। 2. इन राज्यों में से अधिकांश विधानसभाओं का कार्यकाल पूर्ण हो चुका था। वे पांच वर्ष पूरा कर चुकी थी परन्तु चूंकि 42 वें संवैधानिक संशोधन ने विधानसभा का कार्यकाल 6 वर्ष करा दिया था, अत: वे लीज पर थीं।

परन्तु 1980 में कांग्रेस में से उपर्युक्त कोई भी आधार नहीं थे जिसके कारण विधान सभाओं को भंग किया गया। परन्तु यह निश्चित है कि दोनों ही दलो ने इस शक्ति का राजनीतिक दुरूपयोग किया।

---

1. यह कथन पश्चिम बंगाल के भूतपूर्व मुख्यमंत्री सिद्धार्थ शंकर राय द्वारा श्री चरण सिंह द्वारा दी गयी सलाह पर कहा गया था। दि टाइम्स आफ इण्डिया, 22 अप्रैल, 1977
2. कांग्रेस शासित नौ राज्य थे- 1. राजस्थान, 2. उत्तर प्रदेश, 3. बिहार, 4. हरियाणा, 5. मध्य प्रदेश, 6. उड़ीसा 7. हिमाचल प्रदेश 8. पंजाब 9. पश्चिम बंगाल
3. ये नौ राज्य थे- 1. पंजाब 2. राजस्थन 3. उड़ीसा 4. मध्य प्रदेश 5. उत्तर प्रदेश 6. महाराष्ट्र 7.बिहार 8. तमिलनाडु 9. गुजरात। इन राज्यों में 17 फरवरी 1980 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।
4. पी.एल.माथुर- रोल ऑफ गवर्नर इन नॉन कांग्रेस स्टेट्स पृष्ठ- 109

राज्य सरकारों को बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू करने का मामला 1977 में सर्वोच्च न्यायालय में गया।[1] न्यायालय का यह मानना था कि उक्त मामले का न्यायिक पुनरावलोकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि राष्ट्रपति की व्यक्तिगत संतुष्टि को न्यायिक निर्णय का आधार नहीं बनाया जा सकता।[2]

उपरोक्त कार्यवाही को यदि एस.आर.बोम्मई बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के सन्दर्भ में देखें, तो उपरोक्त कार्यवाही अनुचित प्रतीत होगी, क्योंकि न्यायालय ने कहा है कि केन्द्र सरकार से भिन्न दल की राज्य सरकार को केवल विपक्षी दल के सिद्धान्त के आधार पर बर्खास्त नहीं किया जा सकता।[3]

अत: दोनों ही केन्द्रीय सरकारों ने 'सदन के मत को निर्वाचकों के मत न मानने' के सिद्धान्त का दुरूपयोग राज्यों में अपने दल का साम्राज्य स्थापित करने के लिये किया।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति व मंत्रिपरिषद की पदच्युति में किसी एक मापदण्ड को नहीं अपनाया गया है। एक ही जैसी परिस्थितियों में राज्यपाल ने अलग-2 ढंग से कार्य किया है और किसी निश्चित परम्परा के अभाव में राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की नियुक्ति व पदच्युति की अपनी शक्ति का दुरूपयोग करते हुए केन्द्र की सत्ताधारी दल की ही सरकार को राज य में गठित करने व उसे बनाए रखने का प्रयत्न किया है।

अन्य मंत्रियों की नियुक्ति-

भारतीय संविधान अनुच्छेड 164 (1) के अनुसार अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा की जायेगी। राज्यपाल अन्य मंत्रियों की नियुक्ति में स्वविवेक का प्रयोग नहीं

---

1. स्टेट ऑफ राजस्थान बनाम भारत संघ, ए.आई. आर. एस.सी. 1977, 1361 कार्लम 22
2. वास्तव में न्यायालय का यह निर्णय 42 वे संशोधान अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेड 356 में खण्ड (5) के अन्त: स्थापित किये जाने के तथ्य से प्रभावित था। इसमें व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति का समाधान अन्तिम और निश्चायक है और किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। डी.डी.बसू , भारत का संविधान, एक परिचय, पृष्ठ- 324
3. एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए.आर.आर. एस.सी. 1994, 2054

कर सकता है। कोई भी व्यक्ति जो विधायिका का सदस्य नही है, वह छ: माह के लिये मंत्री बनाया जा सकता है। छह माह की समाप्ति से पूर्व यदि वह विधायिका सदस्य नहीं बन पाता है, तो इस अवधि के पूर्ण होने पर उसका मंत्रिपद समाप्त समझा जायेगा। ऐसे अनेक उदाहरण है जब विधायिका के गैर सदस्यीय व्यक्ति को मंत्री बनाया गया है। इस प्रावधान का दुरूपयोग करने की भी कोशिश की गई है। जब छ: माह की अवधि समाप्त होने से पूर्व व्यक्ति त्यागपत्र दे दे और फिर कुछ समय पश्चात् पुन: मंत्री बन जाये। हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय दिया।

17 अगस्त, 2001 को सर्वौच्च न्यायालय ने एक अहम् फैसला सुनाते हुए साफ कर दिया कि छ: माह की समयावधि के अन्दर विधायिका का सदस्य न बन पाने वाले व्यक्ति को मंत्री बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। संविधान इस मामले में मौन था और यह अर्थ निकालने वाले भी कम नहीं थे कि छ: महीने के भीतर विधायिका का सदस्य नहीं बन पाने वाले व्यक्ति को मुख्यमंत्रि या प्रधानमंत्री एक दिन का अंतराल करके फिर मंत्री बना सकते हैं। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इसे संविधान के विरूद्ध माना। यह निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति आर्दश सेन आनंद, न्यायमूर्ति आर.सी. लहौरी और न्यायमूर्ति के.सी. बालकृष्णन की खंडपीठ ने सुनाया।[1]

मामला पंजाब का है । पंजाब के पूर्व कांग्रेसी मुख्यमंत्री स्वर्गीय सरदार बेअंत सिह के पुत्र सरदार तेज प्रकाश सिंह को 9 सितम्बर, 1995 को मंत्री नियुक्त किया गया। वह संवैधानिक प्रावधान के अनुसार, छह महीनों तक विधानसभा के लिए चुने नहीं जा सके और 9 मार्च ,1996 को वे मंत्री नहीं रहे। 23 नवम्बर, 1996 को उन्हें नयी मुख्यमंत्री राजिंदर कौर भट्टल ने पुन: मंत्री बना दिया और यह दलील दी कि तेज सिंह का पिछला मंत्री काल दूसरे मुख्यमंत्री के समय में था। अतएव संविधान उन्हें दुबारा मंत्री बनाने से नहीं रोक सकता। उनके इस कदम को संवैधानिक प्रावधान का उल्लंधन बताते हुए ए.आर. चौधरी ने पंजाब उच्च न्यायालय में चुनौती दी।[2] पंजाब उच्च न्यायालय ने राज्यपाल के इस बदम को कानूनी बताया, क्योंकि संविधान में गैर सदस्य की मंत्रीपद पर पुनर्नियुक्ति पर कोई प्रतिबंध

1. जनसत्ता, 18 अगस्त, 2001

2. जनसत्ता, 18 अगस्त, 2001

नहीं है।[1] इसके खिलाफ श्री ए.आर. चौधरी ने उच्चतम न्यायालय में अपील की जिसे न्यायालय ने स्वीकार कर ली और कहा कि संविधान के अनुच्छेद 163, 164 (1) और 164 (4) के प्रावधान के बारे में उच्चतम न्यायालय की हमेशा राय रही है, कि विधायिका सदस्य नहीं होने वाले व्यक्ति को थोड़े समय के लिए मंत्री नियुक्त किया जा सकता है ताकि छः माह की अवधि में सदस्य बन जाये। अगर वह अवधि के भीतर सदस्य नहीं बनता तो उसकी मंत्री की हैसियत अपने आप समाप्त हो जायेगी।[2]

मुख्यमंत्री किसी भी व्यक्ति को अपने मंत्रिपरिषद में शामिल करने के लिए स्वतंत्र है। चाहे तो वह अपने दल के सदस्य और चाहे तो अन्य दल के सदस्यों को भी शामिल कर सकता है ।[3] इस सम्बन्ध में राज्यपाल के पास कोई विशेषाधिकार नहीं है । राज्यपाल कुछ नामों को मंत्रिपरिषद में सम्मिलित करने का सुझाव दे सकता है परन्तु उन्हें शामिल करने के लिए मुख्यमंत्री को बाध्य नहीं कर सकता है । इस सम्बन्ध में पूर्व राज्यपाल श्री एल. पी. सिंह का मानना है कि ''संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल अन्य मंत्रियों की नियुक्ति में मुख्यमंत्री की सलाह मानने के लिए बाध्य है । मैं स्वीकार करने के लिए विवश हूँ कि मैने ऐसे कई व्यक्तियों को मंत्रिपद की शपथ दिलाई है जिनकी भ्रष्टता व असक्षमता ज्ञात थी । केवल एक मामले में मैं मुख्यमंत्री को मनाने में सफल हो सका कि ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करने के लिए दबाव न डाले, जो विद्रोहियों से सम्पर्क के कारण चार्चित है ''।[4]

सामान्यत: राज्यपाल मंत्रियों की नियुक्ति में मुख्य मंत्री की सलाह से कार्य करते हैं, परन्तु राज्यपाल शपथ दिलाते समय इस पक्ष का ध्यान रख सकते हैं, कि नियुक्त होने वाला व्यक्ति भ्रष्टाचार या अन्य आरोपों में दोषी तो नहीं है। बिहार के राज्यपाल आर. डी. भण्डारे ने दो मंत्रियों , श्री राम राज

---

1. अमर उजाला, 30 जुलाई 2001, मुकदमा जो राज्यपालो का भाग्य तय करेगा- के. विक्रम राव
2. जनसत्ता, 18 अगस्त, 2001
3. गठबन्धन सरकार में मुख्यमंत्री के लिये सहयोगी दलों के सदस्यो को सम्मिलित करना एक बाध्यता बन जाती है ।
4. दि गवर्नर, सेज और सेबोटयर गाइड फिलास्फर एण्ड फ्रेन्ड, एल. पी. सिंह पृष्ठ 51

सिंह व श्री राधानन्दन झा को शपथ दिलाने से मना कर दिया जब तक कि उन्होने लिखित रूप में राज्यपाल से उनकी आलोचना करने के लिए माफी नहीं मांग ली । ये दोनों व्यक्ति पूर्व में मुख्य मंत्री द्वारा मंत्रिपरिषद का पुर्नगठन करने हेतु त्यागपत्र देने से मना कर चुके थे ।[1] मणिपुर के राज्यपाल के. वी. कृष्णा राव ने जुलाई 1985 में किशिंग मंत्रि मंडल के विस्तार को अस्वीकार कर दिया । पत्रकार वार्ता में मुख्यमंत्री ने कहा 'उन्हें राज्यपाल द्वारा प्रस्तावित विस्तार को अस्वीकार करने पर दुख हुआ । राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से कार्य करने के लिए बाध्य है' ।[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राज्यपाल को अन्य मंत्रियों की नियुक्ति में कोई अधिकार नहीं है और यदि यवह इसका प्रयोग करता है, तो यह सरकार के कार्यों में हस्तक्षेप माना जायेगा जो कि संसदीय सरकार के सामूहिक उत्तर दायित्व के सिद्धान्त को प्रभावित करेगा । यहाँ राज्यपाल से आशा की गई है कि वह स्वयं को दलीय राजनीति से अलग रखे। उसे संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करना चाहिए और मंत्रियों के चयन में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।

अन्य मंत्रियों की पदच्युति

मंत्रिमंडलीय सरकार का यह सुस्थापित सिद्धान्त है कि यदि मंत्री किसी नीतिगत प्रश्न पर प्रधान मंत्री/ मुख्य मंत्री से भिन्न मत रखता है या प्रधान मंत्री /मुख्यमंत्री को स्वीकार्य नहीं है तो यह उसका कर्त्तव्य है कि वह तुरन्त त्याग पत्र दे दे अन्यथा राष्ट्रपति / राज्यपाल , प्रधानमंत्री/ मुख्यमंत्री की सलाह पर उस विद्रोही मंत्री को पदच्युत कर सकते हैं । मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्रियों की पदच्युति के अनेक उदाहरण हैं । 14 जून, 1974 को हरियाणा के मुख्यमंत्री बंसीलाल की सलाह पर राज्यपाल ने राज्यमंत्री श्रीमती चन्द्रावती को पदच्युत कर दिया।[3]इसी तरह 4 अगस्त ,1977 को उत्तर

---

1. एन. एस. गहलौत - पूर्वोधृत, पृष्ठ 78
2. यू. एन. गुप्ता, इण्डियन फेडरिलिज्म एण्ड यूनिटि ऑफ नेशन के पृष्ठ 158 पर उद्घृत एम. ए. ए. बेग की लेख - गवर्नरस रोल एण्ड रिसपॉसबिलिटी इन एक्सरसाइजिंग हिज डिसक्रिशनी पावर ।
3. एशियन रिकार्डर, 9-15 जुलाई, 1974, पृष्ठ 12094

प्रदेश के राज्यपाल ने राज्य के परिवार कल्याण उपमंत्री जागेश्वर को पदच्युत कर दिया।[1] 15 जून, 1979 को सिक्किम के राज्यपाल ने भू राजस्व और पर्यटन मंत्री, आर. पॉड्याल को पदच्युत कर दिया[2] और 5 अक्टूबर ,1979 को पूर्वोत्तर राज्यों के राज्यपाल ने नागालैण्ड के उपमुख्यमंत्री एस. सी. जमीर को पदच्युत कर दिया।[3] 28 जुलाई ,1982 को मणिपुर के तीन मंत्री पदच्युत किऐ गये ।[4] 3 सितम्बर, 1984 को तमिलनाडु के खाद्य मंत्री एस. डी. सोमसुन्दरम को बर्खास्त किया गया ।[5] 6 जून ,1983 में राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री माथुर के कहने पर श्री भाटी को राज्यपाल ने मुख्य मंत्री पद से बर्खास्त किया ।[6] इन सभी मामलों में पदच्युति मुख्यमंत्री की सलाह पर की गई । इसलिए अन्य मंत्रियों के मामले में राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त का वास्तविक अर्थ है मुख्यमंत्री के प्रसाद पर्यन्त। 1970 में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने मुख्यमत्री की सलाह पर मंत्रियों को बर्खास्त करने से मना कर दिया। 24 सितम्बर ,1970 को उत्तर प्रदेश के गठबन्धन सरकार के मुख्यमंत्री चरण सिंह ने 26 कांग्रेस (आर) मंत्रियों में से 13 व एक बी.के.डी. मंत्री से त्याग पत्र मांगा ।[7] उनके त्याग पत्र देने से मना करने पर मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से मंत्रियों को बर्खास्त करने का अनुरोध किया । मुख्यमंत्री की सलाह मानने के स्थान पर, राज्यपाल ने मुख्यमंत्री से त्याग पत्र देने को कहा, क्योंकि उस समय कांग्रेस (आर) ने चरण सिंह के नेतृत्व में गठबन्धन सरकार से समर्थन वापस ले लिया था। इस मामले में मुख्यमंत्री की सलाह को स्वीकार न करने के पीछे राज्यपाल ने निम्न तर्क दिये [8]:-

---

1. एशियन रिकार्डर, 10-16 सितम्बर 1977, पृष्ठ 13926
2. एशियन रिकार्डर, 23-29 जुलाई, 1979, पृष्ठ 14997
3. एशियन रिकार्डर, 12-18 नवम्बर 1979, पृष्ठ 15173
4. एशियन रिकार्डर, 3-9 सितम्बर, 1982, पृष्ठ 16779
5. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 4 सितम्बर 1984
6. एन. एस. गहलौत, पूर्वोधृत, पृष्ठ 77
7. दि टाइम्स आफ इण्डिया 25 सितम्बर 1970
8. सिबरंजन चैटर्जी पूर्वोधृत, पृष्ठ 140-141

1. एक दलीय बहुमत प्राप्त सरकार के मुख्यमंत्री की स्थिति गठबन्धन सरकार के मुख्यमंत्री से बिल्कुल भिन्न है।

2. संसदीय अर्थों में गठबन्धन सरकार का मुख्यमंत्री सर्वोच्च नहीं है क्योंकि अपने सहयोगियों के चुनाव में वह स्वतंत्र नहीं है और सामान्यतया उसे सहयोगी दलों के नेताओं द्वारा दिये गये नामों को स्वीकार करना होता है । यद्यपि मंत्री उसके द्वारा नियुक्त है, फिर भी मुख्यमंत्री उनके सहयोग व समर्थन से ही अस्तित्व में रहता है ।

3. यहाँ तक कि विभागों के बटवारे जैसे कम महत्वपूर्ण मामलों में भी मुख्य मंत्री का स्वविवेकाधीन अधिकारों में कटौती हो जाती है और यह सहयोगी दलों की मांग का विषय बन जाती है । इस सम्बन्ध में देना व लेना के सिद्धान्त पर समझौता होता है ।

4. समन्वयकारी समितियों की प्रकृति के राजनीति यंत्र जो कि 'सुपर कैबिनेट' के समान कम या अधिक मात्रा में काम करते हैं जिसमें गैर मंत्री नेता भी उपस्थित रहते हैं वे मुख्यमंत्री की सर्वोच्चता में नहीं रहते हैं, जैसा कि उत्तर प्रदेश में पिछली गठबन्धन सरकार में हुआ था।

5. यह सत्य है कि ऐसे कई उदाहरण हैं, जब शक्ति के दुरूपयोग या दुर्व्यवहार के कारण मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा व्यक्तिगत रूप से मंत्रियों को बर्खास्त किया गया है परन्तु इससे पूर्व एक भी ऐसा मामला नहीं है जहां मुख्यमंत्री, मंत्रियों के बहुमत की बर्खास्तगी चाहता है, दुव्यर्वहार, दुराचरण या शक्तियों के दुरूपयोग के आधार पर नहीं वरन् स्पष्टत: राजनीतिक भिन्नता (गतिरोध) के आधार पर ।

यह सत्य हैं कि गठबन्धन सरकार के मुख्य मंत्री को कुछ सीमाओं में कार्य करना होता है परन्तु संविधान गंठबंधन सरकार व एकदलीय बहुमत प्राप्त सरकार के मुख्य मंत्री के मध्य किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता है। प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा गठित अध्ययन दल (राज्य स्तरीय प्रशासन) ने सुझाव दिया है कि ''राज्यपाल को किसी मंत्री को पदच्युत करने के मामले में मुख्य मंत्री

की सलाह को स्थिर रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।''[1] प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी कहा, ''मुख्यमंत्री व उसके किसी सहयोगी के मध्य असंगत विरोध होने पर, मुख्यमंत्री द्वारा सम्वन्धित मंत्री से त्याग पत्र देने के लिए कहना चाहिए और यदि ऐसा नहीं कियाजाता है तो मुख्यमंत्री को उसे हटाने के लिए समुचित कार्यवाही करनी चाहिए ।''[2] केन्द्र राज्य सम्बन्ध जाँच समिति ने भी इसी प्रकार सुझाव दिया है कि ''मुख्य मंत्री द्वारा राज्यपाल को किसी मंत्री की पदच्युति की दी गयी सलाह को राज्यपाल को स्वीकार कर लेना चाहिए ।''[3]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा मुख्य मंत्री की सलाह से की जाती है, परन्तु वे अपने पद पर तब तक बने रहते हैं जब तक मुख्य मंत्री चाहे । वास्तव में यह सब मुख्यमंत्री की स्थिति पर निर्भर करता है यदि मुख्य मंत्री की स्थिति सुदृढ़ है तो वह मंत्रियों को बर्खास्त करवा सकता है, परन्तु यदि उसकी स्थिति कमजोर है जैसा कि गठबन्धन सरकारों में, तो वह अपने मंत्रियों पर प्रभाव डालने में सक्षम नहीं होता । वास्तव में मुख्य मंत्री की स्थिति केन्द्रीय है।

---

1. प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा गठित अध्ययन दल की राज्य स्तर प्रशासन पर रिपोर्ट 1968, पृष्ठ 9
2. प्रशासनिक सुधार आयोग, 1969 पृष्ठ 11
3. केन्द्र राज्य सम्बन्ध जांच समिति रिपोर्ट पृष्ठ 138 (तमिलनाडू सरकार)

पंचम अध्याय

राज्यपाल और राष्ट्रपति शासन

राज्यपाल और राष्ट्रपति शासन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत लागू होने वाले राष्ट्रपति शासन के समय, राज्यपाल एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। राज्यपाल की रिपोर्ट किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने का प्रमुख आधार होती है। यद्यपि संविधान राष्ट्रपति को अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही करने के लिए राज्यपाल की रिपोर्ट अनिवार्य नहीं करता, लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर अवसरों पर राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर ही कार्यवाही की गयी है।

राज्यपाल द्वारा राज्य सरकार की बर्खास्तगी के लिए केन्द्र को रिपोर्ट भेजना, विधान सभाओं को भंग करना तथा मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति आदि ऐसे अधिकार हैं, जिनके प्रयोग में पक्षपातपूर्ण भूमिका निर्वहन करने के कारण राज्यपाल का पद आलोचनाओं का शिकार रहा है। चूंकि राष्ट्रपति शासन के दौरान, राज्य की प्रशासनिक गतिविधियों का संचालन केन्द्र, उनके माध्यम से ही करता है, अत: राज्यपालों की इस अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए, राज्यपालों के संवैधानिक और राजनीतिक अधिकारों का विश्लेषण आवश्यक है। विपक्षी दलों द्वारा इस संबंध में राज्यपालों की भूमिका पर सन्देह व्यक्त किया गया है। उस पर केन्द्र के अभिकर्ता की भूमिका निर्वहन करने का आरोप लगाया गया है। वास्तव में, इस अध्याय में इस बात का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है, कि क्या वास्तव में राज्यपालों ने संविधान द्वारा सौंपी गयी संवैधानिक प्रमुख की भूमिका में कार्य किया है, या उससे हटकर एक दल के राजनीतिक नेता के रूप में कार्य किया है। इस भूमिका के अध्ययन से पूर्व संवैधानिक प्रावधानों का अध्ययन आवश्यक है।

अनुछेद 355 के अनुसार ''संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह बाह्य आक्रमण एवं आन्तरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करे और प्रत्येक राज्य की सरकार का इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे।''

अनुच्छेद 356 के अनुसार '(1) यदि राष्ट्रपति का, किसी राज्य के राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा, यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा -

(क) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य राज्यपाल में या राज्य के विधान मण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा;

(ख) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी;

(ग) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सम्बन्धित इस संविधान के किन्हीं उपबन्धों के प्रवर्तन को पूर्णतय: या भागत: निलम्बित करने के लिए उपबन्धों सहित ऐसे अनुषंगिक और पारिणामिक उपबन्ध कर सकेगा जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों;

'परन्तु इस खण्ड की बात राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य किसी शक्ति को अपने हाथ में लेने या उच्च न्यायालयों से सम्बन्धित इस संविधान के किसी उपबन्ध के प्रवर्तन को पूर्णतय: या भागत: निलम्बित करने के लिए प्राधिकृत नहीं करेगी ।

(2) ऐसी कोई उद्घोषणा किसी पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा वापस ली जा सकेगी या उसमें परिवर्तन किया जा सकेगा ।

(3) इस अनुच्छेद के अधीन की गई प्रत्येक उद्घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और जहाँ वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है, तो वहां वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है ।

परन्तु यदि ऐसी कोई उद्घोषणा (जो पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है) उस समय की जाती है जब लोक सभा का विघटन हो गया है या लोक सभा का विघटन इस खण्ड में निर्दिष्ट दो मास की अवधि के दौरान हो जाता है और यदि उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्यसभा द्वारा पारित कर दिया गया है, किन्तु ऐसी उद्घोषणा के सम्बन्ध में कोई संकल्प लोक सभा द्वारा उस अवधि की समाप्ति से पहले

पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से जिसको लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, प्रवर्तन में नहीं रहेगी यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति के पहले उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोकसभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है।

(4) इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो ऐसी उद्घोषणा के जारी किये जाने की तारीख से छः मास की अवधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी।

परन्तु यदि और जितनी बार ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखने का अनुमोदन करे वाला संकल्प संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है, तो और उतनी बार वह उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, उस तारीख से जिसको वह इस खण्ड के अधीन अन्यथा प्रवर्तन में नहीं रहती, छः मास की और अवधि तक प्रवृत्त बनी रहेगी। किन्तु ऐसी उदघोषणा किसी भी दशा में तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नहीं रहेगी।

परन्तु यह और कि यदि लोकसभा का विघटन छः मास की ऐसी अवधि के दौरान हो जाता है और ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्यसभा द्वारा पारित कर दिया गया है, किन्तु ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखने के सम्बन्ध में कोई संकल्प लोकसभा द्वारा उक्त अवधि के दौरान पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से, जिसको लोकसभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोकसभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है।

5. खण्ड (4) में से किसी बात के होते हुए भी, खण्ड (3) के अधीन अनुमोदित उद्घोषणा के किये जाने की तारीख से एक वर्ष की समाप्ति से आगे किसी अवधि के लिए ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखने के सम्बन्ध में कोई संकल्प संसद के किसी सदन द्वारा तभी पारित किया जायेगा जब-

(क) ऐसे संकल्प के पारित किये जाने के समय आपातकाल की उद्घोषणा, यथास्थिति, सम्पूर्ण भारत में अथवा सम्पूर्ण राज्य या उसके किसी भाग में प्रवर्तन में है, और

(ख) निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर देता है कि ऐसे संकल्प में विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान खण्ड (3) के अधीन अनुमोदित उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखना, सम्बन्धित राज्य की विधान सभा के साधारण निर्वाचन कराने में कठिनाईयों के कारण, आवश्यक है।

अनुच्छेद 357 के अनुसार, जहाँ अनुच्छेद 356 के खंड(1) के अधीन की गई उद्घोषणा द्वारा यह घोषणा की गई है कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। संसद राज्य के विधान मण्डल की विधि बनाने की शक्ति राष्ट्रपति में निहित कर सकेगी और राष्ट्रपति इस शक्ति को, ऐसी शर्तों के अधीन, जिन्हें वह अधिरोपित करना ठीक समझें, किसी अन्य प्राधिकारी को जिसे वह विनिर्दिष्ट करें, प्रदत्त कर सकेगा। संसद राष्ट्रपति को राज्य की संचित निधि में से व्यय करने के लिए प्राधिकृत कर सकेगी, जब लोकसभा सत्र में नहीं है और संसद की मंजूरी लंबित है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि संवैधानिक तन्त्र की विफलता किसे माना जाय और यह कौन निर्धारित करेगा कि संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है। 'संवैधानिक तन्त्र की विफलता' और 'ऐसी परिस्थितियों का उत्पन्न होना 'जिसमें सरकार संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप नहीं चलायी जा सकती। ये वाक्यखण्ड काफी अस्पष्ट हैं और यह बात संविधान सभा में श्री एच.एन. कुंजरू[1] और श्री नजीरुद्दीन[2] ने उठायी थी। संविधान सभा में अस्पष्टता के कारण और 'अन्यथा' शब्द के प्रयोग के कारण इस अनुच्छेद के दुरूपयोग होने की आशंका व्यक्त की गयी थी। श्री एच.वी. कामथ का कहना था कि, '' राष्ट्रपति को न केवल राज्यपाल या राज्य के शासक की रिपोर्ट वरन् अन्यथा हस्तक्षेप का अधिकार देना संवैधानिक अपराध है। 'अन्यथा' शब्द शैतानी शब्द है। इस सन्दर्भ में यह पैशाचिक शब्द है और मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि, इसे इस अनुच्छेद से निकाल दिया जाए। यदि ईश्वर आज हस्तक्षेप नहीं करता है तो मुझे विश्वास है कि वह दिन दूर नहीं जब स्थिति अधिक गंभीर मोड़ लेगी

---

1. कान्सटीट्यून्ट असेम्बली डिबेड, वाल्यूम- IX पृष्ठ 176
2. सी.ए.डी. वाल्यूम IX पृष्ठ 162

और वह हस्तक्षेप करेगा''।[1] यहाँ तक कि डा० अम्बेडकर ने भी इस संभावना से इन्कार नहीं किया था परन्तु उन्होंने कहा कि इन अनुच्छेदों का राजनीतिक प्रयोजनों के लिए दुरूपयोग होने अथवा प्रयोग होने की सम्भावना है। किन्तु यह आपत्ति संविधान के मामले में भी हो सकती है। जिसमें केन्द्र को प्रान्तों पर अभिभावी होने की शक्ति प्रदान की गई है। वास्तव में, मैं चाहता हूँ कि इन अनुच्छेदों का प्रयोग करने की कभी भी आवश्यकता न हो और ये केवल एक विलेख के रूप में बने रहें। यदि इनका कभी प्रयोग होता भी है तो मुझे आशा है कि राष्ट्रपति जिसे ये शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, प्रान्तों के प्रशासन को वास्तविक रूप से निलंबित करने से पहले समुचित रूप से सावधानियाँ बरतेगा। मैं आशा करता हूँ कि सबसे पहले राष्ट्रपति गलती करने वाले प्रान्त को मात्र यह चेतावनी देगा कि उस प्रान्त में गतिविधियाँ उस प्रकार से नहीं चल रही हैं, जिस प्रकार से वे संविधान में अभिप्रेत थीं। यदि वह चेतावनी निष्फल हो जाती है तो उसके द्वारा की जाने वाली दूसरी कार्यवाही यह होगी कि वह चुनाव के आदेश दें, जिसमें उस प्रदेश की जनता को अपनी समस्या का निपटारा स्वयं करने की छूट मिलेगी। वह इस अनुच्छेद का सहारा तभी लेगा जब ये दोनों उपाय निष्फल हो जाएं।[2]

यद्यपि डा० अम्बेडकर ने यह आशा व्यक्त की थी कि अनुच्छेद 356 शायद ही कभी प्रयुक्त होगा, परन्तु इसका निरन्तर प्रयोग होता रहा। केन्द्र ने विभिन्न राज्यों में स्थिति का आकलन करने हेतु अलग-अलग मापदण्डों को अपनाया है। परन्तु इस बात का हमेशा ध्यान रखा है कि उसके दलहित को पूरा किया जा सके। अनुच्छेद 356 का मुख्यतः निम्न रूपों में दुरूपयोग किया गया है[3] :-

(1) बहुमत प्राप्त राज्य सरकार को बर्खास्त करके।

(2) विधान सभा को पक्षपातपूर्ण तरीके से निलंबित व भंग किया गया।

(3) जब निर्वाचकों का मत अनिश्चित था तो विपक्ष को अवसर नहीं दिया गया कि वह सरकार गठित कर सके।

---

1. सी.ए.डी. वाल्यूम IX , पृष्ठ 140

2. सी.ए.डी. वाल्यूम IX, पृष्ठ 177

3. वीरेन्द्र ग्रोवर द्वारा सम्पादित फेडरल सिस्टम, स्टेट अटोनॉमी एण्ड सेन्टर स्टेट रिलेशन्स में उद्धृत जे० आर० सिवाच का लेख-स्टेट अटोनॉमी एण्ड दि प्रेसीडेन्ड रूल्स, पृष्ठ 216-217

(4) जब मंत्रिपरिषद ने विधान सभा कक्ष में पराजय के पूर्वानुमान के आधार पर त्याग पत्र दे दिया, तो विपक्ष को सरकार गठित करने का मौका नहीं दिया गया।

(5) विधान सभा कक्ष में पराजय के पश्चात् भी विपक्ष की सरकार गठित करने का अवसर नहीं दिया गया।

राज्यपाल द्वारा केन्द्र को प्रतिवेदन भेजना :-

राज्यपाल द्वारा केन्द्र को अपनी रिपोर्ट प्रेषित करने के संबंध में सर्वाधिक विवाद है जब राज्यपाल द्वारा राज्य मंत्रिपरिषद से सलाह नहीं ली जाती। संविधान के लागू होने के पन्द्रह वर्षो तक राज्यपाल की भूमिका के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं था, क्योंकि स्वतंत्रता के बाद इन वर्षों में अधिकांश राज्यों में एक ही दल सत्तारूढ़ था और संघ-राज्य संबंधी कार्यप्रणाली से जो भी समस्याएं उत्पन्न होती थीं, उन्हें आमतौर पर पार्टी स्तर पर ही सुलझा लिया जाता था एवं राज्यपाल द्वारा अपने विवेकाधिकारों के प्रयोग का अवसर कम ही रहता था। इन वर्षों के दौरान राज्यपाल की संस्था को पर्याप्त महत्व नहीं मिल पाया था। इस अवधि के दौरान केवल केरल में 1959 का मामला है जब राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था। उस समय राज्यपाल की भूमिका की कड़ी आलोचना की गयी थी।

केरल में जहाँ 1957 के चुनावों के बाद पहली बार किसी राज्य में गैर कांग्रेसी दल की सरकार सत्तारूढ़ हुई थी, राज्यपाल श्री कृष्णाराव ने केन्द्र के अभिकर्ता की भूमिका अदा करते हुए बहुमत प्राप्त सरकार को बर्खास्त कर दिया था। केन्द्र को भेजे गये अपने प्रतिवेदन में, राज्यपाल ने राज्यसरकार पर कुव्यवस्था व भ्रष्टाचार का आरोप लगाया था। रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि केरल की सरकार में जनता का विश्वास उठ गया है।

केरल के मामले में राज्यपाल की भूमिका निश्चित रूप से पक्षपातपूर्ण रही थी, क्योंकि संविधान में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि राज्यपाल बहुमत प्राप्त मंत्रिपरिषद को केवल इस आधार पर बर्खास्त कर दे क्योंकि राज्य की जनता का बहुमत सरकार के पक्ष में नहीं रह गया है। वह इस लिये भी ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक विधान सभा का सदन में बहुमत रहता है,

राज्यपाल के प्रति मुख्यमंत्री नहीं उत्तरदायी होता है। वास्तव में संविधान राज्यपाल को यह देखने का दायित्व कदाचित् नहीं सौपता, एवं इस प्रकार के कार्य संविधान के विपरीत हैं क्योंकि यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि राज्यपाल जब अपना पद ग्रहण करता है तब वह यह शपथ लेता है कि वह संविधान की रक्षा करेगा। उस स्थिति में राज्यपाल का यह कर्तव्य बनता है कि वह राज्य में संवैधानिक कानूनों का पालन होना सुनिश्चित करे, जिससे राज्य में जनजीवन सुरक्षित हो सकेगा। जबकि पक्षपातपूर्ण राजनीतिक भूमिका की अदायगी द्वारा वह राज्य के संवैधानिक तंत्र में बाधा उपस्थित करेगा। इस संबंध में राज्यपालों को इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि राज्य सरकारों से उनका संबंध न केवल एक संवैधानिक मुखिया के तौर पर होता है अपितु ऐसी परामर्शी भूमिका का भी निर्वाह करें जिससे मंत्री परिषद में उत्पन्न हुये विवादों को सुलझाया जा सके।[1]

यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति केवल राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर ही 'राष्ट्रपति शासन' की राज्यों में उद्घोषणा करें। अनुच्छेद 356 में 'अन्यथा' शब्द काफी महत्वपूर्ण है। 1977[2] और 1980[3] में नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर विधान सभा को भंग किया गया, यद्यपि सम्बन्धित राज्यों के राज्यपालों ने इस सम्बन्ध में कोई रिपोर्ट नहीं दी थी।

इसी प्रकार 1991 में तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की गई यद्यपि राज्यपाल सुरजीत सिंह बनाला ने केन्द्र के इशारे पर रिपोर्ट नहीं दी थी।[4]

राज्यपालों की भूमिका में परिवर्तन मुख्यतः 1967 के बाद से आया, जब आम चुनावों के बाद से अधिकांश राज्यों में सत्तारूढ़ पार्टी से भिन्न दल सत्तारूढ़ हुये। बाद के दशकों में यह देखने में आया कि राजनीतिक दलों के विखण्डन के बाद कई नये क्षेत्रीय दलों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके परिणाम

---

1. श्री आर. वेन्कटरमन् - माई प्रेसीडेन्टशियल ईयर्स - पृष्ठ 87
2. एशियन रिकार्डर, 4 जून-10 जून 1977, पृष्ठ - 13766-768
3. एशियन रिकार्डर, 18-24 मार्च, 1980 पृष्ठ 15367
4. राज्यपाल बरनाला द्वारा ऐसा न करने पर उनका बिहार स्थानान्तरण किया गया और इस सम्बन्ध में उनकी सहमति नहीं ली गई। विरोध स्वरूप बरनाला ने त्याग पत्र दे दिया।

स्वरूप कई राज्यों में दीर्घकालीन अस्थिरता उत्पन्न हो गई। फलत: राज्यपालों से यह अपेक्षा की गयी कि वे अपने विवेकाधीन अधिकारों का प्रयोग करें, लेकिन अपेक्षित भूमिका का निर्वहन न रने के कारण उसका सीधा प्रभाव संघ राज्य सम्बन्धों पर पड़ा। इसके पश्चात् राज्यपाल की भूमिका जन विवाद का विषय बनी। इधर कुछ वर्षों से राज्यपाल का पद अनेकों दबावों और तनावों का शिकार हुआ है, जिसकी संविधान की रचना करते समय कल्पना भी नहीं की गयी थी। डा० अम्बेदकर ने उसे अलंकारिक कार्यकर्ता की संज्ञा दी थी। उच्चतम न्यायालय ने भी राज्यपाल के पद के बारे में इस प्रकार के विचार व्यक्ति किये हैं।[1] 1967 के बाद कई राज्यों में राज्यपालों के क्रियाकलापों पर सवालिया प्रश्नचिन्ह खड़ा हो गया क्योंकि वे राजनीति में लिप्त हो गये थे।[2] अनुच्छेद 356 के सन्दर्भ में, राज्यपालों की पक्षपातपूर्ण भूमिका या केन्द्र के निर्देश पर की गयी कार्यवाही के लिये कुछ महत्वपूर्ण मामलों का अध्ययन आवश्यक है।

राजस्थान में राज्यपाल के कृत्य को शंका की दृष्टि से देखा गया क्योंकि 1967 के चुनावों के तुरंत बाद ही विधान सभा को निलंबित कर दिया गया था। राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द ने विपक्ष के सरकार बनाने के दावे को स्वीकार नहीं किया था।[3] 1967 के चुनावों के पश्चात् राज्य में कांग्रेस दल सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आया था लेकिन उसे पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था।[4] विपक्षी दलों ने गठबन्धन बनाकर, सरकार बनाने का दावा किया। दोनों पक्षों द्वारा निर्दलीयों के समर्थन का दावा किया गया और राज्यपाल ने निर्दलीयों को बहुमत निर्धारित करने के लिए नहीं गिना। राज्यपाल ने अपने इस कदम का बचाव करते हुए कहा, कि राजनीतिक दल चुनावों में अपने दल की नीतियों के आधार पर चुनाव लड़ते हैं न कि व्यक्तिगत आधार पर । मतदाता निर्दलीय उम्मीदवारों की

---

1. हर गोविन्द बनाम रघुकुल तिलक ए.आई. आर. 1979 एस. सी. 709
2. दि रोल ऑफ गवर्नर इन इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स 1967 - इण्डियन जनरल ऑफ पालिटिक्ल साइन्स, अक्टूबर-दिसम्बर 1971, नं० 4 वाल्यूम XXXII पृष्ठ - 522
3. दि रोल ऑफ गवर्नर इन इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स 1967- पूर्वोधृत
4. निर्वाचन के पश्चात् विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी- कुल स्थान-184, कांग्रेस 89, स्वतंत्र 48, जनसंघ-22, स सो पा-8, साम्यवादी दल-1 निर्दलीय-16

नीतियों के विषय में कुछ भी नहीं जानता।[1] अतः राज्यपाल ने श्री सुखाड़िया को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया। श्री सुखाड़िया को सरकार बनाने का आमंत्रण देते समय राज्यपाल के विचार में उनके समक्ष दो विकल्प थे :-

(1) विधानसभा को भंग कर पुनः नये निर्वाचन के आदेश दिये जायें।

(2) राष्ट्रपति शासन लागू कर प्रजातांत्रिक संस्थाओं को अस्थायी तौर पर निलंबित रखा जाय।

लेकिन राज्यपाल का विचार था कि इन दोनों ही विकल्पों पर गहराई से विचार करने के बाद उन्हें यही प्रतीत हुआ कि राज्य में लोकतंत्रात्मक संस्थाओं को अपनी सार्थकता और क्षमता सिद्ध करने का एक अवसर प्रदान करना चाहिए।

लेकिन राज्यपाल के कथित निर्णय की विपक्षीदलों द्वारा कड़ी आलोचना की गयी।[2] उन्होंने आपोर लगाया :-

1. राज्यपाल ने कांग्रेस हाईकमान के इशारे पर कार्यवाही की।

2. राज्यपाल के लिए यह बिल्कुल अनुचित था कि उन्होंने निर्दलीय सदस्यों की नितांत उपेक्षा की तथा उनके मतों की गणना करे से इन्कार कर दिया।

3. यदि सबसे बड़े राजनीतिक दल को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना था तो राज्यपाल यह कार्य पूर्व में ही कर सकते थे। उनके लिए यह बिल्कुल आवश्यक नहीं था कि वह इतने लम्बे समय तक प्रतीक्षा करते तथा कांग्रेस और विरोधी दलों के समर्थकों की संख्या की अलग-अलग जाँच करते।

4. राज्यपाल संयुक्त मोर्चे के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि संयुक्त मोर्चा भी अन्य किसी भी दल की भांति पूरी तरह से एक विधान मण्डलीय दल था। उसका एक

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स - 5 मार्च, 1967

2. एन. एस. गहलौत - स्टेट सवर्नरस इन इण्डिया ट्रैण्डस एण्ड इश्यूज, पृष्ठ 260

सुनिश्चित कार्यक्रम था, निर्वाचित नेता थे, एवं राज्यपाल को इन सभी बातों की विधिवत सूचना दे दी गयी थी।

5. यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि जिस दिन कांग्रेस के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया था, उस दिन विधान सभा में कांग्रेस को बहुमत नहीं प्राप्त था। विरोधी दलों ने अपने संयुक्त वक्तव्य में कहा कि राज्यपाल ने अल्पमत को बहुमत में बदल कर लोकतंत्र तथा विधि के शासन के ऊपर प्राणान्तक आघात ही नहीं किया वरन् संविधान की शब्दावली व भावना दोनों का उल्लंघन किया है।

राज्यपाल का यह निर्णय राजनीतिक पक्षपात का स्पष्ट उदाहरण था। इससे यही प्रकट होता है कि राज्यपाल ने केन्द्र में सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) की ही इच्छाओं का ध्यान रखा, लोकतंत्र, जनता के निर्णय तथा संविधान का नहीं। लेकनि राज्य की राजधानी में हिंसक उपद्रवों और विरोध को देखते हुए श्री सुखाड़िया ने अन्तत: सरकार का गठन करने से इन्कार कर दिया। तत्पश्चात् राज्य में राष्ट्रपति शासन घोषित कर दिया गया, लेकिन राज्य विधान सभा भंग नहीं की गई।[1] स्वतंत्र पार्टी के नेतृत्व में विरोधी दलों ने राज्यपाल की नेकनीयती पर संदेह किया और शिकायत की कि वह केन्द्र सरकार के निर्देशों के अनुरूप कार्य कर रहे हैं। सर्वोदयी नेता जय प्रकाश नारायण का विचार था कि विरोधी दलों के संगठन को सरकार बनाने का अवसर न देने का कोई न्यायोचित कारण नहीं दिखायी देता। श्री मीनू मसानी ने इसे 'कुत्सित' और श्रीपाद अमृतडांगे ने इसे 'असंवैधानिक' तथा 'सिद्धान्तहीन' कहा।

बाद में कांग्रेस कुछ विधायकों को अपने पक्ष में करने में सफल हो गई। राज्यपाल ने विधान सभा के उन सदस्यों से जिनकी निष्ठा विवादास्पद थी, मिलने के बाद देखा कि कांग्रेस पार्टी का बहुमत था और उन्होंने इसके नेता श्री सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए पुन: आमंत्रित किया।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि राज्यपाल ने अपनी संवैधानिक प्रधान की भूमिका के स्थान पर केन्द्र के इशारे पर काम किया। 24 सितम्बर, 1970 को उत्तर प्रदेश में बी.के.डी. मुख्यमंत्री चरण सिंह के नेतृत्व वाली गठबन्धन सरकार पर संकट आ गया, जब कांग्रेस (आर) ने अपना

---

1. एशियन रिकार्डर, 2 अप्रैल-8 अप्रैल, 1967 पृष्ठ 7633

समर्थन वापस ले लिये एवं राज्यपाल से चरण सिंह सरकार को बर्खास्त करने के लिये इस आधार पर कहा कि वह अल्पमत में हो गयी थी। राज्यपाल बी. गोपाल रेड्डी ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की, जबकि विधान सभा अधिवेशन 6 अक्टूबर, 1970 को प्रारम्भ होने जा रहा था। मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से 6 अक्टूबर से पूर्व विधान सभा अधिवेशन बुलाने का आग्रह भी किया था, जिससे तुरन्त शक्ति परीक्षमण हो सके। राज्यपाल ने इस तथ्य की भी उपेक्षा की कि कांग्रेस (ओ), जनसंघ व स्वतंत्र दल ने चरण सिंह मंत्रिमंडल को समर्थन देने का वादा किया था। किसी भी राजनीतिक दल से परामर्श किए बिना राज्यपाल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कोई भी दल स्थिर सरकार के गठन में सक्षम नहीं है। यह पहली बार हुआ था कि किसी राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा पर विदेश में हस्ताक्षर किया।[1] राज्यपाल और केन्द्रीय गृहमंत्रालय 6 अक्टूबर से पूर्व चरण सिंह सरकार को इस आशंका से अपदस्थ करना चाहते थे, कि कहीं चरण सिंह गैर कांग्रेस (आर) दलों के सहयोग से बहुमत का समर्थन न प्राप्त कर लें। चरण सिंह सरकार फरवरी 1970 में कांग्रेस के विघटन व सी.बी. गुप्ता के बजट सत्र से पूर्व त्याग पत्र देने के कारण गठित हुई थी। कांग्रेस (आर) के नेता कमलापति त्रिपाठी के 'मौखिक आश्वासन' पर कि वह चरण सिंह द्वारा गठित सरकार को समर्थन देंगे, राज्यपाल ने चरण सिंह को शपथ दिलायी थी। परन्तु इन्ही राज्यपाल ने सितम्बर 1970 में गैर कांग्रेस (आर) दलों की चरण सिंह सरकार को समर्थन के लिखित आश्वासन पर कोई ध्यान नहीं दिया।

मई 1971 में गुजरात मंत्रिमंडल पर संकट के बादल मंडराने लगे, जब कांग्रेस (ओ) के सात विधान सभा सदस्यों ने काग्रेस (आर) दल में सम्मिलित होने की घोषणा की। छह निर्दलीय सदस्यों ने मुख्यमंत्री हितेन्द्र देसाई के मंत्रिमण्डल से अपना समर्थन वापल ले लिया। परिणाम स्वरूप राज्य के राज्यपाल श्रीयुत श्रीमन नारायण ने राष्ट्रपति को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की रिपोर्ट भेजी क्योंकि राज्य में संवैधानिक तंत्र अव्यवस्थित हो गया था। राष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि ने 13 मई, 1971 को अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य विधान सभा भंग करके राज्य सरकार के समस्त कार्य अपने अधीन कर लिये। इस घटनाक्रम में विचारणीय बिन्दु यह है कि श्री देसाई ने उन्हीं राज्यपाल से पहले ही

---

1. राष्ट्रपति वी.वी. गिरि सोवियत संघ की यात्रा पर थे। एक विशेष दूत कीव (सोवियत संघ) भेजा गया जिससे उद्घोषणा पर हस्ताक्षर हो सके।

विधान सभा भंग करने व मध्यावधि चुनाव कराने का अनुरोध किया था, किन्तु राज्यपाल ने उनके अनुरोध को अस्वीकृत कर दिया था जबकि उस समय श्री देसाई को 168 सदस्यीय सदन (जिसमें पांच स्थान रिक्त थे) में 89 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था।[1]

बिल्कुल इसी तरह का परिणाम उड़ीसा के श्री आर. एन. सिंह देव मंत्रिमंडल का हुआ जब उनके सुझाव को अस्वीकृत कर दिया गया और राज्यपाल डा० अन्सारी ने राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुशंसा की एवं 10 जनवरी, 1971 को प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू हुआ।[2]

1973 में उड़ीसा में 13 असंतुष्ट कांग्रेस विधायक अपने मूल दल से अलग होकर स्वतंत्र दल में सम्मिलित हो गये। मुख्यमंत्री श्रीमती नन्दनी सत्पथी ने अपनी भावी हार को देखते हुए उस समय त्यागपत्र दे दिया जब विधानसभा का सत्र चल रहा था। विपक्षी दल " प्रगति पार्टी" ने श्री बीजू पटनायक के नेतृत्व में 72 सदस्यों के समर्थन का दावा प्रस्तुत किया। इसको विधानसभा के स्पीकर ने प्रमाणित किया था तथा इसकी सूचना विधानसभा के सचिव ने राज्यपाल श्री बी.डी. जत्ती को दीथी। प्रगति पार्टी को सदन में बहुमत प्राप्त था, यह बात इससे भी प्रमाणित होती थी कि प्रगति पार्टी के उम्मीदवार श्री देवानन्द 1 मार्च, 1973 को राज्यसभा के लिये कांग्रेस उम्मीदवार के विरूद्ध 60 की तुलना में 77 मतों से विजयी घोषित हुए थे।

इन सभी तथ्यों की उपेक्षा करते हुए श्री जत्ती ने प्रगति पार्टी को सरकार बनाने का अवसर प्रदान नहीं किया। इसके स्थान पर श्रीमती सत्यपथी की सिफारिश को स्वीकार करते हुए अनुच्छेउ 356 के अधीन राज्य में राष्ट्रपति शासन की संस्तुति कर दी तथा 5 मार्च, 1973 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया।

श्री पटनायक और उनके साथियों ने उड़ीसा उच्च न्यायालय में याचिका दायर की। उच्च न्यायलय ने याचिका को खारिज कर दिया परन्तु राज्यपाल के कृत्य की आलोचना की।

---

1. एशियनम रिकार्डर, 11 जून - 17 जून, 1971, पृष्ठ 10204

2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स (दिल्ली) 12 जनवरी, 1971

यह मामला बहुत महत्वपूर्ण है जिसे न्यायालय में प्रस्तुत किया गया था और जिसमें राज्यपाल को संसदीय परम्पराओं को न मानने का दोषी ठहराया गया था। राज्यपाल द्वारा 72 सदस्यों के दावे का परीक्षण किया गया था जबकि 25 सदस्य सत्ता से अलग हो गये थे। राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में यह भी लिखा था कि 72 सदस्यों में से 2 सदस्य कुछ ही घन्टों बाद दल से अलग हो गये थे। राज्यपाल सभी सम्भावनाओं पर विचार करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वर्तमान में बहुमत का दावा करने वाले दल भी बहुत लम्बे समय तक स्थिर सरकार नहीं दे सकते। इस आधार पर राज्यपाल ने विपक्षी दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया। इस प्रकार विपक्षी दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किये जाने की कार्यवाही इस आधार पर नहीं हुई कि उसे बहुमत का समर्थन नहीं प्राप्त है वरन् उनको यह भी अन्देशा था कि सरकार बहुत दिनों तक बहुमत नही कायम रख सकेगी। ग्रेट ब्रिटेन में जो संसदीय परम्परा कायम है, राज्यपाल का निर्णय उसके विपरीत था एवं उसका पालन राज्यपाल द्वारा नहीं किया गया।[1] श्रीमती सत्यपथी, जिन्होंने बहुमत का समर्थन खो देने के पश्चात् त्यागपत्र दे दिया था एवं विपक्षी दलों ने सरकार बनाने का दावा किया था। यदि राज्यपाल को विपक्ष के समर्थन के बारे में संदेह था तो उन्हें उसकी जांच सदन में प्रत्यक्ष रूप से करानी चाहिए थी जो कि उस समय सत्र में थी।

इसी प्रकार का मामला 1967 में पश्चिम बंगाल में हुआ था। राज्यपाल ने श्री अजय मुखर्जी मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया था। वास्तव में राज्यपाल के लिए उचित यह है कि वह विपक्षी दलों को सरकार के गठन का अवसर दे और जब विपक्षी सरकार गिर जाए तो राष्ट्रपति शासन लागू करने का उचित फैसला ले सकता है, क्योंकि तब दूसरा कोई दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं होता है।

तमिलनाडू की डी.एम. के. सरकार 31 जनवरी, 1976 को बर्खास्त की गयी और राष्ट्रपति शासन लागू करके विधानसभा भंग कर दी गयी। राज्यपाल के.के. शाह ने राष्ट्रपति को प्रेषित अपनी रिपोर्ट में कहा कि राज्य के घटनाक्रम कुछ समय से उनके लिये गम्भीर चिन्ता के विषय बन रहे थे। राष्ट्रपति शासन की सिफरिश के पश्चात् उन्होंने कहा कि यदि राज्य सरकार को और अधिक समय तक

---

1. विजयानन्द पटनायक बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1974, उड़ीसा-521

कार्यरत रहने दिया जाता तो यह प्रजातांत्रिक मानकों और प्रजातांत्रिक कार्यप्रणाली को गम्भीर संकट में डाल देती। राज्यपाल ने उच्च सत्ता प्राप्त आयोग के गठन का भी सुझाव दिया जो मंत्रिमंडल व मंत्रियों पर लगे आरोपों की जांच करे। फरवरी 1976 में एक सदस्यीय आयोग उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश श्री आर.एस. सरकारिया की अध्यक्षता में गठित हुआ।[1] बर्खास्तगी के समय करूणानिधि को पूर्ण बहुमत प्राप्त था और विधानसभा का कार्यकाल 49 दिन बाद 21 मार्च, 1976 को समाप्त हो रहा था।

वास्तव में करूणानिधि सरकार की बर्खास्तगी के पीछे एक कारण यह भी था कि 1971 में श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस पार्टी के साथ विधानसभा चुनाव में तालमेल करने से करूणानिधि ने इन्कार कर दिया था, तथा कांग्रेस हाईकमान इस तथ्य को भूला नही था।

यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि भ्रष्टाचार व कुप्रशासन के आरोपों से धिरी सरकार को बर्खास्त करने का अधिकार राज्यपाल या केन्द्र को है तो पूर्व में ऐसे उदाहरण है जब राज्यपाल ने मुख्यमंत्रियों को इस आधार पर पदच्युत नहीं किया। उदाहरणार्थ उड़ीसा में बीरेन मित्रा और पंजाब में प्रताप सिंह कैरों ने प्रधानमंत्री की सलाह पर ही त्यागपत्र दिया। 1982 में अब्दुल रहमान अन्तुले ने भी प्रधानमंत्री के कहने पर त्यागपत्र दिया परन्तु राजस्थान में सुखाड़िया ने न्यायालय की निंदा के उपरान्त न तो त्यागपत्र दिया और न ही उन्हें बर्खास्त किया गया।

भ्रष्टाचार व पक्षपात के आरोप जांच समिति या न्यायालय द्वारा सत्य सिद्ध करने के पश्चात् ही राज्यपाल द्वारा ऐसी कार्यवाही करना उचित होता है। इस मामले में यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दिसम्बर 1972 में डी.एम.के. सरकार के विरूद्ध, एम.जी. रामचन्द्रन ने ऐसे ही आरोप लगाये थे,[2] परन्तु तब केन्द्र सकार ने उनकी उपेक्षा कर दी थी, क्योंकि उस समय ऐसी कार्यवाही उनके राजनीतिक हित की दृष्टि से उचित नहीं थी। केवल गैर कांग्रेसी सरकार पर ही प्रहार नहीं हुआ अपितु कांग्रेस पार्टी नें अपनी ही सरकार के विरूद्ध भी इस धारा का प्रयोग किया। ऐसा हाईकमान की इच्छा पर राज्य में मुख्यमंत्री को बदलना था।

---

1. एशियन रिकार्डर, 26 फरवरी- 3 मार्च, 1976, पृष्ठ 13041-42
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 17 दिसम्बर, 1972

1975 में उत्तर प्रदेश में मुख्यमंत्री श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा थे। हाईकमान के निर्देश पर उन्होंने अपना त्यागपत्र दे दिया, लेकिन नेता पद का कलह न सुलझ पाने के कारण, राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की संस्तुति की जबकि विधानसभा को निलम्बित रखा गया था। 29 नवम्बर, 1975 को लगाया गया राष्ट्रपति शासन 12 जनवरी , 1976 को हटा लिया गया एवं श्री नारायण दत्त तिवारी मुख्यमंत्री बनाये गये। केन्द्रीय गृहमंत्री ने इस कार्यवाही को उचित ठहराया क्योंकि उनका विचार था कि आंतरिक गड़बड़ियों को ठीक करने, जिसमें दल के नेता पद का चुनाव भी था, के लिए यह कार्यवाही की गयी थी।[1]

उड़ीसा में 16 दिसम्बर, 1976 को मुख्यमंत्री श्रीमती नन्दनी सत्पथी ने त्यागपत्र दे दिया। राष्ट्रपति शासन केवल 13 दिनों पश्चात् ही उठा लिया गया, जब श्री विनायक आचार्य को उनके स्थान पर मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया।[2]

आन्ध्र प्रदेश में जनवरी 1973 में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया और दिसम्बर 1973 में इसे समाप्त कर दिया गया, जब कांग्रेस ने अपने नये नेता, जे.बी.राव का निर्वाचन कर लिया। इससे पूर्व 1970 में ब्रह्मानन्द रेड्डी व उनके पश्चात् पी.वी.नरसिंहाराव ने केन्द्र के इशारे पर मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया था। श्री नरसिंहाराव के स्थान पर नये नेता के चुनाव के लिये केन्द्र सरकार अधिक समय चाहती थी, इसलिये राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।[3]

गुजरात में 1973 में चिमन भाई पटेल नये कांग्रेसी मुख्यमंत्री बने परन्तु विपरीत परिस्थितियों के फलस्वरूप उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा और राज्य में 9 फरवरी, 1974 को राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। कांग्रेस ने पुनः सत्ता में वापसी के उद्देश्य से विधानसभा को निलम्बित रखा, परन्तु विधायकों द्वारा त्यागपत्र देना प्रारम्भ कर दिया गया। कांग्रेस ने श्री पटेल से राज्य विधान मण्डल दल के नेता पद से त्यागपत्र देने को कहा परन्तु श्री पटेल ने न केवल नेता पद से वरन् कांग्रेस दल से भी त्यागपत्र दे दिया।

---

1. सती साहनी- सेन्टर स्टेट रिलेशन्स में उद्धृत कर्नाटक श्वेत पत्र, पृष्ठ- 286
2. सती साहनी- पूर्वोधृत, पृष्ठ- 286
3. राजीव धवन- प्रेसीडेन्ट रूल्स इन स्टे्टस, पृष्ठ 80

अन्त में, सत्ता वापसी की कोई आशा न रहने पर विधानसभा भंग कर दी गयी और निर्वाचन के पश्चात् जून 1975 में कांग्रेस की सत्ता में वापसी के पश्चात् राष्ट्रपति शासन समाप्त हुआ।[1]

इस प्रकार राज्य में नेतृत्व परिवर्तन करने के लिये केन्द्र ने राज्यपाल के माध्यम से अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग किया। उपरोक्त सभी मामलों में केन्द्र व राज्य दोनों ही स्तर पर कांग्रेस् सत्तारूढ़ थी। परन्तु कर्नाटक में 10 अक्टुबर, 1990 को राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गयी और विधानसभा को निलम्बित रखा गया। उस समय राज्य में कांग्रेस (आई) सरकार सत्तारूढ़ थी जबकि केन्द्र में जनता दल के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार थी। कांग्रेस अध्यक्ष श्री राजीव गांधी व मुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्र पाटिल के मध्य मतभेद हो जाने के कारण राज्य में राजनीतिक असंमजसता व्याप्त हो गयी थी, जिसका राजनीतिक लाभ केन्द्र सरकार उठाना चाहती थी, अत: राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। अन्तत: राजनीतिक दबाव के कारण केन्द्र अपने इरादों में सफल न हो सकी और कांग्रेस (आई) ने अपना नया नेता चुन लिया। 17 अक्टुबर, 1990 को राज्य में राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया।

1977 का वर्ष भारतीय राजनीति में बहुत महत्व रखता है, क्योंकि पहली बार केन्द्र में कांग्रेस के अलावा कोई अन्य दल सत्तारूढ़ हुआ था जबकि मार्च 1977 में लोकसभा के लिये हुये चुनावों के पश्चात् जनता पार्टी के केन्द्र में मंत्रिमण्डल का गठन किया था। वास्तव में यह परिवर्तन किसी विचारधारा के आधार पर नहीं हुआ था, वरन् जनता के उस आक्रोश का प्रतिफल था जो कि 1975 में देश में लगाये गये आपात काल के दौरान उभरे थे।[2]

वास्तव में, यह परिवर्तन इस बात का सूचक था कि जनता पार्टी इन गल्तियों को नहीं दोहरायेगी, जो कि कांग्रेस सरकार करती आ रही थी। लेकिन जैसा कि बंगाली में एक कहावत है कि

---

1. राजीव धवन- प्रेसीडेन्ट रूल्स इन स्ट्टेस, पृष्ठ 80
2. 1975 में आंतरिक अशांति के आधार पर लगाये गये आपातकाल के कारण कांग्रेस पार्टी के विरुद्ध भयंकर जनाक्रोश फैल गया था, 1977 के चुनावों में जनतापार्टी की विजय कांग्रेस के विरुद्ध लोगों के इसी आक्रोश का परिणाम थी।

'जो भी व्यक्ति लंका जाता है वह रावण बन जाता है',[1] यह कहावत भारतीय राजनीति में शत-प्रतिशत लागू होती है। 1977 में, सत्ता में आते ही राज्यों की कांग्रेसी सरकारों को इस आधार पर बर्खास्त कर दिया गया कि उन्हें मतदाताओं का विश्वास नहीं प्राप्त हैं। जबकि सत्ता से बाहर रहते हुए जनता पार्टी के नेताओं द्वारा अनुच्छेद 356 के प्रयोग पर कड़ी आपत्ति प्रकट की गयी थी। परन्तु सत्ता प्राप्त करते ही जनता पार्टी ने कांग्रेसी नीति का अनुसरण किया, जबकि बहुमत प्राप्त राज्य सरकारों को गलत तर्क के आधार पर बर्खास्त कर दिया और एक ऐसी गलत परम्परा की शुरूआत की, जिसकी पुनरावृत्ति 1980 में की गयी जबकि कांग्रेस के पुनः सत्ता में आते ही जनता पार्टी की सरकारों को बर्खास्त किया गया।

मार्च 1977 में सत्ता में आते ही केन्द्रीय गृहमंत्री श्री चरण सिंह ने यह महसूस किया कि कांग्रेस शासित नौ राज्यों की सरकारों ने जनता का विश्वास खो दिया है।[2] अतः उन्हें पुनः चुनावों के माध्यम से नया जनादेश प्राप्त करना चाहिए। 18 अप्रैल, 1977 को उन्होंने सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखकर उन्हें यह सलाह दी कि "हाल के लोक सभा चुनावों में विभिन्न राज्यों के सत्ताधारी पार्टी के उम्मीदवारों की हार के कारण अत्यधिक अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गयी, जो गंभीर चिन्ता का विषय है। जिसके कारण राज्य में कानून और व्यवस्था को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है।" अतः उन्होंने सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों को सलाह दी कि वे अपने - अपने राज्य के राज्यपालों को अनुच्छेद 174 (ख) के अन्तर्गत प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुये विधान सभा भंग करने और निर्वाचकों से नया आदेश मांगने की सिफारिश करना चाहिए।[3] 22 अप्रैल, 1977 को केन्द्रीय विधि मंत्री श्री शांतिभूषण ने अपने रेडियो प्रसारण में यह स्पष्ट किया कि श्री चरण सिंह द्वारा दी गयी सलाह मात्र दोस्ताना नहीं है वरन् एक निर्देश है।

---

1. यह कथन परिश्चम बंगाल के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री सिद्धार्थ शंकर राय द्वारा श्री चरण सिंह द्वारा दी गयी सलाह पर कहा गया था।
2. जिन राज्यों के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया गया था वे राज्य थे- (1) राजस्थान (2) उत्तर प्रदेश (3) बिहार (4) हरियाणा (5) मध्य प्रदेश (6) उड़ीसा (7) हिमाचल प्रदेश (8) पंजाब (9) पश्चिम बंगाल।
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 20 अप्रैल, 1977

गृहमंत्री श्री चरण सिंह द्वारा दी गयी सलाह को कांग्रेस कार्य समिति ने मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने गृहमंत्री के उस तर्क को कि इन राज्यों की सरकारों की लोकसभा चुनावों में हार मतदाताओं के अविश्वास का सूचक है, विचित्र करार दिया। उनका विचार था कि यदि इस तर्क को मान भी लिया जाये तो क्या तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक तथा आन्ध्रप्रदेश के लोगों द्वारा जो भारी मत दिया गया है, उससे क्या यह स्पष्ट होता है कि उन राज्यों से चुने गये जनतापार्टी के सांसदों को संसद में नहीं बैठना चाहिए अथवा केन्द्रीय मंत्रिपरिषद में नहीं सम्मिलित होना चाहिए। इस प्रकार कांग्रेस कार्य समिति ने अपने सभी मुख्यमंत्रियों को गृहमंत्री की सलाह को अस्वीकार करने का निर्देश जारी किया।[1]

कांग्रेस (आई) कार्य समिति के निर्देश पर सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने श्री चरण सिंह की सलाह को मानने से इन्कार कर दिया और गृहमंत्री की सलाह को असंवैधानिक घोषित किया। संघ सरकार की संभावित कार्यवाही के खिलाफ उच्चतम न्यायालय में अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत याचिका दायक कर दी।[2] इन राज्य सरकारों ने उच्चतम न्यायालय से गृहमंत्री के पत्र को असंवैधानिक, गैर कानूनी और अधिकार क्षेत्र से बाहर घोषित करने की प्रार्थना की। साथ ही अपनी याचिका में इस बात का भी निवेदन किया था कि न्यायालय संघ सरकार के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत कार्यवाही करने से रोकने के लिए निषेधाज्ञा जारी करे जिससे विधान सभाओं को उनकी नियत अवधि समाप्त होने से पूर्व भंग करने से रोका जा सके।

कांग्रेसी राज्य सरकारों द्वारा दायर याचिका को दृष्टि में रखते हुए केन्द्र सरकार ने तीन आपत्तियाँ उठायीं :-

(1) अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

---

1. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 21 अप्रैल 1977

2. स्टेट ऑफ राजस्थान बनाम भारत संघ, ए.आई.आर, 1977, एस. सी. 1361 पैरा 22

(2) अनुच्छेद 356 को लागू करने के लिए जिन परिस्थितियों का होना आवश्यक है उसका स्वरूप न्यायालय के विचारयोग्य नहीं है और अनुच्छेद के खण्ड (5) में भी उन स्थितियों को न्यायालय के विचार के आयोग्य कर दिया गया है।[1]

(3) मुकदमा और रिट याचिका समय से पूर्व ही दाखिल कर दी गयी है और जिस प्रक्रिया को चुनौती दी गयी है वैसी कार्यवाही की जा सकती है और नहीं भी की जा सकती है।

न्यायालय ने प्रारम्भिक आधार पर ही मुकदमा खारिज कर दिया। मुख्य न्यायाधीश श्री बेग की अध्यक्षता वाली संवैधानिक पीठ ने अपने निर्णय में कहा कि वादियों के पास मुकदमा चलाने का कोई अधिकार नहीं है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत राज्यों के अधिकारों के अपहरण के मामले आ सकते हैं, मंत्रियों और विधायकों के अधिकारों के मामले नहीं। राज्यों के अधिकार व उसकी सरकार के अधिकार दोनों पृथक-पृथक हैं। मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने या राज्य विधान सभा भंग होने के बाद भी राज्य बना रह सकता है।

सभी न्यायाधीश इस बात से सहमत थे कि उक्त मामले का न्यायिक पुनरावलोकन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह मामला राजनीतिक है जिसके संबंध में राष्ट्रपति के व्यक्तिगत रूप में सन्तुष्ट होने को अंतिम निर्णय माना जा सकता है।[2] क्योंकि अनुच्छेद 356 के खण्ड (5) के न्यायालय के अधिकार वर्णन को देखते हुए भी यह न्यायालय के विचार योग्य नहीं है।[3]

लेकिन न्यायालय ने अपने निर्णय में यह स्वीकार किया कि राष्ट्रपति की संतुष्टि न्यायालय की विषय परिधि में केवल उन्हीं स्थितियों में आती है जबकि प्रश्न वास्तव में दुर्भावनापूर्ण और संविधान द्वारा निर्धारित की गयी विषय सीमा से बाहर असंभव आधारों पर आधारित हो, लेकिन उपरोक्त मामले

---

1. सरकारिया आयोग रिपोर्ट, भाग-I पृष्ठ 161-162
2. टाइम्स ऑफ इण्डिया, 8 मई, 1978
3. 42 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 356 में खण्ड (5) को अन्त: स्थापित किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गयी थी कि राष्ट्रपति का समाधान अंतिम और निश्चायक है और किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता।- डी. डी. बसु 'भारत का संविधान - एक परिचय'-पृष्ठ 324

को न्यायालय ने आपवादिक श्रेणी का नहीं माना। न्यायालय ने माना कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार द्वारा विधान सभाओं को भंग करने का प्रयोग संविधान सम्मत है। न्यायालय इसमें तब तक हस्तक्षेप नहीं कर सकता जब तक इस उपबन्ध को विशिष्ट परिस्थितियों में इस प्रकार नहीं लागू किया गया हो कि वह अनुचित तथा विकृत हो। सभी न्यायाधीश इस बात पर एकमत थे कि राष्ट्रपति मंत्रिमंडल की सलाह से बंधा हुआ है और केन्द्र सरकार को बिना राज्यपाल की रिपोर्ट के अन्य कारणों से यह समाधान हो जाता है कि राज्य सरकारों को संविधान के अनुसार चलाना सम्भव नहीं है तो वह राष्ट्रपति को राज्य सरकारों को बर्खास्त करने की सलाह दे सकता है। परन्तु 1992 के अपने एक निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही फैसले को उलटते हुये अनुच्छेद 356 को लागू करने के लिये राज्यपाल द्वारा प्रेषित लिखित रिपोर्ट आवश्यक बतायी है।[1]

न्यायालय का निर्णय आने के पश्चात् केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने 29 अप्रैल की बैठक में राष्ट्रपति को संबंधित राज्यों की विधान सभा भंग करने की सलाह देने का निर्णय किया। कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बी. डी. जत्ती ने कुछ समय की मांग की और विस्तृत विवरण माँगा कि क्या पूर्व में राज्यपाल की रिपोर्ट के बिना इस प्रकार की कार्यवाही हुई है। 30 अप्रैल को मंत्रिमंडल की बैठक के पश्चात् गृहमंत्री व विधि मंत्री ने राष्ट्रपति को बताया कि उनके पास उद्घोषणा पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है और प्रधानमंत्री ने मंत्रिमण्डलीय सचिव (कैबिनेट सेक्रेटरी) के माध्यम से पत्र भेजकर राष्ट्रपति को उनकी संवैधानिक स्थिति व कर्त्तव्यों का स्मरण कराया। तत्पश्चात् नौ राज्यों में विधान सभा भंग करने की उद्घोषणा पर हस्ताक्षर हुए।[2]

इसी प्रकार की स्थिति पुनः 1980 में उपस्थित हुयी जबकि लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में जनता पार्टी बुरी तरह पराजित हुयी। जिस तर्क के आधार पर जनता पार्टी ने नौ राज्यों की सरकारों को बर्खास्त किया था, उसी तर्क के आधार पर कांग्रेस पार्टी ने भी नौ राज्यों [3] की सरकारों को बर्खास्त कर

---

1. एस० आर० बोम्मई बनाम भारत संघ ए. आई. आर. 1994, एस. सी. पृष्ठ 2113 पैरा 365
2. एन. एस. गहलौत - स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया ट्रेण्डस एण्ड इश्यूस, पृष्ठ - 288
3. ये राज्य थे - (1) पंजाब (2) राजस्थान (3) उड़ीसा (4) मध्य प्रदेश (5) उत्तर प्रदेश (6) महाराष्ट्र (7)

दिया इस पर केन्द्र की कार्यवाही का कड़ा विरोध नहीं हुआ, कारण यह था कि एक तो जनता पार्टी के तर्कों को अपनाया गया था और दूसरा न्यायालय ने भी अपने निर्णय द्वारा 1977 की कार्यवाही को पुष्टि कर दी थी। राजस्थान के मामले में न्यायाधीशों का विचार था कि जहाँ सत्तारूढ़ दल को लोकसभा के चुनावों में एक भी स्थान प्राप्त नहीं होता है, वहाँ यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि राज्य की सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सकती क्योंकि संविधान में लोगों की सहमति पर आधारित लोकतांत्रिक सरकार की कल्पना की गई है। उन्होंने यह भी कहा कि किसी राज्य में लोक सभा के निर्वाचन में सत्तारुढ़ दल के हार जाने से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि राज्य की सरकार संवधिान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती।

इससे यह आशय निकलता है कि जहाँ हार पूरी नहीं हुई है वहाँ न्यायालय सम्भवत: इस आधार पर हस्तक्षेप कर सकता है कि शक्ति का प्रयोग दुर्भावनापूर्ण ढंग से किया गया था। लेकिन न्यायाधीशों का विचार था कि इस हार का परिणाम क्या होगा यह देखने का कार्य, कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र में आता है, न्यायालयों के नहीं। इस प्रकार 1980 में कार्यवाही करने के लिए राजस्थान का निर्णय सहायक सिद्ध हुआ था। लेकिन वास्तव में ऐसा सोचना गलत था, क्योंकि यह निर्णय 42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 356 में खण्ड (5) के अन्त: स्थापित हो जाने के तथ्य से प्रभावित था।[1] लेकिन 44 वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा खण्ड (5) को लोप कर दिया गया था।[2] अत: यदि मामले को न्यायालय के विचार के लिए लाया जाता तो निश्चय ही न्यायालय राष्ट्रपति की संतुष्टि के मामले का न्यायिक पुनरावलोकन कर सकता था। वास्तव में यह कार्यवाही बदला लेने की भावना से की गयी थी।

1977 का 1980 के मामले में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि ससंद में भिन्न दल बहुमत प्राप्त करता है तो वह राज्यों में अन्य दलों के मंत्रिमंडलों को शासन से दूर रखने की चेष्टा करता है ।

बिहार (8) तमिलनाडु (9) गुजरात।

1. 42 वें संशोधन द्वारा यह कहा गया था कि राष्ट्रपति का समाधान अंतिम और निश्चायक है और किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जायेगा।

2. डी. डी. बसु- 'भारत का संविधान' - एक परिचय, पृष्ठ 323-324

सघीय संविधान में, केन्द्र और राज्यों में परस्पर विरोधी दलों के आने की संभावना बनी रहती है[1] और यदि एक दल को संसद में बहुमत प्राप्त हो जाता है तो उसे उन परिणामों को आधार बना कर कार्यवाही करने से बचना चाहिए । लोक सभा निर्वाचन राष्ट्रीय मुद्दों पर लड़े जाते हैं और विधान सभा निर्वाचन स्थानीय हितों के मुद्दों पर लड़े जाते हैं। अतएव एक निर्वाचन के परिणामों को दूसरे पर नहीं थोपा जा सकता है ।

इस प्रकार राज्यपाल की रिपोर्ट के बिना केन्द्र ने 18 राज्यों में हस्तक्षेप मात्र राजनीतिक कारणों से किया था । सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के फलस्वरूप अब राज्यपाल द्वारा प्रेषित लिखित रिपोर्ट के बिना अनुच्छेद 356 का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा[2] और राजनीतिक दुर्भावना के फलस्वरूप व्यापक स्तर पर की गई उपरोक्त कार्यवाहीयों की पुनरावृत्ति की संभावना क्षीण लगती है ।

केन्द्र में जनता पार्टी सरकार के संक्षिप्त कार्यकाल (मार्च 1977 – जुलाई 1979) में भी राज्यपाल के अलंकारिक पद का केन्द्र की सत्तारूढ़ दल के हित में दुरूपयोग किया गया । 1977 में कांग्रेस में दूसरी बार विघटन हुआ और कर्नाटक के मुख्यमंत्री देवराज अर्स ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में विश्वास व्यक्त किया । 28 दिसम्बर, 1977 को कांग्रेस सरकार को बर्खास्त कर दिया गया, यद्यपि मुख्यमंत्री विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिये तैयार थे। राज्यपाल गोविन्द नारायण ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की और विधान सभा भंग कर दी।[3] राज्यपाल ने यह कार्यवाही जनता पार्टी और कांग्रेस पार्टी (इन्दिरा - विरोधी) विधायकों की मांग पर की । राज्यपाल ने केन्द्र की जनता सरकार को खुश करने की अति उत्सुक्ता में केवल छह दिन का इन्तजार करना भी आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि विधान सभा सत्र का प्रारम्भ 3 जनवरी, 1978 से होने वाला था एवं सरकार के भविष्य का निर्धारण आसानी से विधानसभा में किया जा सकता था। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारत के पूर्व रक्षा सचिव गोविन्द नारायण की राज्यपाल पद पर नियुक्ति जनता पार्टी

---

1. श्री आर. वेंकटरमन – माई प्रेसीडैन्शियल ईयर्स, पृष्ठ 463
2. बोम्मई बनाम भारत संघ , ए. आई. आर. 1994, एस.सी. 2113
3. एशियन रिकार्डर, 29 जनवरी – 4 फरवरी 1978 पृष्ठ 14145

के केन्द्र में सत्तारूढ़ होने पर की गयी थी । राज्यपाल ने बहुमत प्राप्त सरकार को बर्खास्त किया, इसे इस तथ्य से भी बल मिलता है कि फरवरी 1978 में विधान सभा चुनावों में श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस (आई) पार्टी को कर्नाटक विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ ।

असम में, 1983 के पूर्व के तीन वर्षों में विपक्ष को जान बूझ कर बार-बार सरकार बनाने के अधिकार से वंचित रखा जा रहा था, हालांकि उसे विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त था। यह सिद्ध हो चुका था कि कांग्रेस (आई) का बहुमत प्राप्त करने का दावा हर बार झूठा था, परन्तु सभी राज्यपालों ने इस सम्बन्ध में कार्यवाही करने में पक्षपात किया ।

असम में राष्ट्रपति शासन के समाप्त होने की अवधि 12 दिसम्बर, 1980 थी । लगभग एक माह पूर्व 17 नवम्बर, 1980 को केन्द्रीय गृहमंत्री जैल सिंह ने लोक सभा में यह दावा किया कि कांग्रेस (आई) को विधान सभा में बहुमत प्राप्त है और वह सरकार बनायेगी, लेकिन बहुमत होने की बात दूर रही कांग्रेस (आई) विधान मण्डल पार्टी अपना नेता चुनने की स्थिति में भी नहीं थी। यह स्थिति पार्टी में बहुत अधिक मतभेद होने के कारण थी। 3 दिसम्बर, 1980 को पार्टी ने कांग्रेस (आई) अध्यक्ष (श्रीमती इन्दिरा गांधी) को विधायक दल का नेता चुनने का प्राधिकार दिया और उनके द्वारा चुने गये नेता के प्रति अपना पूरा समर्थन व्यक्त किया।[1] तीन दिन बाद 6 दिसम्बर को राज्यपाल श्री एल.पी.सिंह ने श्रीमती अनवरा तैमूर को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई । कांग्रेस ने 118 सदस्यों में से, 52 सदस्यों के समर्थन का दावा किया, जबकि वास्तव में कांग्रेस के पास 45 सदस्य ही थे । बाद में कुछ निर्दलीय सदस्यों के समर्थन प्राप्त होने का दावा भी किया गया । विरोधी पक्ष ने भी इस पर आपत्ति उठायी, परन्तु उसको नामंजूर कर दिया गया ।[2]

श्रीमती तैमूर की सरकार बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। उन्होंने 28 जून, 1981 को त्याग पत्र दे दिया, जब कि 29 जून को होने वाली विधान सभा बैठक के ठीक एक दिन पहले पी.टी.सी.ए. ने अपना समर्थन वापस ले लिया था, किन्तु विपक्ष को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया। इसके

---

1. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 4 दिसम्बर 1980

2. सती साहनी - सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स में उद्धृत कर्नाटक श्वेत पत्र, पृष्ठ - 288

बजाय 30 जून, 1981 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया, तथा इसे 30 दिसम्बर, 1981 तक बढ़ा दिया गया । राष्ट्रपति शासन को 13 दिसम्बर को हटाया गया जब कांग्रेस (आई) सदस्य केशव चन्द्र सेन को राज्यपाल प्रकाश मेहरोत्रा द्वारा मुख्य मंत्री पद की शपथ दिलायी गयी। एक बार पुन: विपक्ष के बहुमत के दावे को अस्वीकार कर दिया गया । विपक्ष के नेता श्री शरत चन्द्र सिन्हा ने यह दावा किया कि उन्हें 65 सदस्यों का समर्थन प्राप्त है । राज्यपाल ने यह वचन दिया कि श्री गगोई के बहुमत प्राप्त होने का परीक्षण शीघ्र ही विधान सभा में करवायी जायेगी, परन्तु श्री गगोई को बहुमत सिद्ध करने के लिये 2 माह का समय दिया गया परन्तु वह ऐसा करने में असफल रहे ।[1]

17 मार्च, 1982 को विधान सभा का बजट अधिवेशन आरम्भ हुआ। वामपंथी दल और लोकतांत्रिक दल के गठबन्धन ने तुरन्त एक अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो स्वीकार कर लिया गया। इस गठबन्धन ने 65 सदस्यों के समर्थन का दावा किया जो कि सदन के 118 सदस्यों में से तथा दस दलों से लिये गये थे। 18 मार्च, को जिस दिन विधान मण्डल की बैठक होने वाली थी उससे कुछ समय पूर्व ही श्री गगोई ने मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया और विधान सभा में उपस्थित नहीं हुए । पुन: राज्यपाल श्री मेहरोत्रा ने वामपंथी और लोकतांत्रिक गठबन्धन के नेता श्री शरत चन्द्र सिन्हा को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित नहीं किया जबकि उन्हें ऐसा करना चाहिए था, विशेष रूप से तब जबकि कांग्रेस दल को पिछले तीन बार से आमंत्रित किया जा रहा था। विपक्षी गठबन्धन को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करने के स्थान पर राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की और साथ ही विधान सभा भंग कर दी । श्री गगोई की सरकार केवल 65 दिनों तक ही चली ।[2]

इन चारों अवसरों पर विपक्ष को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया था और न ही उसे विधानमण्डल में बहुमत का समर्थन प्राप्त होने की जॉंच का अवसर ही दिया गया था। अन्तत: जब कांग्रेस (आर) सरकार चलाने में असफल रही, तो राज्यपाल ने केन्द्र के इशारे पर वामपंथी और लोकतांत्रिक गठबंधन को शासन करने की अनुमति न देकर उसे सीधे केन्द्रीय शासन के अधीन कर दिया।

---

1. सती साहनी, पूर्वोधृत, पृष्ठ 289

2. सत्ती साहनी, पूर्वोधृत - पृष्ठ 289

20 अक्टूबर , 1981 को केरल की सी.पी.आई.(एम) के नेतृत्व वाली गठबन्धन सरकार का पतन हो गया, जब केरल कांग्रेस (मणिग्रुप) ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया । केरल में थोड़े समय के लिये राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया और विधान सभा को निलम्बित रखा गया ताकि कांग्रेस (आई) के नेतृत्व वाली दूसरी गठबन्धन सरकार को सत्तारूढ़ किया जा सके । 26 दिसम्बर, 1981 को राष्ट्रपति शासन समाप्त हुआ और कांग्रेस (आई) के नेता के. करूणाकरन के नेतृत्व में 'यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट' सरकार का गठन हुआ । करूणाकरण सरकार को सदन में पराजय से बचाने के लिए स्पीकर को निर्णायक मत देना पड़ा । 19 मार्च, 1982 को होने वाले बजट सत्र के तीन दिन पूर्व करूणाकरण सरकार ने त्यागपत्र दे दिया और 17 मार्च को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । इससे यह दृष्टिगोचर होता है कि राज्यपाल ने करूणाकरण को सरकार गठित करने हेतु आमंत्रित करने से पहले उनके समर्थन के तथ्यात्मक प्रमाणों का आकलन नहीं किया था । असम की भाँति केरल में भी विपक्ष को वैकल्पिक सरकार गठित करने का अवसर नहीं दिया गया और सरकार के त्याग पत्र देने के कुछ घन्टों पश्चात ही विधान सभा भंग कर दी गयी ।[1]

सिक्किम में राज्यपाल होमी तलयार खान और मुख्यमंत्री श्री नर बहादुर भंडारी के मध्य दूरी बढ़ती जा रही थी और उनके मध्य सम्बन्ध कटुता की चरम सीमा पर पहुँच गये थे । 29 अगस्त, 1983 को भण्डारी ने राज्यपाल के विरूद्ध शिकायत व उनकी बर्खास्तगी हेतु एक ज्ञापन प्रधानमंत्री को दिया । मुख्यमंत्री का आरोप था कि राज्यपाल असन्तुष्ट विधायकों के साथ मिलकर उनकी सरकार को गिराने का षडयन्त्र कर रहे हैं, राज्य में साम्प्रदायिक राजनीति के खतरनाक खेल में स्वयं को लिप्त कर रहे हैं और नौकरशाहों को उनके तथा उनके सहयोगियों के विरूद्ध भड़का रहे हैं ।[2] केन्द्र ने इन आरोपों की उपेक्षा की क्योंकि केन्द्रीय हाई कमान स्वयं मुख्यमंत्री से असन्तुष्ट था। मुख्यमंत्री ने दल के हाई कमान के निर्देशों पर कार्य करने से मना कर दिया था और उनकी 30,000 'राज्यविहीन' लोगों को नागरिकता देने और नेपाली लोगों के लिये 12 स्थानों की आरक्षण की मांग से केन्द्र अप्रसन्न था। श्री

---

1. सिबरंजन चैटर्जी - गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ठ 201-202

2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया , 31 अगस्त, 1983

भण्डारी ने इन मांगों के पूरा न होने पर, होने वाले विधान सभा चुनावों में कांग्रेस (आई) के भाग न लेने की धमकी भी दी थी।[1] यह सत्य है कि केन्द्र सरकार द्वारा मांगों को स्वीकृत करना सम्भवन नहीं था परन्तु केन्द्रीय सरकार ने दल में उत्पन्न इस आन्तरिक कलह को दूर करने के लिये राज्यपाल को माध्यम बनाया और भण्डारी की बहुमत प्राप्त सरकार को 11 मई, 1984 को बर्खास्त करके बी.बी.गुरूंग को मुख्यमंत्री पद प्रदान किया। परन्तु गुरूंग सरकार को 25 मई, 1984 को त्याग पत्र देना पड़ा क्योंकि 28 कांग्रेस (आई) विधायकों में से 17 ने दल की सदस्यता छोड़कर नये दल, 'सिक्किम संग्राम परिषद' का गठन किया जिसका नेतृत्व बर्खास्त मुख्यमंत्री भंडारी कर रहे थे । उसी दिन विधानसभा भंग कर दी गयी और राष्ट्रपति शासन लागू हुआ, यद्यपि भण्डारी ने 32 सदस्यों के सदन में 18 सदस्यों के बहुमत के समर्थन का दावा करते हुए अपने दल को बहुमत सिद्ध करने का अवसर प्रदान करने की मांग कर रहे थे।[2]

कर्नाटक में 21 अप्रैल, 1989 को राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की गयी थी, जबकि राज्यपाल श्री पी. वेंकेट सुबैया ने केन्द्र सरकार को रिपोर्ट प्रेषित कर 8 माह पुरानी एस. आर. बोम्मई सरकार के अल्पमत में आने की सूचना दी थी। साथ ही उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह भी कहा था कि राज्य में किसी अन्य दल की सरकार बनने की कोई सम्भावना नहीं है ।[3]

राज्यपाल द्वारा भेजी गयी रिपोर्ट पर मंत्रिमण्डल द्वारा विचार विमर्श के पश्चात राज्य विधान सभा भंग कर राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा कर दी गयी थी, जबकि सत्यता यह थी कि उद्घेषणा के समय सत्तारूढ़ जनता पार्टी बहुमत प्राप्त दल था और मुख्यमंत्री श्री बोम्मई ने राज्यपाल से विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिये जाने का अनुरोध किया था। इसके बावजूद राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा कर दी गयी थी।[4]

---

1. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 12 मई, 1984
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 26 मई, 1984
3. एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1994 एस. सी. 2095
4. पायनियर, (लखनऊ) 13 मई, 1994

इससे पूर्व 30 अगस्त, 1988 को श्री बोम्मई ने पूर्व मुख्य मंत्री श्री रामकृष्ण हेगड़े के त्याग पत्र के बाद पद ग्रहण किया था।[1] लेकिन श्री बोम्मई द्वारा अपना पद ग्रहण करने के कुछ दिनों बाद पार्टी में असंतोष उभरने लगा था जबकि सितम्बर 1988, में जनता पार्टी विधायक दल के 139 सदस्यों में 27 तो जनता पार्टी में बने रहे लेकिन शेष 112 सदस्यों ने (जिसमें स्पीकर भी शामिल थे) पृथक जनता दल का गठन किया।[2]

इसके तुरंत बाद ही जनता दल के एक विधायक श्री के. आर. मोलंकारी ने राज्यपाल को पत्र भेजकर सरकार से समर्थन वापस लेने की सूचना दी। दूसरे दिन उन्होंने राज्यपाल को 19 पत्र सौंपे, जिनमें से 17 जनता दल विधायकों के व एक-एक भाजपा व निर्दलीय विधायकों के थे। अपने हस्ताक्षर युक्त पत्रों में उन विधायकों ने राज्य मंत्रिमंडल से अपना समर्थन वापस लेने का उल्लेख किया था।

राज्यपाल श्री के सुब्बैया ने पत्रों पर किये गये विधायकों के हस्ताक्षर की पुष्टि विधान मण्डल सचिव से करायी थी। सचिव द्वारा उसकी सत्यता की पुष्टि किये जाने के बाद राज्यपाल ने केन्द्र को इस संबंध में अपनी रिपोर्ट भेजी थी, जिसमें यह कहा गया था कि मुख्यमंत्री हेगड़े के त्यागपत्र के बाद और नयी पार्टी जनता दल का गठन होने के बाद से दल में असंतोष व्याप्त हो गया है और यह 19 सदस्यों के पत्रों से और भी अधिक पुष्ट हो जाता है। इन 19 विधायकों द्वारा अपना समर्थन वापस लेने की घोषणा के बाद बोम्मई सरकार अल्पमत में आ गयी है। अतः उसे सत्ता में बने रहने का कोई संवैधानिक अधिकार नहीं है और चूंकि राज्य में कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है अतः अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाये जाने का अनुरोध करते हैं। राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट भेजने से पूर्व मुख्यमंत्री से सच्चाई जानने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से मिलकर उन्हें यह सूचित किया था कि वह सदन की बैठक बुलायें जिससे सरकार अपना बहुमत सिद्ध कर सके। लेकिन राज्यपाल ने सदन में बहुमत की जाँच की

---

1. श्री हेगड़े को अपना त्याग पत्र टेलीफोन टेप करने के आरोप के कारण देना पड़ा था।

2. राज्य में विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार से थी- जनता दल 112 कांग्रेस (आई) 65, जनता पार्टी 27, निर्दलीय-8, कम्युनिस्ट पार्टी-4, भाजपा 3, कम्युनिस्ट पार्टी (एम)-2

कोई आवश्यकता नहीं समझी जबकि किसी मंत्रिपरिषद को बहुमत का समर्थन प्राप्त है या नहीं इसकी जाँच का उपयुक्त स्थल सदन की पटल ही होता है।[1]

श्री बोम्मई और कुछ अन्य सदस्यों ने उस घोषणा की वैधता को कर्नाटक उच्च न्यायालय में चुनौती दी लेकिन न्यायालय ने याचिका को रद्द कर दिया। उच्च न्यायालय का कहना था कि राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को प्रेषित दो रिपोर्ट में अनुच्छेद 356 लागू करने के लिये आवश्यक व प्रासंगिक तथ्य थे। सदन में शक्ति परीक्षण न तो आवश्यक था और न ही बाध्यकारी था, परन्तु उच्च न्यायालय का निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा पूर्णत: गलत सिद्ध किया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने राज्यपाल की रिपोर्ट को गलत तथ्यों पर आधारित बताया। न्यायालय का विचार था कि राष्ट्रपति द्वारा की गयी उद्घोषणा में राज्य सरकार की बर्खास्तगी का कोई कारण नहीं बताया गया था। उद्घोषणा में केवल इतना कहा गया था कि राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट से सन्तुष्ट हैं कि राज्य में संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार शासन चलाया जाना संभव नहीं है।[2]

वास्तव में राज्यपाल की भूमिका उस समय और भी आपत्तिजनक हो जाती है जबकि संविधान ने उसे ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित किया है, जहाँ पर उससे निष्पक्षता की उम्मीद की जाती है। लेकिन इसके स्थान पर राज्यपाल ने विधान सभा भंग कर मंत्रिपरिषद की बर्खास्तगी में काफी शीघ्रता दिखाई, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। मेघालय में मार्च 1990 में मेघालय यूनाइटेड पार्लियामेन्टरी पार्टी (एमयू पीपी) ने श्री लिंग दोह के नेतृत्व में सरकार का गठन किया। 25 जुलाई, 1991 को तत्कालीन स्पीकर श्री केंडिया विरोधी दल-यूनाइटेड मेघालय पार्लियामेण्टरी फोरम (यू० एम पी एफ) के नेता चुने गये।[3] उन्होंने विधान सभा सदस्यों के बहुमत के समर्थन का दावा किया

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट - भाग-1 पृष्ठ 166। ऐसी ही कार्यवाही राज्यपाल जगमोहन ने जम्मू-कश्मीर में तथा आन्ध्र प्रदेश में राज्यपाल रामलाल ने की थी, जबकि वहाँ के मुख्यमंत्रियों को अपना बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिये बिना ही उन्हें बर्खास्त कर दिया गया था यद्यपि वे ऐसा करने को तैयार थे। इन राज्यों में सरकार का गठन किया गया था।
2. एस आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए. आई. आर. 1994 एस. सी. 2098
3. इस दल का नेतृत्व कांग्रेस के हाथों में था और श्री केंडिया भी कांग्रेस दल के थे।

और राज्यपाल से उन्हें सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित करने को कहा। राज्यपाल ने लिंगदोह के सदन में बहुमत सिद्ध करने को कहा। 7 अगस्त, 1991 को विशेष सत्र में विश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जिसे तीस सदस्यों ने समर्थन दिया और 27 सदस्यों ने विरोध किया परन्तु परिणाम घोषित करने से पूर्व स्पीकर ने सत्ताधारी गठबन्धन के पांच निर्दलीय सदस्यों को दल-बदल विरोधी अधिनियम के अधीन मताधिकार से निलम्बित कर दिया, जिससे सदन में अव्यवस्था फैल गई और सत्र स्थगित कर दिया गया। 17 अगस्त, 1991 को स्पीकर ने उन पाँच विधायकों के तर्कों को स्वीकार करते हुए उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया।[1]

राज्यपाल की सलाह पर मुख्यमंत्री ने 9 सितम्बर, 1991 को विश्वास मत प्राप्त करने हेतु विधान सभा सत्र आमंत्रित किया। स्पीकर ने पाँच अयोग्य घोषित सदस्यों को आमंत्रित नहीं किया तब उनमें से चार सदस्यों ने 6 सितम्बर, 1991 को उच्चतम न्यायालय की शरण ली और उच्चतम न्यायालय ने अपने अंतरिम आदेश द्वारा स्पीकर के आदेश के क्रियान्वयन पर रोक लगा दी। स्पीकर ने उच्चतम न्यायालय के आदेश को मानने से इन्कार कर दिया और उन पाँच सदस्यों को किसी भी तरह सदन में जाने से रोकने की पूरी व्यवस्था की। इस स्थिति में राज्यपाल ने 8 सितम्बर, 1991 को अधिवेशन अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया। चार विधायकों द्वारा स्पीकर के विरुद्ध अवमानना याचिका दायर की गई और 3 अक्टूबर , 1991 को उच्चतम न्यायालय ने आदेश दिया कि उसके 6 सितम्बर, 1991 के आदेश के क्रियान्वयन हेतु राज्यपाल सहित राज्य की समस्त सत्ता व्यवस्था करें। उपरोक्त आदेश के अनुरूप 8 अक्टूबर, 1991 की विधान सभा बैठक में चार निर्दलीय सदस्यों को आमंत्रित किया गया। बैठक के लिये दो प्रस्ताव थे- (1) सरकार के विश्वास मत का प्रस्ताव (2) स्पीकर के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव।

8 अक्टूबर, 1991 को स्पीकर के अलावा 56 विधायकों ने बैठक में भाग लिया। सरकार के विश्वास मत प्रस्ताव पर मतदान के पश्चात् स्पीकर ने उन चार निर्दलीय सदस्यों के प्रस्ताव के पक्ष में मत को न गिनते हुए 26-26 से प्रस्ताव पर 'टाई' की घोषणा की और अपना निर्णायक मत विश्वास

---

1. यह अयोग्यता की घोषणा कारण बताओ नोटिस के आधार पर नहीं की गयी थी।

प्रस्ताव के विरुद्ध देते हुए सरकार की पराजय की घोषणा की और सदन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जिससे कि उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास न हो सके। चार निर्दलीय सदस्यों सहित 30 सदस्य सदन में उपस्थित रहे और उन्होंने स्वयं में से नये स्पीकर का चुनाव किया जिसने विश्वास प्रताव के मतदान सम्बन्धी रिकार्ड की जाँच की और विश्वास मत के पक्ष में 30 और विपक्ष में 26 मतों का परिणाम घोषित किया। इन विधायकों ने पूर्व स्पीकर के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव को भी पास किया और इसकी सूचना राज्यपाल को दी। इस सबके बावजूद 9 अक्टूबर, 1991 को मुख्यमंत्री को राज्यपाल द्वारा पद त्याग के लिए कहा गया। मुख्यमंत्री ने तुरन्त उच्चतम न्यायालय में अपील की और उच्चतम न्यायलय ने आदेश दिया कि सरकार की विश्वास प्रस्ताव पर पराजय हुई है या नहीं इस प्रश्न का निर्धारण करते समय न्यायालय द्वारा पूर्व में दिये गये निर्णयों (6-9-1991 और 3.10.91) को ध्यान में रखते हुये यह देखा जाये कि इन चार अपीलकर्ताओं ने कैसे मत दिया है। इस आदेश के बावजूद 11 अक्टूबर, 1991 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

इस प्रकार उपरोक्त कार्यवाही में राज्यपाल ने मंत्रिपरिषद को बर्खास्त करने और विधान सभा भंग करने में अनावश्यक शीघ्रता दिखाई।[1]

नागालैण्ड विधान सभा के नवम्बर, 1987 में हुए चुनावों में कांग्रेस (आई) को 60 सदस्यीय विधान सभा में 35 स्थान प्राप्त हुए। कांग्रेस (आई) ने श्री होकिशोसेमा ने के नेतृत्व में सरकार गठित की। 28 जुलाई, 1988 को 34 कांग्रेस (आई) विधायकों[2] में से 13 ने स्वीकर को सूचित किया कि उन्होंने सत्ताधारी दल से स्वयं को अलग कर लिया है और नया दल— 'कांग्रेस रूलिंग पार्टी' का गठन किया है। स्पीकर ने उन्हें अलग दल की मान्यता दे दी। इन 13 सदस्यों में से श्री वामुजो भी एक सदस्य थे, जिन्होंने राज्यपाल के सम्मुख 59 सदस्यों के सदन में 35 सदस्यों के समर्थन का दावा किया। श्री वामुजो पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने 13 सदस्यों को कैद कर रखा है जिस पर श्री

---

1. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ 1994 के मामले में सर्वेच्च न्यायालय ने राज्यपाल की इस कार्यवाही को अवैध घोषित किया।

2. एक कांग्रेस (आई) विधायक की मृत्यु हो गई थी।

वामुजो ने जाँच करने के लिए आग्रह किया था। 6 अगस्त, 1988 को राज्यपाल ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट दी कि पिछले 25 सालों में राज्य में 11 सरकारें बनी हैं और जिन 13 सदस्यों ने स्वयं को कांग्रेस (आई) से असम्बद्ध किया है उन्हें धन का लालच दिया गया है। राज्यपाल ने कहा कि 13 सदस्यों को वामुजो और अन्य लोगों ने जबरदस्ती कैद किया हुआ है और कांग्रेस (आई) दल में विभाजन की कहानी गलत है। राज्यपाल ने स्पीकर द्वारा 13 सदस्यों को मान्यता देने को जल्दबाजी का कदम बताया। उन्होंने राजनीतिक 'अश्व व्यापार' का भी आरोप लगाया। राज्यपाल ने कुछ सदस्यों के विद्रोही संगठन से सम्बन्ध का भी आरोप लगाया और कहा कि अगर यही स्थिति बनी रहने दी गई तो राज्य की स्थिरता खतरे में पड़ जाएगी। नागालैण्ड में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया और इस कार्यवाही को भी सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध घोषित किया।

6 दिसम्बर, 1992 के अयोध्या कांड के पश्चात्, चार राज्य सरकारों को बर्खास्त किया गया और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।[1] अयोध्या कांड के पश्चात् पाँच साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबंध लगाये गये थे, उनमें से तीन किसी न किसी प्रकार भाजपा से सम्बन्ध रखते थे। वे थे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल।[2] दो मुस्लिम संगठनों पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया था। भाजपा शासित राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमांचल प्रदेश की सरकार के सदस्य चूंकि इन प्रतिबंधित संगठनों के कार्यकर्ता रह चुके थे, अतः यह आशंका व्यक्त की गयी थी, कि वे इन संगठनों पर लगे प्रतिबन्धों का पालन नहीं करेंगे।[3] इसी आशंका के आधार पर तीन राज्यों की सरकारों को बर्खास्त कर दिया गया। परन्तु यह आरोप निराधार था, क्योंकि अन्य राज्यों के समान ही इन राज्यों में भी संगठन के सदस्य रहे व्यक्तियों की गिरफ्तारी प्रारम्भ कर दी गयी थी।

---

1. ये राज्य थे उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश मध्य प्रदेश। उत्तर प्रदेश में मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने स्वतः त्याग पत्र दे दिया था। तत्पश्चात् राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।
2. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 14 दिसम्बर, 1992
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 14 दिसम्बर, 1992

दूसरा आरोप कि राज्य में हिंसा आदि बढ़ रही थी तो सबसे अधिक हिंसा गुजरात, महाराष्ट्र और असम में हुयी थी।

मध्य प्रदेश के मामले में राज्यपाल कुंवर महमूद अली ने तीन रिपोर्ट प्रेषित की थी।[1] 8 दिसम्बर को पहली रिपोर्ट में भोपाल में दंगे भड़कने के पश्चात् राज्यसरकार द्वारा उचित कदम न उठाने तथा मुख्यमंत्री सुन्दरलाल पटवा द्वारा उत्तर प्रदेश सरकार की बर्खास्तगी की आलोचना की गयी थी।[2] दूसरी रिपोर्ट भी दिसम्बर में ही प्रेषित की गयी, जिसमें पूरे राज्य में फैली हिंसा का वर्णन किया गया था। अपनी अंतिम रिपोर्ट को राज्यपाल ने स्थिति की भयावहता का उल्लेख किया। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में यह इंगित किया था कि मुख्यमंत्री ने स्वयं स्वीकार किया है कि वह आर. एस. एस. के सदस्य हैं। एक विधायक ने सार्वजनिक तौर पर स्वीकार किया था कि उसने विवादित स्थल के गिराये जाने में भाग लिया था। राज्यपाल का विचार था कि राज्य की जनता यह सोचती है कि मुख्यमंत्री जो स्वयं प्रतिबंधित संगठन से जुड़े हैं, केन्द्रीय सरकारों के निर्देशों का पालन नहीं करेंगे। राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में इस ओर ध्यान दिलाया था कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। अत: उनके पास राष्ट्रपति शासन के लागू करने की सिफारिश करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं है।[3]

इसी प्रकार राजस्थान के राज्यपाल डा० चेन्ना रेड्डी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख किया था कि मुख्यमंत्री श्री भैरो सिंह शेखावत के एक मंत्री ने अयोध्या में कार सेवा में भाग लिया था, साम्प्रदायिक संगठनों पर कारगर रोक नहीं लगायी गयी थी, राज्य में कानून व व्यवस्था की स्थिति बिगड़ रही थी और अल्पसंख्यकों के हितों को हानि पहुँच रही है। प्रशासन को वर्तमान हालात से प्रभावशाली ढंग से निपटने में असमर्थ बताया था। अतएव राज्यपाल का विचार था कि वर्तमान विधान सभा भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाना चाहिए।[4]

---

1. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, ए. आई. आर. म० प्र० 1993, पृष्ठ - 217
2. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, पूर्वोधृत पृष्ठ 234
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 16 दिसम्बर, 1992
4. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 16 दिसम्बर, 1992

यह निष्कर्ष निकालने के लिए राज्यपाल ने तीन कारण दिये थे, कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता क्योंकि - (1) मुख्यमंत्री सहित भाजपा नेताओं ने कार सेवकों को समारोह पूर्वक विदाई दी। (2) कुछ विधायकों ने तो स्वयं स्वीकार किया था कि उन्होंने मस्जिद गिराने में हिस्सा लिया था। (3) रिपोर्ट में यह आशंका भी व्यक्ति की गयी थी कि प्रतिबंधित एक संगठन का सदस्य रह चुकने के कारण मुख्यमंत्री आर. एस. एस. पर पाबंदी ईमानदारी से लागू नहीं करेंगे।

वास्तव में ये तीनों ही कारण गलत थे। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने भी अपने निर्णय[1] में कहा कि राज्यपाल की रिपोर्ट पूर्णत: गलत तथ्यों पर आधारित थी। जबकि राज्य की स्थिति इसके विपरीत थी। केन्द्र की इस कार्यवाही को अनुचित बताते हुए मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय की जबलपुर पीठ ने अपने ऐतिहासिक फैसले में राष्ट्रपति शासन के आदेश को निरस्त कर दिया, लेकिन न्यायालय ने अपने फैसले के क्रियान्वयन पर दो सप्ताह की रोक लगा दी, ताकि केन्द्र सरकार सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर सके।[2]

न्यायालय ने अपने निर्णय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत पटवा सरकार को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू करने को अवैध ठहराते हुये तत्सम्बन्धी जारी अधिसूचना को भी रद्द कर दिया था। न्यायाधीशों के अनुसार राष्ट्रपति की अधिसूचना वस्तुपरक तथ्यों पर आधारित नहीं थी। इसके लिए जो कारण बताये गये थे, वे संविधान के अनुच्छेद 356 के असाधारण प्रावधानों को लागू करने के लिये अपर्याप्त थे। अत: सम्बन्धित अधिसूचना और उसके साथ विधान सभा भंग करने की कार्यवाही स्वत: ही निरस्त हो जाती है।[3]

न्यायाधीशों के विचार में अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा विशेष अधिकारों का प्रयोग करने की स्थिति उस समय प्रदेश में नहीं थी और न ही विधान सभा भंग करने का कोई औचित्य ही

---

1. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, ए. आई. आर. म0 प्र० 1993
2. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, पूर्वोधृत पृष्ठ 217
3. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, पूर्वोधृत पृष्ठ 218

था, क्योंकि अयोध्या की घटनाओं के बाद भोपाल तथा अन्य दो शहरों में बिगड़ी कानून व्यवस्था की स्थिति पर मध्य प्रदेश के राज्यपाल द्वारा केन्द्र को भेजी गयी अपनी रिपोर्ट में ऐसी बात नहीं कही गयी थी जो कि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का पर्याप्त कारण बनता। न्यायालय का विचार था कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति की सन्तुष्टि के आधार पर जो घोषणा जारी की जाती है और राष्ट्रपति शासन लागू करने संबंधी जो निर्णय लिया जाता है, वह वास्तव में मंत्रिमंडल द्वारा लिया जाता है। अतः राष्ट्रपति की सन्तुष्टि को न्यायालय के विचार का विषय बनाया जा सकता है।[1] निर्णय में एक अन्य महत्वपूर्ण बात जो कही गयी थी कि अवैध आदेश संसद के द्वारा अनुमोदित किये जाने के पश्चात् वैध नहीं हो जाता, क्योंकि अनुमोदन के पूर्व दो माह तक ऐसा अवैध आदेश प्रवर्तन में रहता है। दो माह पश्चात् भी संसद अनुमोदन करते समय राष्ट्रपति की संतुष्टि की जाँच नहीं करती है। संसद केवल अपने अनुमोदन द्वारा उद्घोषणा की अवधि को बढ़ा देता है।[2]

लेकिन जबलपुर उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये फैसले को उलटते हुये उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में दिसम्बर 1992 को भाजपा की तीन राज्य सरकारों की बर्खास्तगी को वैध ठहराया। उल्लेखनीय है कि केवल तीन राज्यों :- राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश सरकारों की बर्खास्तगी को चुनौती दी गयी थी। उत्तर प्रदेश सरकार की बर्खास्तगी को भाजपा ने उचित स्वीकार किया था क्योंकि मुख्यमंत्री ने स्वयं त्याग पत्र दे दिया।[3] भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी के कदम को उचित ठहराते हुये न्यायालय ने कहा कि , ''धर्म निर्पेक्षता भारतीय संविधान का आधारभूत तत्व है और यदि कोई राज्य सरकार धर्मनिर्पेक्षता को चोट पहुँचाने वाला कोई कदम उठाती है तो इससे ऐसे हालात पैदा हो सकते हैं जिनसे कानून व व्यवस्था के अनुसार शासन चलाना सम्भव न हो तो ऐसी परिस्थितियों में राज्य सरकारों की बर्खास्तगी उचित हैं।[4] सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यदि विधान सभा भंग करने की कार्यवाही अवैध पायी गयी तो न्यायालय भंग विधान सभा को पुनर्जीवित भी कर

---

1. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, पूर्वोधृत पृष्ठ - 217
2. सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ, पूर्वोधृत पृष्ठ - 217
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 7 दिसम्बर 1992 (लखनऊ)।
4. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए. आई. आर. 1994 एस. सी., पैरा 365, पृष्ठ 2113

सकता है। यह निर्णय उस समय भी दिया जा सकता था, जबकि उसे संसद द्वारा मंजूर कर लिया गया हो।" न्यायालय ने अपने बहुमत से दिये गये निर्णय द्वारा तीन राज्यों नागालैण्ड (1988) कर्नाटक (1989) और मेघालय (1991) में जहाँ राष्ट्रपति शासन संबंधी उद्घोषणा तथा राज्य सरकारों की पदच्युति को असंवैधानिक घोषित किया जिन्हें संसद द्वारा अनुमोदित किया जा चुका था। यद्यपि न्यायालय ने कहा कि चूंकि इन तीन राज्यों के चुनाव कराये जा चुके हैं और नयी सरकारों का गठन हो चुका है, अत: पुरानी विधान सभाओं को पुन: जीवित करना संभव नहीं है।[1]

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 1977 के महत्वपूर्ण फैसले को उलट दिया जिसके अनुसार न्यायालय ने राष्ट्रपति की संतुष्टि को न्यायालय के विचार का विषय बनाने के इन्कार कर दिया था। लेकिन न्यायालय का विचार था कि सम्बन्धित घोषणा पर इस आधार पर विचार किया जा सकता था कि उद्घोषणा के लिये पर्याप्त आधार मौजूद थे या नहीं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री ए. आर. पांडियन की अध्यक्षता में नौ सदस्यीय संवैधानिक पीठ ने अपने फैसले में अनुच्छेद 356 को न्यायिक समीक्षा के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत माना। उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए जो विशिष्ट मापदण्ड स्थापित किया था वह निम्न प्रकार से है:-

(1) अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को केवल उस स्थिति में कार्यवाही करने का अधिकार देता है जब वह इस बात से सन्तुष्ट हो कि राज्य की सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुरूप नहीं चलायी जा रही है। वास्तव में राष्ट्रपति को प्रदत्त इस संवैधानिक शक्ति का प्रयोग मंत्रिमंडल के प्रधान 'प्रधानमंत्री' द्वारा किया जाता है। अत: संतुष्टि को अनुच्छेद 74(2) के प्रतिबन्ध के बावजूद न्यायिक विचार का विषय बनाया जा सकता है।[2]

(2) अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति की शक्ति सीमित है न कि असीमित। राष्ट्रपति को अपनी उद्घोषणा में उन तथ्यों को स्पष्ट करना आवश्यक होता है, जिसको आधार बनाकर राज्य में उद्घोषणा की गयी हो। इसमें राज्यपाल की रिपोर्ट भी सम्मिलित है, क्योंकि राष्ट्रपति की संतुष्टि इन्हीं तथ्यों को आधार बनाकर हुयी होगी।

---

1. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ - 2095
2. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ - पूर्वोधृत पृष्ठ 2113

(3) राष्ट्रपति राज्य में तत्संबंधी उद्घोषणा करने के पश्चात् राज्य विधान सभा को केवल निलंबित रख सकता है, भंग नहीं कर सकता, जब तक कि उसे संसद की अनुमति प्राप्त नहीं हो जाती। लेकिन यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हो तो बिना संसद के अनुमोदन के ही विधान सभा भंग की जा सकती है।

(4) अनुच्छेद 356 का खण्ड (3) राष्ट्रपति को अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करने से रोकता है, क्योंकि संसदीय व्यवस्था में 'संसद' की सम्प्रभुता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। यदि संसद के दोनों सदन उद्घोषणा को स्वीकृत नहीं करते हैं तो यह दो माह पश्चात् समाप्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में मंत्रिपरिषद और विधान सभा, जिसे निलम्बित रखा गया है, पुन: जीवित हो जायेंगी। यदि ऐसा नहीं होता है तो संसद द्वारा प्रस्ताव को स्वीकृत करने के पश्चात् भी विधान सभा को भंग किया जा सकता है। विद्वान न्यायाधीशों का विचार था कि समय पूर्व निर्वाचन कराना प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर बोझ डालता है, अत: इससे पूर्व विधान सभा को भंग किया जाना उचित नहीं होगा।

(5) यद्यपि अनुच्छेद 74 (2) न्यायालय को इस बात का अधिकार नहीं देता है कि वह राष्ट्रपति को मंत्रियों द्वारा दी गयी सलाह की जाँच करे, तथापि न्यायालय, केन्द्रीय सरकार को इस बात के लिए बाध्य कर सकता है कि वह उन तथ्यों को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करें, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपनी 'संतुष्टि' का निर्धारण किया था, क्योंकि तथ्य 'सलाह' का भाग नहीं हो सकते।[1]

(6) यदि न्यायालय अनुच्छेद 356 के अधीन की गयी घोषणा को अवैध पाता है तो उसका न्यायिक पुनरावलोकन कर सकता है। लेकिन न्यायालय केवल उन तथ्यों को अपने निर्णय का आधार बना सकता है जिसके आधार पर उद्घोषणा की गयी थी। तथ्यों की सत्यता की जाँच न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती।

---

1. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ - पूर्वोधृत पृष्ठ 2113

(7) धर्म निर्पेक्षता भारतीय संविधान का आधारभूत ढ़ाँचा है। राजनीति में धर्म का कोई स्थान नहीं है। धर्म और राजनीति को आपस में मिलाया जाना उचित नही हैं । किसी भी दल को धर्म की राजनीति करने की अनुमति नहीं दी जा सकती, और कोई भी राज्य सरकार धर्म निर्पेक्षता की मूल भावना को विरुद्ध कार्य करती हैं तो उसे बर्खास्त करना उचित होगा।

(8) केवल विरोधी दल की सरकार की भावना के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करना उचित नहीं है। संविधान ने केन्द्र व राज्य को अपने - अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रखा है। अत: केन्द्र को राज्यों पर प्रभुत्व का अधिकार नहीं दिया जा सकता।

उत्तर प्रदेश में मायावती सरकार से भाजपा के समर्थन वापसी के कारण मायावती ने त्यागपत्र दे दिया और राज्य में कोई भी दल सरकार गठन की स्थिति में नहीं था, इसलिए राज्यपाल मोतीलाल वोरा में राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की, जो 18 अक्टूबर, 1995 को उद्घोषणा द्वारा लागू हुआ।

सितम्बर 1996 के अन्तिम व अक्टूबर 1996 के प्रथम सप्ताह में उत्तर प्रदेश में विभिन्न चरणों में विधान सभा निर्वाचन हुए। कोई भी दल बहुमत प्राप्त नहीं कर सका।[1] भाजपा-समता गठबन्धन ने 176, बसपा-कांग्रेस 100 तथा शेषदलों के यूनाइटेड फ्रन्ट ने 134 स्थान प्राप्त किए।

निर्वाचन के तुरन्त बाद सपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष मुलायम सिंह यादव ने राज्यपाल रोमेश भण्डारी को सूचित किया कि उनका दल भाजपा को सरकार गठित करने में समर्थन नहीं देगा। इसी प्रकार से कांग्रेस-बसपा गठबन्धन ने भी कहा कि वे भाजपा को समर्थन नहीं देंगे। इसी तरह मुलायम सिंह ने मायावती को मुख्यमंत्री को रूप में स्वीकार करने से मना कर दिया, जिससे स्पष्ट हो गया कि कोई भी गठबन्धन या दल जादुई संख्या 212 को छूने में सक्षम नहीं है जिससे प्रथम दृष्टया उसका बहुमत सिद्ध हो सके।

---

1. विभिन्न दलों की स्थिति इस परकार थी :- भाजपा 174, समता-2, बसपा-67, कांग्रेस-33, सपा-110-, बीकेकेपी-8, सीपीआई-1, सीपीआई (एम)-4,जनता दल - 7, कांग्रेस (टी)-4, निर्दलीय-14, कुल 424।

16 अक्टूबर, 1996 को भाजपा ने अपने अध्यक्ष कलराज मिश्रा के माध्यम से सरकार बनाने का दावा किया और कहा कि राज्यपाल द्वारा निर्धारित किसी भी तिथि को भाजपा अपना बहुमत सिद्ध कर देगी। भाजपा के अतिरिक्त किसी ने सरकार बनाने का दावा नहीं किया था।

चूंकि किसी भी दल ने सदन में व्यावहारिक बहुमत की स्थिति प्रदर्शित नहीं की थी, इसलिए राज्यपाल ने अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की और पुनः 17 अक्टूबर, 1996 को राष्ट्रपति शासन लागू हुआ और विधान सभा निलम्बित रखी गयी।[1]

राज्यपाल द्वारा सबसे बड़े राजनीतिक दल को सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित न करके राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय की व्यापक आलोचना हुई। मुख्य आधार यह था कि राष्ट्रपति शासन एक वर्ष से अधिक तभी लागू रह सकता है, जब राज्य में आपात स्थिति हो और निर्वाचन आयोग निर्वाचन कराने में समर्थ न हो, परन्तु उत्तर प्रदेशमें ऐसी स्थिति नहीं थी।

17 अक्टूबर, 1996 को राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा को इलाहाबाद उच्च-न्यायालय की लखनऊ खण्डपीठ में चुनौती दी गई।[2] मामले की सुनवाई न्यायमूर्ति ए. एच. रजा और न्यायमूर्ति ए. एन. गुप्ता ने की। 19 नवम्बर, 1996 को उन्होंने अलग-अलग निर्णय दिये। इसलिए मामला फुल बैंच को सौंपा गया जिसमें न्यायमूर्ति बृजेश कुमार, न्यायमूर्ति बी.एम. लाल और न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू सम्मिलित थे। उन्होंने अलग-अलग निर्णय दिये, परन्तु इस बिन्दु पर सहमत थे कि राज्यपाल को सभी वैकल्पिक सम्भावनाओं का पता लगाना चाहिए था और राष्ट्रपति शासन को अन्तिम उपाय के रूप में अपनाना चाहिए था।

---

1. निर्वाचन के तुरन्त पश्चात् पुनः राष्ट्रपति शासन का पूर्व उदाहरण केरल का है जहाँ 24 मार्च 1965 को पुनः राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गई और नव निर्वाचित विधान सभा भी भंग कर दी गई। केरल उच्च न्यायालय ने इस उचित ठहराया- के. के. अबू बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 1965 केरल 229

2. हरिशंकर जैन और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य-1996, उत्तर प्रदेश लोकल बॉडीज एण्ड एजूकेशनल केसेज (यू.पी. एल. बी.ई.सी.) वाल्यूम-4 पृष्ठ 2515।

अगस्त 1995 में गुजरात की 182 सदस्यीय विधान सभा के चुनाव हुए। इस निर्वाचन में भाजपा को 120, कांग्रेस (आई) 44 और निर्दलीय को 16 स्थान प्राप्त हुए।[1] भाजपा विधायी दल में फूट के कारण राज्यपाल श्री कृष्णपाल सिंह ने गुजरात के मुख्यमंत्री सुरेश मेहता से 13 सितम्बर तक सदन में बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा।

3 सितम्बर को विशेष सत्र बुलाया गया।[2] चूंकि सदन के स्पीकर एच. एल. पटेल अस्वस्थ होने के कारण पद भार सम्हालने में असमर्थ थे, अत: डिप्टी स्पीकर चन्द्रभाई धाबी ने स्पीकर पद ग्रहण किया। जैसे ही सदन की बैठक प्रारम्भ हुयी, उन्होंने भाजपा से अलग हुये 46 सदस्यों को मान्यता देने की घोषणा की। घोषणा होते ही सदन में अव्यवस्था फैल गई और विश्वास मत पेश किये बिना सदन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। सुरेश मेहता अस्वस्थ स्पीकर से मिलने अस्पताल गए और उनके लिखित आग्रह पर स्पीकर ने बैठक 3.30 पर पुन: बुलाई जिससे विश्वास मत प्रस्तुत किया जा सके परन्तु डिप्टी स्पीकर ने उसे पाँच मिनट बाद पुन: अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

मुख्यमंत्री ने 94 भाजपा विधायकों द्वारा हस्ताक्षरित पत्र राज्यपाल को दिया जिसमें विधायकों ने भाजपा की राज्य सरकार में विश्वास व्यक्त किया था।

अस्वस्थ स्पीकर पटेल ने नया आदेश जारी किया जिसमें धाबी के निर्णय को आसंवैधानिक और गैरकानूनी ठहराया गया। 18 सितम्बर को सदन आमंत्रित किया गया और उस दिन के लिए एक मात्र कार्यवाही हाल ही में दिवंगत स्पीकर श्री पटेल व पूर्व राष्ट्रपति श्री संजीवा रेड्डी के प्रति शोक प्रस्ताव पास करना था जबकि विश्वास मत 19 सितम्बर को प्रस्तुत किया जाना था, परन्तु शोक प्रस्ताव पास किए बिना मुख्यमंत्री ने उस अवसर के लिए स्पीकर की नियुक्ति की जो विश्वास मत प्रस्ताव पर कार्यवाही कर सके।[3] मुख्यमंत्री द्वारा एजेन्डा से हटकर विश्वास मत प्रस्ताव प्रस्तुत करने पर सदन में

---

1. 2 स्थान रिक्त थे।
2. भाजपा छोड़ चुके 42 विधायकों में से 18 का श्री मेहता ने पुन: विश्वास प्राप्त कर लिया था इसलिए उन्होंने शीघ्र बहुमत सिद्ध करने के लिए सत्र जल्दी बुलाया।
3. डिप्टी स्पीकर अस्वस्थता के कारण उपस्थित नहीं हो सके थे।

अव्यवस्था फैल गई और हिंसा के कारण कई विधायक घायल हुए। मुख्यमंत्री ने मार्शल को विरोधी सदस्यों को बाहर करने और सदन में सादे कपड़ों में पुलिस बल को बुलाने के लिए कहा। इस अव्यवस्था के बीच 179 सदस्यों के सदन में विश्वास प्रस्ताव के पक्ष में 93 और विपक्ष में कोई भी मत नहीं पड़ा।

सदन में अप्रत्याशित हिंसा के कारण राज्यपाल कृष्णपाल सिंह ने संवैधानिक तन्त्र के विफल होने पर राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की, जिसकी उद्घोषणा राष्ट्रपति द्वारा 19 सितम्बर 1996 को की गई एवं विधान सभा को निलम्बित रखा गया।

राष्ट्रपति की इस कार्यवाही की निम्न आधारों पर आलोचना की गई :-[1]

1) भारतीय राजनीति के इतिहास में स्पीकर के दिवंगत होने पर शोक सन्देश का पास होना वास्तव में अपारम्परिक है परन्तु कार्यवाही को बाधित करना, हिंसात्मक कार्य और सदन में भयभीत करना संवैधानिक तंत्र की विफलता से नहीं जोड़ा जा सकता। साठ व सत्तर के दशक में उत्तर प्रदेश व बिहार के विधान सभाओं में भी अव्यवस्था फैली थी, परन्तु इस आधार पर किसी भी सरकार को बर्खास्त नहीं किया गया।

2) संविधान का अनुच्छेद 212 (1) यह व्यवस्था करता है कि राज्य के विधान मण्डल की किसी कार्यवाही की विधि मान्यता को प्रक्रिया की किसी अभिकथित अनियमितता के आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा। इसलिए, चूंकि भाजपा सरकार ने सदन में अपना बहुमत सिद्ध कर दिया था, राज्यपाल के लिये इस की वैधानिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाना उचित नहीं था।

3) राष्ट्रपति शासन को लागू करना सर्वोच न्यायालय के बोम्मई मामले में दिये गए निर्णय व सरकारिया आयोग की सिफारिश का पूर्ण उल्लंघन है, जिसके अनुसार अनुच्छेद 356 का प्रयोग अन्तिम उपाय के रूप में करना चाहिए ।

बाद का घटना क्रम यह स्पष्ट करता है कि राज्य में गैर भाजपा सरकार के गठन का मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से राष्टपति शासन लागू किया गया था । भाजपा से विघटित दल के नेता शंकर

---

1. चन्द्र भूषण पाण्डे - गर्वनर : प्रिजर्वर, प्रोटेक्टर एण्ड डिफेन्डर ऑफ दि कान्सटीट्यूशन पृष्ठ-200

सिंह बघेला ने कांग्रेस ,जनता दल के व कुछ निर्दलीय सदस्यों के समर्थन से अक्टूबर 1996 में मुख्यमंत्री- पद ग्रहण किया।

सौ से अधिक बार राष्ट्रपति शासन लागू हुआ परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि राष्ट्रपति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हो। अक्टूबर 1997 में राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन ने अपनी सहमति रोक दी और मंत्रिपरिषद को पुनर्विचार करने के लिए कहा।[1] राष्ट्रपति द्वारा ऐसा अप्रत्याशित कदम 19 अक्टूबर, 1997 के घटनाक्रम के बाद उठाना पड़ा।

19 अक्टूबर को मायावती ने भाजपा की कल्याण सिंह सरकार से बसपा का समर्थन वापस ले लिया। कांग्रेस, समाजवादी पार्टी और जनता दल के नेताओं ने भी कहा कि भाजपा सरकार को समर्थन नहीं देंगे। कल्याण सिंह ने सदन में बहुमत सिद्ध करने का अवसर देने को कहा और राज्यपाल ने 21 अक्टूबर, 1997 की तिथि निर्धारित की। उस दिन सदन में अत्यधिक हिंसा और अव्यवस्था उत्पन्न हुई और कई प्रमुख नेता घायल भी हुये। सुरक्षा बलों में विपक्षी सदस्यों को सदन से बाहर किया और स्पीकर ने अविश्वास प्रस्ताव पर मतदान कराया। परिणाम में 222 मत विश्वास मत के पक्ष में और विरोध में एक भी मत नहीं, पड़ा। राज्यपाल के निर्देशानुसार हिंसा की चरम स्थिति पर भी स्पीकर ने सदन स्थगित नहीं किया। राज्यपाल के पर्यवेक्षकों ने पूरी कार्यवाही की सूचना राज्यपाल को दी और कहा कि उनके लिये यह जानना सम्भव नहीं था कि मतदान करने वाले वास्तव में सदन के सदस्य थे या नहीं, वे किस दल से सम्बन्धित थे और क्या बसपा और सपा सदस्यों में से किसी एक ने मतदान में स्वेच्छा से भाग लिया।

राज्यपाल ने सदन में हिंसा के कारण निष्पक्ष मतदान न होने की सम्भावना रिपोर्ट राष्ट्रपति को दी और राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा को आवश्यक बताया।

केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सलाह दी। राष्ट्रपति ने बोम्मई मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय की विवेचना की और महान्यायवादी से सलाह मांगी। उन्होंने न केवल बोम्मई केस वरन् सरकारिया आयोग की सिफारिशों का भी उल्लेख

---

1. एशियन रिकार्डर, 26 नवम्बर- 2 दिसम्बर 1997, पृष्ठ 26897

किया। अन्ततः काफी विचार विमर्श के पश्चात् राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति शासन की सलाह को मंत्रिमंडल के पास पुनर्विचार के लिए भेज दिया।[1]

मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति का दृष्टिकोण जानने के पश्चात् राष्टपति शासन का विचार त्याग दिया।

इसी तरह सितम्बर 1998 में बिहार के राज्यपाल सुन्दर सिंह भंडारी की रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने बिहार में राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की। राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में कानून और व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति व राज्य में जंगल राज का वर्णन किया था।[2]

राष्ट्रपति ने इसे संवैधानिक तन्त्र की विफलता न मानते हुए राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा को केन्द्र सरकार के पास पुनर्विचार के लिये लौटा दिया।[3] केन्द्र सरकार ने राष्ट्रपति शासन के उस विचार को त्याग दिया, परन्तु जहांनाबाद में 11 दलितों की हत्या के बाद सुन्दर सिंह भंडारी ने पुनः राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट दी। केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने 12 फरवरी, 1999 को बिहार की राबड़ी देवी सरकार को बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की। इस बार राष्ट्रपति ने राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता को स्वीकार किया और राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की। उद्घोषणा लोकसभा में स्वीकृत कर ली गयी परन्तु राज्यसभा में कांग्रेस का समर्थन प्राप्त न होने के कारण[4] 8 मार्च,1999 को राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया और राबड़ी देवी पुनः मुख्यमंत्री बनीं।

इस प्रकार उपरोक्त दो उदाहरण यह स्पष्ट करते है कि राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार की कार्यवाही करके, केन्द्र द्वारा अनुच्छेद 356 के राजनीतिक दुरूपयोग पर आंशिक प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

---

1. आउट लुक, 3 नवम्बर 1997, पृष्ठ -11
2. एशियन रिकार्डर, 29 अक्टूबर- 4 नवम्बर, 1998, पृष्ठ 2766
3. अकाली दल व रामकृष्ण हेगड़े ने राष्ट्रपति शासन का विरोध किया था। अकाली दल के नेता व केन्द्रीय मंत्री सुरजीत सिंह बरनाला ने 1991 में तमिलनाडु के राजयपाल पद रहते हुए करूणानिधि सरकार को बर्खास्त करने से मना कर दिया था।
4. राज्यसभा में भाजपा अल्पमत में था।

अनुच्छेद 356 से जुड़ा अन्य अधिकार विधानसभा भंग करने का है। जे0 आर0 सिवाच ने कहा है कि जिस सरकार को कांग्रेस का बाहर से समर्थन प्राप्त हो, या वह उसमें सहभागी दल हो, उस सरकार के गिरने या गिरने की संभावना होने पर अनुच्छेद 174 (2) (ब) के अन्तर्गत विधानसभा भंग कर दी गयी है। जैसा कि त्रावणकोर-कोचीन (1954), केरल (1970), पश्चिम बंगाल व बिहार (1971), उड़ीसा (1973) हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश (1967) और बिहार (1969) में हुआ।[1] इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि जब कभी भी गैर कांग्रेसी सरकारों द्वारा विधानसभा भंग करने की सिफरिश की गयी, उसको अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि राज्यपाल को उसके बहुमत के विषय में संदेह था और कांग्रेस सरकार बनाने का इच्छुक था। उदाहरणार्थ- राव वीरेन्द्र सिंह हरियाणा में, गुरूनाम सिंह पंजाब, चरण सिंह उत्तर प्रदेश, भोला पासवान शास्त्री बिहार, हितेन्द्र देसाई गुजरात और कर्पूरी ठाकुर बिहार ने विधानसभा भंग करने की सिफरिश की थी, जिसे अस्वीकृत कर दिया गया।[2]

जम्मू और कश्मीर के संविधान की धारा 92 के अनुसार राज्य के संवैधानिक तंत्र के विफल होने की दशा में राज्यपाल शासन लागू होता है। प्रावधान के अनुसार यदि राज्य के राज्यपाल को यह समाधान हो कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें कि राज्य का शासन संविधान (जम्मू कश्मीर का संविधान) के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राज्यपाल उद्घोषणा द्वारा:-

(1) राज्य सरकार की शक्तियां अपने हाथो में ले सकेगा। साथ ही उद्घोषणा को प्रभावी बनाने के लिए संविधान के किन्हीं उपबन्धों को पूर्णत: या आंशिक तौर पर निलम्बित कर सकता है।

(2) लेकिन राज्यपाल को उच्च न्यायालय की शक्तियों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा। इस प्रकार की घोषणा छह माह तक की अवधि तक ही प्रर्वतन में रहेगी।

इस प्रकार की घोषणा, बिना राष्ट्रपति की सहमति से जारी नहीं की जा सकती है एवं उसे विधान मण्डल की सहमति आवश्यक है।

---

1. जे.आर. सिवाच- 'दि पालिटिक्स ऑफ दि प्रेसीडेन्ट रूल इन इण्डिया'- प्रकाशित- भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला (1979)
2. राज्यपाल की विधानसभा भंग करने की शक्ति का विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में है।

ज्ञातव्य है कि जम्मू कश्मीर में छह माह तक 'राज्यपाल का शासन' ही लागू रहता है। छह माह की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी यदि उद्घोषणा को जारी रखने की आवश्यकता हुयी तो राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाता है।

राज्य में राज्यपाल का शासन पहली बार 27 मार्च, 1977 को लागू हुआ जब कांग्रेस पार्टी ने शेख मोहम्मद अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली सत्तारूढ़ नेशनल कान्फ्रेन्स से अपना समर्थन वापस ले लिया और राजयपाल श्री एल.के. झा ने राज्यपाल शासन लागू कर दिया। इसके साथ ही विधानसभा भंग कर दी। यह उद्घोषणा 9 जुलाई, 1977 को तब समाप्त हुई, जब राज्य विधानसभा निर्वाचन के पश्चात् नेशनल कांफ्रेस के नेता शेख अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री पद ग्रहण किया। दूसरी बार 7 मार्च,1986 को जब गुलाम मोहम्मद शाह वाली नेशनल कांफ्रेन्स (खालिदा ग्रुप) से कांग्रेस (आई) ने समर्थन वापस ले लिया और राज्यपाल श्री जगमोहन ने संविधान की धारा 92 के अन्तर्गत राज्यपाल शासन लागू कर दिया। 6 सितम्बर 1986 को छह माह की अवधि के पश्चात राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।

तीसरी बार राज्यपाल की नियुक्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में आपत्ति होने के कारण मुख्यमंत्री फारूक अब्दुल्ला ने त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल जगमोहन ने राज्य में राज्यपाल शासन लागू कर दिया। फिर 18 जुलाई, 1990 को छह माह की समाप्ति के पश्चात राष्ट्रपति शासन लागू हुआ।

1986 व 1990 में राष्ट्रपति शासन लागू करने का मुख्य आधार राज्य में आतंकवादी गतिविधियों को बनाया गया।

ऐसा नही है कि राज्पालों ने अनुच्देद 356 का दुरूपयोग करते हुए केन्द्र के निर्देशों पर राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की है वरन् कुछे ऐसे मामले भी हैं, जहां राष्ट्रपति शासन अपरिहार्य था और राज्यपाल के पास इसका कोई विकल्प नहीं था।[1] परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अपरिहार्य राष्ट्रपति शासन की तुलना में, केन्द्र के इशारे पर केन्द्रीय सत्ताधारी दल के राज्य में हित संरक्षण हेतु इस

---

1. सरकारिया आयोग रिपोर्ट - भाग- एक पृष्ठ, 176-177 पर ऐसे 23 उदाहरण दिये गये हैं जहां राष्ट्रपति शासन अपरिहार्य था।

प्रावधान का दुरूपयोग अधिक किया गया है। केन्द्र में चाहे जिस दल की सरकार रही हो उसने कम या अधिक मात्रा में राज्यपालों को राज्य में अपने दल के हितार्थ दुरूपयोग किया है। अब यह बात भी स्पष्ट हो गयी है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1994 में 'एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ' के मामले में दिये गये निर्णय के फलस्वरूप केन्द्र द्वारा अनुच्छेद 356 के माध्यम से राज्यों में हस्तक्षेप की प्रवृत्ति पर सार्थक रोक लगेगी और उस पर यदि वर्तमान राष्ट्रपति श्री के.आर.नारायणन की भांति सजग व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर आसीन है तो 'सोने पर सुहागा' वाली कहावत चरितार्थ होगी और केन्द्र मनमाने एवं पक्षपातपूर्ण ढंग से इस अनुच्छेद का प्रयोग करने की पहल नहीं करेगा।

अंत में यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 356 जो कि एक राजनीतिक प्रावधान है , का दुरूपयोग केवल न्यायालय के निर्णयों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता है। यदि इसे केवल न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित कर दिया जाये, तो अत्यधिक कार्य बोझ से दबी न्यायपालिका पर और अधिक कार्यवृद्धि का बोझ डालना होगा जो सामान्य व्यक्ति को न्याय प्राप्ति में और विलम्ब का कारण बनेगा। अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग व राज्यपालों की संदिग्ध भूमिका को दूर करने का एक मात्र व सार्थक उपाय राजनीतिक दलों की दृढ इच्छाशक्ति है।

राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल की सहायतार्थ सलाहकारों की नियुक्तिः-

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत हस्तक्षेप के बाद राज्यपाल की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। यद्यपि वह राष्ट्रपति के निर्देश के अनुसार कार्य करने को बाध्य है, फिर भी सम्पूर्ण प्रशासनिक तंत्र में उसका महत्वपूर्ण स्थान हो जाता है। राज्यपाल धर्मवीर ने यह विचार व्यक्त किया था कि अनुच्छेद 356 में हस्तक्षेप के बाद राज्यपाल केन्द्रीय मंत्रालयों के अधीन कार्य करता है। दिन प्रतिदिन के प्रशासन में राज्यपाल को अपने विवेक से कार्य करने की स्वतंत्रतता होनी चाहिए। यदि सभी महत्वपूर्ण प्रशासनिक कार्यो के लिए केन्द्रीय निर्देश या सहमति प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया जाये तो इससे प्रशासन में अत्यधिक विलम्ब होगा और इससे राज्यपाल की स्थिति संवैधानिक रूप से हास्यास्पद भी हो सकती है। धर्मवीर का यह वक्तव्य उपर्युक्त विश्लेषण को पुष्टि करता है कि राज्यपाल की स्थिति परिवर्तित परिवेश में महत्वपूर्ण हो जाती है।[1]

---

1. श्री राम माहेश्वरी- प्रेसीडेन्ट रूल्स इन इण्डिया, पृष्ठ 118

किसी राज्य में अनुच्छेद 356 के लागू होने पर, राज्य प्रशासन की समस्त शक्तियां राष्ट्रपति में निहित हो जाती हैं जो सामान्तया इन शक्तियों को राज्यपाल को प्रदत्त कर देता है। मंत्रिमंडल कार्य करना बंद कर देती है और राष्ट्रपति के नाम पर राज्यपाल प्रशासन करता है। राज्यपाल की जिम्मेदारियां बढ़ जाती है। वह विभिन्न सम्मेलनों में सम्मिलित होता है जैसे राष्ट्रीय विकास परिषद और मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन।

सामान्यत: संविधान की राज्य सूची में उल्लिखित 66 विषयों से सम्बन्धित प्रशासन राज्यपाल देखता है परन्तु इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण मामले सम्बन्धित केन्द्रीय मंत्रालयों की सलाह व निर्देशन में क्रियान्वित किये जाते है। यद्यपि रष्ट्रपति शासन में राज्य सम्बन्धित केन्द्रीय मंत्रालयों से सीधा सम्पर्क रखता है, परन्तु महत्वपूर्ण पत्राचार की प्रतिलिपियां गृह मंत्रालय को भेजी जाती है। इस प्रकार गृह मंत्रालय, राष्ट्रपति शासन में केन्द्र -राज्य सम्बन्धों के बीच महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है।

राज्य के प्रशासन को राज्य में भावी चुनाव के दृष्टिकोण से अपने अनुरूप बनाने का भी प्रयास अनुच्छेद 356 में हस्तक्षेप के बाद बराबर किया गया है।[1] इस प्रयास में परामर्शदाता महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। प्रशासन के वरिष्ठ अधिकारियों के स्थानान्तरण के माध्यम से प्रशासनिक तंत्र को केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल के अनुरूप बनाने की चेष्टा की जा सकती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में परामर्शदाता महत्वपूर्ण कार्य कर सकते है। इसलिये भी परामर्शदाता की नियुक्ति महत्वपूर्ण है।

परामर्शदाताओं की औपचारिक रूप से नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है परन्तु वास्तव में यह गृह मंत्रालय द्वारा की जाती है, क्योंकि ऐसे राज्यो का समस्त कार्य संचालन गृह मंत्रालय के अधीन ही किया जाता है, जिसमें अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत हस्तक्षेप किया गया हो। गृह मंत्रालय कुछ नामों के समूह को तैयार करता है और फिर प्रधानमंत्री की सहमति से यह अन्तिम रूप ग्रहण करता है। परामर्शदाताओं की नियुक्ति के पश्चात् उनके मध्य औपचारिक रूप से कार्यभार का वितरण कर दिया

---

1. उत्तर प्रदेश मे राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल सत्य नारायण रेड्डी ने राज्य प्रशासन में अति सक्रियता दिखायी और राष्ट्रपति शासन के 100 दिन पूर्ण होने पर समाचार पत्रों में उपलब्धियां प्रकाशित करवाई-

   -हन्ड्रेड डेज ऑफ सेन्ट्रल रूल इन यू.पी.- पी. के. राय, दि हिन्दु 1, अप्रैल 1992

जाता है। वे मंत्रियों के समान कार्य करते है और सचिवालय से सीधे सरकारी पत्र ग्रहण करते हैं। परामर्शदाताओं की बैठक की अध्यक्षता राज्यपाल करता है। प्रधानमंत्री इन परामर्शदाताओं को अनौपचारिक निर्देश भी देते रहे है।[1] परामर्शदाता जिन राज्यों में नियुक्त किये जाते है, उन्हें उन राज्यों के प्रशासन का पूर्व अनुभव भी रहता है।[2] प्राय: ऐसे व्यक्ति परामर्शदाता नहीं बनाये जाते जिन्हें नियुक्त होने वाले राज्य की प्रशासनिक स्थिति का कोई पूर्व अनुभव न हो। किसी राज्य में कितने परामर्शदाता नियुक्त होंगे इसके लिये कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राज्य विशेष की भोगौलिक स्थिति क्षेत्रफल तथा जनसंख्या और प्रशासनिक समस्यायें आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जो परामर्शदाताओं की संख्या को निर्धारित कर सकता है। इतना अवश्य कह सकते है कि किसी भी राज्य में आज तक अधिक से अधिक पांच परामर्शदाताओं की ही नियुक्ति हुई है।[3]

राज्यपाल और परामर्शदाताओं के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत सहज नहीं रहे है। यह सम्बन्ध प्राय: व्यक्तिगत सम्बन्धों से प्रभावित रहा है। प्राय: इस प्रकार के सम्बन्ध मधुर नहीं रहे हैं। केन्द्रीय गृह मंत्री वाई.बी. चव्हाण ने इस संबंध में उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यों के जिसमें अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत हस्तक्षेप किया गया था, राज्यपालों को परिपत्र भेजा था, जिसमें परामर्शदाताओं की स्थिति स्पष्ट की गयी थी और यह बताया गया था कि उनकी स्थिति लगभग मंत्रियों के समान ही होगी।

राज्यपाल और परामर्शदाताओं के बीच मधुर सम्बन्ध न होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि प्राय: राज्यपाल ऐसे व्यक्ति होते हैं जो पूर्व में सक्रिय राजनेता रह चुके होते है। ऐसे व्यक्तियों का मंत्रिमंडल से सहयोगात्मक संबंध इसलिए भी हो जाता है कि मंत्रिमंडल भी सक्रिय राजनेताओं द्वारा गठित किया जाता है। इस प्रकार राज्यपाल और मंत्रिमंडल एक ही वर्ग के होते हैं और इस तरह उनके पारस्परिक सम्मान की भावना विकसित हो जाती है। परामर्शदाता प्रशासनिक अधिकारी होता है जिसके प्रति भारतीय राजनीतिक नेता सहज सम्मान की भावना विकसित नहीं कर पाता और इस तरह उसके संबंध मधुर नहीं हो पाता। प्रशासनिक अधिकारी के मन में भी कहीं यह ग्रंथि होती होगी कि उसे

---

1. माहेश्वरी- पूर्वोधृत, और नवभारत टाइम्स (लखनऊ) 11 मई, 1993
2. माहेश्वरी- पूर्वोधृत
3. माहेश्वरी- पूर्वोधृत, पृष्ठ 125-126

प्रशासन का अधिक अच्छा और गहरा अनुभव है और वह केन्द्र के निर्देश पर कार्य कर रहा है। दूसरी ओर राज्यपाल का यह दृष्टिकोण हो जाता है कि उसे राजनीतिक एवं सामाजिक अनुभव अधिक है। इसलिए उसके निर्णय व उसकी धारणा अधिक उपयुक्त है। ऐसा भी उदाहरण मिलता है कि परामर्शदाता से प्रशासनिक मतभेद के कारण भी राज्यपाल ने त्यागपत्र दे दिया हो।[1] ऐसा मतभेद स्वाभाविक है, यदि राज्यपाल ऐसे किसी राजनीतिक दल से संबंधित रहा है जो केन्द्र में सत्तारूढ़ नहीं है। ऐसे में राज्यपाल व परामर्शदाता के उद्देश्य में अन्तर स्वाभाविक है। केन्द्र सरकार परामर्शदाताओं के माध्यम से राज्य विशेष में अपने राजनीतिक उद्देश्य को प्राप्त करने की चेष्टा कर सकती है और यह भी मतभेद का कारण हो सकता है।

राज्यपाल व परामर्शदाता के मध्य मतभेद के कारण या तो परामर्शदाता ने त्याग पत्र दे दिया या फिर उन्हें हटा दिया गया। जनवरी 1984 में पंजाब के सबसे वरिष्ठ सलाहकार, जगतपति, जिनके पास कानून और व्यवस्था का उत्तरदायित्व था, उन्होंने राज्यपाल से मतभेद के कारण त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि उन्होंने त्यागपत्र का कारण स्वास्थ्य कारणों को बताया परन्तु ऐसी अफवाह थी कि उनका राज्यपाल और केन्द्रीय सरकार से राज्य में कानून व्यवस्था बनाये रखने के प्रयासों के विषय में मतभेद था। जगतपति आतंकवादियों से निपटने के लिए कड़ी कार्यवाही के समर्थक थे, जबकि राज्यपाल और यहां तक कि केन्द्रीय सरकार सतर्क दृष्टिकोण की समर्थक थी।[2] परामर्शदाता को केन्द्रीय सरकार के निर्देश पर राज्यपाल द्वारा हटाने का भी उदाहरण है। फरवरी 1984 में पंजाब के परामर्शदाता हरबंस सिंह और पी.जी. गवई को पदच्युत करने का आदेश केन्द्र सरकार द्वारा दिया गया।[3]

राज्यपाल यदि वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी रहा है तो ऐसी स्थिति में परामर्शदाता का महत्व कम हो जाता है। दोनों एक ही श्रेणी-(प्रशासनिक श्रेणी) के रहते है, परिणाम स्वरूप राज्यपाल व

---

1. मध्य प्रदेश के राज्यपाल कुंवर महमूद अली खां तथा हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल वीरेन्द्र वर्मा से परामर्शदाता से मतभेद के समाचार प्रकाशित हुये हैं। कुंवर महमूद अली खान ने तो मतभेद के कारण त्यागपत्र देने की धमकी भी दी थी। स्वतंत्र भारत- 28 जनवरी, 1993

2. सिबरंजन चैटजी- गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन् पृष्ठ 158

3. सिबरंजन चैटजी- पूर्वोधृत- पृष्ठ- 158

परामर्शदाता में वरिष्ठ व कनिष्ठ की धारणा विकसित हो जाती है। इस स्थिति में परामर्शदाता अपनी ओर से नीति निर्धारण का कार्य प्रारम्भ नहीं करता वरन् वह आज्ञापालन में ज्यादा रूचि रख सकता है। ऐसी स्थिति में परामर्शदाता का महत्व गौड़ हो जाता है धर्मवीर ने पश्चिम बंगाल (1968) और मैसूर (1971) में किसी परामर्शदाता की नियुक्ति नहीं की थी।

राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल की प्रभावी भूमिका राज्यपाल के व्यक्तिगत व प्रशासनिक अनुभव पर निर्भर करती है। धर्मवीर, जिन्होंने तीन राज्यों[1] में राष्ट्रपति शासन के समय राज्यपाल पद पर कार्य किया, काफी सक्रिय व प्रशासनिक कार्यो में रूचि लेने वाले राज्यपाल थे, और उन्होंने बिना परामर्शदाता के कार्य किया। मैसूर के राज्यपाल के रूप में भी उनका केन्द्रीय सरकार से मतभेद भी उत्पन्न हो गया था।[2] पंजाब के राज्यपाल डी.सी. पावटे यद्यपि शिक्षाशास्त्री थे, तथापि उन्होंने पंजाब के राज्यपाल के रूप में प्रभावी भूमिका निभाई और राष्ट्रपति शासन के दौरान (1968 और 1971) महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय लेने का भी साहस दिखाया।[3] गुजरात में राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल श्रीमन नारायण ने भी प्रभावी भूमिका निभाई और उत्तर प्रदेश में श्री सत्य नारायण रेड्डी ने भी प्रशासन में सक्रियता दिखाई।

इस प्रकार राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल जो भूमिका निभाता है, वह निश्चित रूप से प्रशासन के लंबे अनुभव तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि वह सक्रिय है, विचार करने योग्य बुद्धि है और प्रशासन में रूचि रखने की इच्छा शक्ति है तो वह राष्ट्रपति शासन के समय राज्य प्रशासन में सकारात्मक भूमिका निभा सकता है और नये नीतियों के सम्बन्ध में निर्णय भी ले सकता है। वहीं यदि राज्यपाल असक्रिय है, तो यह उसकी मूल प्रवृत्ति होगी कि सभी कार्यो का उत्तरदायित्व अपने परामर्शदाताओं और नौकरशाहों पर छोड़ दें।

---

1. तीन राज्य थे- पंजाब (1966),पश्चिम बंगाल (1968), मैसूर- (1971) । धर्मवीर पूर्व में भारतीय सिविल सेवा के अधिकारी थे।
2. राष्ट्रपति शासन में धर्मवीर की सम्बन्धित राज्यों में भूमिका के लिये देखे सिबरंजन चैटजी- 'पूर्वोधृत' पृष्ठ- 159-163
3. विस्तृत अध्ययन हेतु सिबरंजन चैटजी- पूर्वोधृत, पृष्ठ 163-166

षष्ठम् अध्याय

राज्यपाल की कतिपय अन्य शक्तियाँ

राज्यपाल की कतिपय अन्य शक्तियाँ

भारतीय संविधान ने राज्यपाल को राज्य विधायिका का एक प्रमुख अंग बनाया है। इस दृष्टि से संविधान द्वारा राज्यपाल को अनेक विधायी शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। यद्यपि राज्यपाल, राज्य विधायिका का सदस्य नहीं है, परन्तु फिर भी वह विधायी व्यवस्था से अत्यन्त घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। चतुर्थ आम चुनाव (1967) के पश्चात्, राज्यपालों की विधान सभा अधिवेशन आहूत करने, उसका सत्रावसान करने तथा विधान सभा भंग करने की शक्ति का जिस तरह प्रयोग किया गया है, उसका विभिन्न राजनीतिक दलों, राजनीतिज्ञों, न्यायविदों, शिक्षाविदों और यहाँ तक कि सामान्य जनता ने भी कटु आलोचना की है। इन शक्तियों के अतिरिक्त विधायी क्षेत्र में राज्यपाल की अन्य दो विवादस्पद शक्तियाँ अध्यादेशों की प्रख्यापना एवं विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करने की हैं।

उपर्युक्त विधायी क्षेत्र में सम्बन्धित शक्तियों के अतिरिक्त, राज्यपाल की विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के रूप में भूमिका की भी आलोचना हुयी है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि राज्यपाल की कुलाधिपति सम्बन्धी भूमिका की व्यवस्था संविधान द्वारा नहीं की गयी है और यह शक्ति उसे राज्यों के अधिनियमों द्वारा प्राप्त होती है। कुलाधिपति के रूप में वह मंत्रिपरिषद की सलाह से स्वतंत्र होकर कार्य करता है। इसलिये प्राय: राज्याध्यक्ष व सरकार के अध्यक्ष (मुख्यमंत्री) के मध्य कुलाधिपति का पद विवाद का कारण बन जाता है और अन्तत: इसका प्रभाव केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर भी पड़ता है। इस अध्याय में हम राज्यपाल की उपरोक्त शक्तियों का अध्ययन करेंगे और यह देखने का भी प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् राज्यपालों ने एक सी परिस्थितियों में अलग-अलग मापदण्डों का प्रयोग करते हुए इन शक्तियों का प्रयोग स्वविवेक से किया और केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल के हित संरक्षण व संवर्द्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके कारण राज्यपाल पक्षपातपूर्ण एवं दुर्भावनापूर्ण कार्यवाही करने के आरोपी बने।

विधान सभा अधिवेशन आहूत करना :-

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 174(1) के अनुसार 'राज्यपाल', 'समय-समय पर, राज्य के विधान मण्डल के सदन या प्रत्येक सदन को ऐसे समय और स्थान पर, जो वह ठीक समझे, अधिवेशन

के लिये आहूत करेगा, किन्तु उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियत तारीख के बीच छह माह का अन्तर नहीं होगा।' यह स्पष्ट नहीं है कि राज्यपाल को विधान सभा अधिवेशन आहूत करने के लिए स्वविवेकानुसार या अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए। सुस्थापित संसदीय परम्पराओं के अनुसार तो राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए, जैसा कि ब्रिटिश परम्परा में निहित है।[1] सामान्यत: राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह से यह कार्य करता है, परन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जब विधान सभा के अधिवेशन में न रहने पर सत्ताधारी दल में दल-बदल हो जाय या गठबन्धन सरकार में किसी दल द्वारा समर्थन वापस ले लिया जाय तथा सरकार के बहुमत का समर्थन प्राप्त होने पर सन्देह उत्पन्न हो जाय। ऐसी स्थिति में राज्यपाल द्वारा विधान सभा आहूत करने या न करने का कार्य निर्णायक हो सकता है। किसी दल विशेष को सत्ता में बने रहने के लिये वह अधिवेशन आहूत नहीं कर सकता और दूसरे दल विशेष को तुरन्त सत्ताच्युत करने के लिये अधिवेशन आहूत कर सकता है। अत: इस सम्बन्ध में विद्वानों की अलग-अलग राय है।

चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् विभिन्न राज्यों की गठबन्धन सरकारों को संकट का सामना करना पड़ा, जब बड़ी संख्या में सत्ताधारी दल में या संयुक्त मोर्चा में दल-बदल हो गया। ऐसी परिस्थितियों में विभिन्न राज्यों के राज्यपालों ने अलग-अलग कार्यवाही की। 1967 के पश्चात् जब साझा सरकारें अस्तित्व में आयीं और कुछ मुख्यमंत्रियों नें बहुमत का समर्थन खो दिया, तब वे तुरन्त शक्ति परीक्षण हेतु अधिवेशन बुलाने के लिये तैयार नहीं थे। वे अनुच्छेद 174(1) का लाभ उठाना चाहते थे, कि दो सत्रों के बीच छह माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। उस समय कुछ राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों से तुरन्त विधानसभा का सामना करने के लिए कहा। वहीं कुछ ने दल-बदल की पूर्णत: उपेक्षा करते हुए अल्पमत सरकार को बने रहने दिया। उदाहरण के लिये पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर ने विधान सभा अधिवेशन आहूत करने में मुख्यमंत्री की सलाह की उपेक्षा की।

---

1. ब्रिटेन में यह 200 से अधिक वर्षों से परम्परा है कि सम्राट मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करता है। अन्तिम रूप से इसका अर्थ है कि यद्यपि सम्राट को संसद को आहूत, सत्रावसान व भंग करने का विशेषाधिकार है परन्तु वह अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार इन विशेषाधिकारों का प्रयोग करता है।

पश्चिम बंगाल सरकार के खाद्यमंत्री, पी.सी. घोष द्वारा 16 सदस्यों सहित संयुक्त मोर्चों सरकार से समर्थन वापस ले लिया गया और अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाली सरकार अल्पमत हो गयी।[1] राज्यपाल ने मुख्यमंत्री से विधान सभा की बैठक शीघ्र बुलाने को कहा। राज्यपाल के बार-बार कहने पर मुख्यमंत्री 18 दिसम्बर,1967 को बैठक बुलाने को सहमत हो गये, परन्तु राज्यपाल धर्मवीर बैठक अधिक से अधिक 30 नवम्बर, 1967 तक बुलाना चाहते थे।[2] मंत्रिपरिषद ने राज्यपाल की सलाह को अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप राज्यपाल ने मुख्यमंत्री को बर्खास्त कर दिया और 21 नवम्बर, 1967 को नये मंत्रिमंडल को सत्तारूढ़ कर दिया।

इसके विपरीत नवम्बर, 1967 में हरियाणा के राज्यपाल श्री बी. एन. चक्रवर्ती ने अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह से विधान सभा सत्र आहूत किया। मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह सरकार के अल्पमत हो जाने पर राज्यपाल ने उन्हें तुरन्त शक्ति परीक्षण हेतु विधान सभा सत्र आमंत्रित करने के लिए नहीं कहा। राज्यापाल के अनुसार, ''मैंने मुख्यमंत्री को सुझाव दिया कि शक्ति परीक्षण हेतु उन्हें विधान सभा की बैठक शीघ्र बुलानी चाहिए। परन्तु उनका कहना था कि शक्ति परीक्षण 30 दिसम्बर, को होने वाले उपचुनाव के बाद कराया जाना चाहिए। यह तर्कसंगत बात थी। मैंने अपनी बात पर दबाब नहीं डाला।''[3]

सितम्बर 1967 में, बिहार में राजनीतिक संकट उत्पन्न हुआ, जब एम.पी. सिन्हा के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार से बी.पी. मण्डल समर्थक विधायकों ने समर्थन वापस ले लिया। श्री मंडल ने 'शोषित दल' नामक नये दल का गठन किया। उन्होंने राज्यपाल श्री आयंगर से विधान सभा की आकस्मिक बैठक बुलाने के लिये कहा क्योंकि श्री सिन्हा के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार ने दल-बदल के कारण बहुमत का समर्थन खो दिया था। राज्यपाल ने दल-बदल की उपेक्षा की और कहा कि, ''आप चाहते हैं कि मैं आपके समर्थकों की सूची की जांच करूं। मेरे पास आपकी सूची जाँचने का कोई

---

1. दि हिन्दूस्तान टाइम्स, 16 नवम्बर, 1967
2. दि हिन्दूस्तान टाइम्स, 16 नवम्बर, 1967
3. भवानी सिंह- गवर्नर रोल - आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन, पृष्ठ 86

यन्त्र नहीं है। परन्तु संविधान के अन्तर्गत यह कार्य केवल विधान सभा कर सकती है, यदि विधान सभा का अधिवेशन बुलाकर उसमें उचित रूप से प्रस्ताव लाया जाये।'[1] इस तरह राज्यपाल मूक दर्शक बने रहे और 25 जनवरी, 1968 को विधान सभा में पराजित होने के पश्चात्, संयुक्त मोर्चा सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। श्री आयंगर ने यही कार्यवाही 1970 में भोला पासवान शास्त्री सरकार के साथ की थी, जब वह अल्पमत हो गयी थी और विपक्ष के शीघ्र अधिवेशन बुलाने के आग्रह को राज्यपाल ने अस्वीकार कर दिया था।

पंजाब में व्यापक दल-बदल के कारण 1969 में मध्यावधि चुनाव हुये। अकाली दल (संत ग्रुप) सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में सामने आया और जनसंघ की सहायता से गठबन्धन सरकार बनायी। गुरनाम सिंह मुख्यमंत्री बने परन्तु अधिक समय तक पद पर नहीं रह सके। उनके स्थान पर प्रकाश सिंह बादल मुख्यमंत्री बने और कुछ समय पश्चात् 13 विधायकों ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया। इस पर राज्यपाल डी०सी० पावटे ने मुख्यमंत्री से 30 जून, 1970 को विधान सभा का अधिवेशन शीघ्र बुलाने का सुझाव दिया, ताकि बहुमत का परीक्षण हो सके। बादल सहमत हो गये और 5 अगस्त, 1970 को अधिवेशन आमंत्रित किया गया।

इसी तरह दिसम्बर 1970 में उड़ीसा में श्री एन. सिंह देव मंत्रिमंडल से जन कांग्रेस के समर्थन वापसी पर राज्यपाल ने शीघ्र अधिवेशन आमंत्रित करने को कहा और 15 जनवरी, 1971 की तिथि निश्चित की गयी।

परन्तु ऐसी ही परिस्थितियों में अन्य राज्य के राज्यपालों ने अलग कार्यवाही की। हरियाणा के राज्यपाल ने स्वयं को विपक्षी दलों की आलोचना का केन्द्र बना दिया, जब उन्होंने मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह को शीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिये नहीं कहा। उन्होंने कनाडा की परम्परा का उदाहरण दिया कि सबसे बड़े राजनीतिक दल को यद्यपि पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता फिर भी वह दो वर्ष तक कार्य करता रहता है।[2] हरियाणा में पुनः जब बंसीलाल की सरकार (1968) दल-बदल के कारण

---

1. दि स्टेटसमैन, 14 सितम्बर, 1967, पृष्ठ 7
2. पी. एल. माथुर, रोल ऑफ गवर्नर इन नॉन-कांग्रेस स्टेट्स पृष्ठ 125

अल्पमत हो गयी और 41 विधायकों ने राज्यपाल के सम्मुख उपस्थित हो विधान सभा अधिवेशन बुलाने का आग्रह किया, तब भी राज्यपाल ने उनके आग्रह को स्वीकार नहीं किया, बल्कि कहा कि विधान सभा बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्ततः विधान सभा 27 फरवरी, 1970 को आहूत की गयी यद्यपि लोकसभा अध्यक्ष श्री नीलम संजीव रेड्डी ने लोक सभा में मत व्यक्त किया था कि विधान सभा अधिवेशन एक सप्ताह के अन्दर बुलाना चाहिए।

इसी तरह, उ० प्र० में श्री० सी०बी० गुप्ता मंत्रिमण्डल अल्पमत में हो गया जब कमलापति त्रिपाठी व अन्य मंत्रियों ने 20 नवम्बर, 1969 को त्यागपत्र दे दिया। सी०बी० गुप्ता 10 फरवरी, 1970 को त्यागपत्र देने तक मुख्यमंत्री बने रहे। यह स्पष्ट था कि मंत्रिमंडल अल्पमत में हो गया है और विपक्ष विधान सभा अधिवेशन की मांग कर रहा था, परन्तु अधिवेशन 11 फरवरी, 1970 को आहूत किया गया। राज्यपाल गोपाल रेड्डी का कहना था कि असामान्य परिस्थिति में ही उपरोक्त तिथि के अतिरिक्त विधान सभा अधिवेशन बुलाया जा सकता है। उनका यह भी कहना था कि विधान सभा के बाहर बहुमत के दावे को निश्चित करने के लिये विभिन्न दलों की संख्या गणना का कार्य राज्यपाल का नहीं है।

बी० गोपाल रेड्डी ने दूसरे घटनाक्रम में बिल्कुल अलग ही कार्यवाही की, जब उत्तर प्रदेश में चरण सिंह मुख्य मंत्री थे और गठबन्धन सरकार के एक सहयोगी कांग्रेस ने समर्थन वापस ले लिया। 1970 के इस घटनाक्रम में चरण सिंह ने राज्यपाल से उन कांग्रेसी मंत्रियों को बर्खास्त करने के लिये कहा, जिन्होंने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया था। ऐसा करने के स्थान पर राज्यपाल ने चरण सिंह से अपने मंत्रिमंण्डल का त्याग पत्र देने को कहा। चरण सिंह ने कुछ दिनों बाद होने वाली विधान सभा बैठक में बहुमत परीक्षण तक त्यागपत्र देने से मना कर दिया। राज्यपाल ने इन्तजार नहीं किया और मुख्यमंत्री को बर्खास्त कर दिया तथा राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

इसी तरह 1977 में कर्नाटक के राज्यपाल गोविन्द नारायण और 1983 में पाण्डिचेरी के उप राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की घोषणा की।

इस प्रकार विधान सभा अधिवेशन आहूत करने के सम्बन्ध में अलग-अलग कार्यवाही करने से राज्यपालों का यह अधिकार भी विवादास्पद बन गया है। संविधान विशेषज्ञ इस प्रश्न पर पूर्णतः

विभाजित हैं कि क्या राज्यपाल मुख्यमंत्री को अपना बहुमत सिद्ध करने के लिये विधान सभा अधिवेशन बुलाने के लिये कह सकता है। पहले दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व एल.एम. सिंघवी करते हैं। वह कहते हैं कि, ''यदि इस बात पर विश्वास का कारण हैं कि मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद ने विधान सभा में स्पष्ट बहुमत का समर्थन खो दिया है, तब राज्यपाल अपने विवेकानुसार स्थिति स्पष्ट करने के लिये कदम उठा सकता है। मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद से मत भिन्नता से बाधित न होते हुए राज्यपाल का यह अधिकार है कि वह सदन की बैठक, उस समय व स्थान पर आहूत करें, जिसे वह उचित समझे। इसे वह न्याय संगत तरीके से ऐसा मामला समझ सकता है, जिसमें उससे संविधान के अधीन विवेकानुसार कार्य करने की अपेक्षा की जाती है।''[1]

प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी राज्य स्तरीय प्रशासन के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट में कहा है कि, जब राज्यपाल के पास इस बात पर विश्वास करने के कारण हैं कि मंत्रिमंडल ने बहुमत का समर्थन खो दिया है, उसे विधान सभा अधिवेशन आहूत करके, उसके निर्णय के आधार पर आपना अन्तिम निष्कर्ष निकालना चाहिए। यदि यह प्रश्न उत्पन्न हो कि क्या मंत्रिपरिषद के पास विधान सभा के बहुमत का विश्वास है या नहीं और मुख्यमंत्री राज्यपाल को विधान सभा अधिवेशन आहूत करने की सलाह न दें, तब राज्यपाल यदि ठीक समझे, स्वमेव इस प्रश्न पर निर्णय जानने के लिये सदन का अधिवेशन आहूत कर सकता है।[2]

परन्तु कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो इस विचार से सहमत नहीं हैं। के. सुब्बाराव के अनुसार, ''राज्यपाल को विधान सभा के सदस्यों के दल-बदल या सदन के अधिवेशन के बीच दल-बदलुओं के दावे पर ध्यान नहीं देना चाहिए।''[3] के. सन्थानम का मानना है कि, ''यह सोचना पूर्णतया: गलत है कि

---

1. एम. एस. डाहिया द्वारा उद्धृत एल.एम. सिंघवी का मत, 'गर्वनरस' पावर टू समन दि सेशन', इण्डियन जनरल ऑफ पॉलिटिक्स3 (अलीगढ़) वाल्यूम- V नं०-2 जुलाई- दिसम्बर 1971, पृष्ठ - 55
2. के. सी. मरकन्दन उद्धृत प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिश नं०-11, पृष्ठ 209-210
3. एम. एस. डाहिया द्वारा उद्धृत के. सुब्बाराव का मत, 'गवर्नरस पावर टू समन दि सेशन', 'इण्डियन जनरल ऑफ पॉलिटिक्स (अलीगढ़) वाल्यूम-V नं०-2, जूलाई - दिसम्बर 1971, पृष्ठ 55

राज्यपाल का यह कर्तव्य है कि वह दल की दिन-प्रतिदिन बढ़ती-घटती शक्ति पर ध्यान दे। एक बार मंत्रिपरिषद के गठन के पश्चात् यह राज्य विधान सभा का दायित्व है कि वह निर्णय करें कि उसे बने रहना चाहिए या नहीं। न तो विधि और न परम्परा मंत्रिमण्डल को जिसे अल्पमत का समर्थन प्राप्त है, सरकार चलाने के लिये तब तक प्रतिबन्धित नहीं करती जब तक कि विधान सभा अविश्वास प्रस्ताव या बजट अस्वीकृति के माध्यम से सरकार के प्रति अविश्वास व्यक्त न कर दे। संविधान केवल यह कहता है कि मंत्रिपरिषद विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। इसका अर्थ है कि राज्यपाल को सभा के दो अधिवेशनों के बीच दलों की शक्तियों में होने वाले परिवर्तनों, की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं है।''[1]

इस प्रकार मुख्यमंत्री यह निश्चित करेगा कि विधान सभा अधिवेशन कब आहूत किया जाय। विधि मंत्रालय का भी विचार हैं कि मुख्यमंत्री की इच्छा के विरुद्ध विधान सभा अधिवेशन आहूत करने का राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है। ए. अप्पादुरई का भी मत है कि विधानसभा अधिवेशन आहूत करने का राज्यपाल को स्वविवेकाधिकार नही है।[2]

इन दोनों दृष्टिकोणों में पहला दृष्टिकोण अधिक उचित लगता है। इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकते हैं कि संसदीय परम्परा के अनुसार राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह पर ही सदन आहूत करना चाहिए, परन्तु संसदीय परम्परा इस प्रक्रिया से जुड़े व्यक्तियों से राजनीतिक ईमानदारी व स्वच्छ खेल की मांग भी करती है। यदि मुख्यमंत्री विधान सभा में अवश्यंभावी पराजय की स्थिति में जानबूझकर विलम्बकारी तरीके अपनाये तो ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री विधान सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का उल्लंघन करता है, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 164 (2) में उल्लिखित किया गया है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल जिसने कि संविधान के परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण की

---

1. एम. एस. डाहिया द्वारा उद्धृत के सन्थानम का मत वही, पृष्ठ, - 56 जे. आर. सिवाच द्वारा उद्धृत पॉवरस्र ऑफ दि गवर्नर टु समन दि स्टेट लेजिसलेटर, पृष्ठ-204

2. पी. एल. माधुर- पूर्वोधृत - पृष्ठ 124

शपथ ली है,[1] उससे मूक दर्शक बने रहने की आशा नहीं की जा सकती है। मुख्यमंत्री की राज्यपाल को सलाह देने के अधिकार की उत्पत्ति, उसके विधायिका में बहुमत प्राप्त करने पर निर्भर करता है। जब यह संदेहास्पद हो तो राज्यपाल को स्वयं विधान सभा की बैठक बुलाने की पहल करनी चाहिए और विधान सभा कक्ष में शक्ति परीक्षण द्वारा बहुमत के समर्थन का स्पष्टीकरण करना चाहिए।

प्रायः विधान सभा अधिवेशन आहूत करने के सम्बन्ध में राज्यपालों द्वारा मुख्य मंत्री की सलाह पर कार्य करने या न करने के उदाहरण हैं । राज्यपाल ने या तो मुख्यमंत्री की सलाह पर अधिवेशन बुलाने में विलम्ब किया या फिर अपने स्वविवेक द्वारा अधिवेशन आहूत किया । यह समस्त कार्यवाही विधानसभा कक्ष में बहुमत के परीक्षण के लिये की गयी परन्तु ऐसे भी उदाहरण है जहाँ राज्यपाल ने विपक्षी दलों के दावे को स्वीकार किया और मुख्यमंत्री को सदन में बहुमत परीक्षण का अवसर ही नहीं दिया । ऐसे उदाहरण हैं - आन्ध्र प्रदेश में रामाराव (1984), जम्मू कश्मीर में फारूक अब्दुल्ला (1984), सिक्किम में नर बहादुर भंडारी (1984), उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह (1995) व उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह सरकार (1998)की शक्ति परीक्षण का अवसर दिये बिना बर्खास्त कर दिया गया ।[2] इन सभी मामलों में राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की विधान सभा अधिवेशन बुलाने की सलाह को अस्वीकार किया । इन मामलों में राज्यपालों ने निश्चित रूप में पक्षपात पूर्ण ढंग से कार्य किया ।[3] ऐसे मामलों में उचित यही होगा कि राज्यपाल, बहुमत है या नहीं का सन्देह होने पर तुरन्त विधान सभा का अधिवेशन आहूत करें और उन मामलों में तो अवश्य ही, जहाँ मुख्यमंत्री विधान सभा अधिवेशन आहूत करने का अनुरोध कर रहा हो । यदि मुख्यमंत्री विधान सभा अधिवेशन आहूत करने के लिये अधिक समय की माँग करे तो यह राज्यपाल के स्वविवेक पर छोड़ देना चाहिए कि वह किस तिथि पर अधिवेशन शीघ्र आहूत करे। परन्तु यह निश्चित परम्परा होनी चाहिए कि बहुमत का स्पष्टीकरण

---

1. संविधान का अनुच्छेद 159
2. इन समस्त मामलों का विस्तृत वर्णन चतुर्थ अध्याय में हैं ।
3. यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि नर बहादुर बहुमत में थे और वैकल्पिक सरकार बहुत दिनों तक नहीं चली, रामाराव कुछ समय पश्चात् पुनः मुख्यमंत्री बने और कल्याण सिंह उच्चतम न्यायालय के निर्देशानुसार शक्ति परीक्षण में सफल होने पर पुनः मुख्यमंत्री पद पर असीन हुए ।

विधानसभा निर्णय द्वारा ही किया जाय तभी संसदीय सरकार के उद्देश्यों की सही अर्थों में प्राप्ति हो सकेगी।

विधानसभा का सत्रावसान करना :-

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 174 (2) (क) के अनुसार, ''राज्यपाल, समय-समय पर सदन का या किसी सदन का सत्रावसान कर सकेगा। सत्रावसान एक सत्र की समाप्ति करता है, परन्तु विधान सभा के जीवन काल में बाधा उत्पन्न नहीं करता । विधान सभा के जीवन की समाप्ति केवल उसे भंग करके ही की जा सकती है । सत्रावसान के समय विधान सभा में लम्बित विधेयक व्यपगत नहीं होंगे।''[1] सदन का सत्रावसान किसी भी समय किया जा सकता है। यहाँ तक कि सदन की बैठक चल रही हो, तब भी। राज्यपाल के सत्रावसान के कार्य को किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों, में यह न्याय योग्य नहीं है। पंजाब राज्य बनाम सत्यपाल के मामले में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री एम. हिदायतुल्ला का कहना था कि, ''अनुच्छेद 174 (2)(क) जो राज्यपाल को विधायिका के सत्रावसान का अधिकार प्रदान करता है इस शक्ति पर किसी प्रतिबन्ध को इंगित नहीं करता है । जब विधायिका सत्र में हो और अपने विधायी कार्यों में व्यस्त हो तब राज्यपाल द्वारा ऐसा किया जाना क्या न्यायोचित होगा, यह ऐसा प्रश्न है जो यहाँ विचार किये जाने योग्य नहीं हैं ।''[2]

फरवरी 1967 में, पंजाब में विधान सभा के 104 स्थानों में से 42 कांग्रेस को प्राप्त हुये । अन्य दलों ने मिलकर सरदार गुरनाम सिंह के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा बनाया और उनके नेतृत्व में सरकार गठित की । 22 नवम्बर, 1967 को संयुक्त मोर्चा सरकार से 18 सदस्यों ने समर्थन वापस ले लिया और 'पंजाब जनता पार्टी' नामक नये दल का गठन किया । इस दल ने कांग्रेस के समर्थन से लक्ष्मन सिंह गिल के नेतृत्व में सरकार का गठन किया । विधान सभा 22 फरवरी 1968 को आहूत की गयी । 6 मार्च को स्पीकर के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। स्पीकर ने इसे व्यवस्था के विरूद्ध

---

1. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 196 (3)
2. ए आई. आर. 1969, एस. सी. 903

बताया । सदन में अव्यवस्था उत्पन्न होने पर स्पीकर ने दो माह के लिये सदन स्थगित कर दिया।[1] राज्यपाल ने सदन का सत्रावसान कर उसे पुन: आहूत किया ।

सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त मामले में निर्णय दिया कि, ''आपात स्थितियों में राज्यपाल द्वारा इस शक्ति का प्रयोग करना पूर्णतया: समझने योग्य है और यह शक्ति का दुरूपयोग नहीं है। स्पीकर द्वारा सदन का 31 मार्च के बाद तक 2 माह का स्थगन करना वित्त विधेयक के लिये असम्भव हो जायेगा क्योंकि यह 31 मार्च से पूर्व पारित होता है । राज्यपाल ने सदन का सत्रावसान करके स्थगन से मुक्ति पा ली है । राज्यपाल किसी भी समय सदन का सत्रावसान कर सकता है। वह ऐसा स्वयं के द्वारा अध्यादेश प्रख्यापित करने के उद्देश्य से भी कर सकता है, क्योंकि अनुच्छेद 213 के अन्तर्गत अध्यादेश विधायिका के सत्र में न होने पर ही प्रख्यापित किये जा सकते हैं । विधायिका के सत्रावसान के पश्चात् अध्यादेश प्रख्यापित करना वैध है।''[2]

अनुच्छेद 174 (2) जो राज्यपाल को विधायिका के सत्रावसान का अधिकार प्रदान करता है, यह कहीं स्पष्ट नहीं करता है कि राज्यपाल किस तरीके से अपने आदेश को ज्ञात कराये। उसके आदेश लोक सूचना के माध्यम से ज्ञात कराये जा सकते हैं जिसका अर्थ है कि उन्हें सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाय। यह आवश्यक नहीं है कि आदेश प्रत्येक सदस्य को व्यक्तिगत रूप से प्राप्त होने पर ही प्रभावी होगा ।[3]

राज्यपाल को उस स्थिति में क्या करना चाहिए, जब मुख्य मंत्री यह जानते हुए कि उसने बहुमत का समर्थन खो दिया है, राज्यपाल को विधायिका के सत्रावसान की सलाह दे ? क्या राज्यपाल को ऐसी स्थिति में भी मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करना चाहिए ? या क्या राज्यपाल ऐसी परिस्थिति में मुख्यमंत्री द्वारा दी गयी सलाह को अस्वीकृत कर सकता है? यह नि:सन्देह सत्य है कि सामान्य परिस्थितियों में मुख्यमंत्री की सलाह पर सत्रावसान की परम्परा है । परन्तु जब राज्यपाल को

---

1. ए.आई. आर. 1969, एस.सी. पृष्ठ 907
2. ए.आई. आर. 1969 एस.सी. 903
3. ए.आई.आर. पूर्वोधृत और पी.एल. माथुर - पूर्वोधृत पृष्ठ 130

यह आभास हो कि मुख्यमंत्री अल्पमत में हो गये हैं और वह सत्रावसान के माध्यम से अविश्वास प्रस्ताव से बचना चाहते हैं, उस स्थिति में राज्यपाल मुख्य मंत्री की सलाह की अवहेलना कर सकता है।

सत्रावसान की शक्ति के सम्बन्ध में राज्यपालों की भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न भूमिका रही है। जुलाई 1967 में, मध्य प्रदेश में सत्ताधारी कांग्रेस दल में व्यापक दल-बदल के कारण राज्यापाल श्री के.सी. रेड्डी ने विधायिका का सत्रावसान कर दिया जो उस समय शिक्षा की अनुदान माँगों पर चर्चा कर रही थी ।[1] ऐसा भी कहा गया कि राज्यपाल ने सत्रावसान इसलिए किया ताकि असन्तुष्टों को वापस कांग्रेस में लाया जा सके और विपक्ष को कमजोर किया जा सके। यह भी आरोप लगाया गया कि राज्यपाल ने केन्द्र के निर्देशानुसार कार्य किया है। परन्तु तत्कालीन गृह मंत्री श्री वाई.बी. चाव्हाण ने आरोपों को गलत बताते हुये कहा कि राज्य के राज्यपाल ने संवैधानिक रूप से मुख्यमंत्री की सलाह पर कार्य किया है।[2]

हरियाणा में, कॉंग्रेस दल से 15 विधायकों ने त्यागपत्र दे दिया और संयुक्त मोर्चा में शामिल हो गये। संयुक्त मोर्चे ने 42 विधायकों के समर्थन का दावा किया और मुख्यमंत्री बंसी लाल को हटाने की मांग की । राज्यपाल द्वारा त्वरित कार्यवाही न करने पर हरियाणा विधान सभा के स्पीकर ने बंसी लाल सरकार के विरूद्ध अविश्वास की नोटिस स्वीकृत कर ली और 3 मार्च, 1970 को वाद विवाद की तिथि निर्धारित की । उसी दिन (27 फरवरी, 1970) को हरियाणा विधान सभा अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दी गयी,[3] और राज्यपाल बी. एन. चक्रवर्ती ने 28 फरवरी , 1970 को हरियाणा विधान सभा का सत्रावसान कर दिया।[4]

---

1. एशियन रिकार्डर, 20-26 अगस्त 1967, पृष्ठ 7870
2. दि टाइम्स आफ इण्डिया, 22 जुलाई 1967
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 28 फरवरी, 1970
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 1 मार्च, 1970

राज्यपाल की कार्यवाही की सभी विपक्षी दलों ने निन्दा की क्योंकि यह संसदीय मानको के विपरीत थी । विधान सभा में विपक्ष के नेता राव बीरेन्द्र सिंह ने सरकार पर ''प्रजातंत्र की हत्या'' का आरोप लगाया । केन्द्र ने राज्यपाल की कार्यवाही को इस आधार पर उचित ठहराया कि राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह मानने को बाध्य है ।[1] यह वास्तव में आश्चर्यजनक तथ्य था कि हरियाणा के राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह मानना बाध्यकारी था परन्तु गैर कांग्रेसी राज्यों के सम्बन्ध में केन्द्र ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया । उदाहरण के लिये, पश्चिम बंगाल में राज्यपाल ने मुख्यमंत्री को बहुमत सिद्ध करने के लिए बाध्य किया । पंजाब में मुख्यमंत्री गुरनाम सिंह की विधान सभा भंग करने की सलाह को अस्वीकार कर दिया गया । उत्तर प्रदेश में चरणसिंह सरकार द्वारा बहुमत सिद्ध करने हेतु विधान सभा अधिवेशन आहूत करने की मांग अस्वीकार की गयी । उपरोक्त मामलों में, राज्यपाल द्वारा उचित यही होता कि वह मुख्यमंत्री से अविश्वास प्रस्ताव का सामना करने के लिये कहते।

पंजाब में, मार्च 1968 में, विधान सभा स्पीकर ने अपने विरूद्ध सत्तारूढ़ दल द्वारा प्रस्तावित अविश्वास प्रस्ताव से बचने के लिये, बजट सत्र के समय विधान सभा दो माह के लिये स्थगित कर दी। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह पर विधान सभा का सत्रावसान कर दिया यद्यपि उन्हें अविश्वास प्रस्ताव की जानकारी थी ।[2] इसी तरह पुनः पंजाब के विधान सभा स्पीकर ने 30 मार्च, 1970 को सदन को अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया और राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह पर 10 अप्रैल 1970 को उसका सत्रावसान कर दिया, जब कि उस समय सदन में स्पीकर के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव लम्बित था ।[3]

तमिलनाडु में भी राज्यपाल श्री के.के. शाह ने मुख्यमंत्री की सलाह पर विधान सभा का सत्रावसान कर दिया, यद्यपि स्पीकर को हटाने की नोटिस सदन में लम्बित थी । मुख्यमंत्री का तर्क था

---

1. पी.एल. माथुर - रोल ऑफ गवर्नर इन नॉन कांग्रेस स्टेट्स - पृष्ठ 132
2. एन.एस. गहलौत - स्टेट गवर्नरस इन इण्डिया, ट्रेन्डस एण्ड इश्यूज, पृष्ठ 116
3. सिबरंजन चैटर्जी - गवर्नरस रोल इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन पृष्ठ 61

कि सत्रावसान इसलिये किया गया ताकि सदन को पुनः आहूत करने का मार्ग प्रशस्त हो सके, क्योंकि स्पीकर ने सदन स्थगित कर, संवैधानिक समस्या उत्पन्न कर दी थी ।[1]

जम्मू कश्मीर में मुख्यमंत्री जी.एम. सादिक और प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष मीर कासिम के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गये । मीर कासिम ने प्रदेश अध्यक्ष पद तथा राज्य विधान सभा की सदस्यता, दोनों से त्याग पत्र दे दिया । 12 मार्च, 1970 को 35 विधायकों ने कांग्रेस सरकार के नेता जी.एम. सादिक से समर्थन वापस ले लिया । कांग्रेस को उस समय 71 सदस्यों के सदन में 61 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था ।[2] सत्ताधारी दल की अन्दरूनी कलह को दूर करने के लिये राज्यपाल भगवान सहाय ने मुख्यमंत्री की सलाह पर 13 मार्च ,1970 को विधान सभा का सत्रावसान कर दिया ।[3] यह सम्भवतः इस दृष्टि से भी किया गया था, जिससे सादिक सरकार को गिरने से बचाया जा सके ।

उत्तर प्रदेश में 9 जनवरी, 1968 को राज्यपाल बी० गोपाल रेड्डी ने मुख्यमंत्री चरण सिंह की सलाह पर विधान सभा का सत्रावसान कर दिया, जब संयुक्त विधायक दल से सी.पी.आई (एम) व एस.एस.पी. की समर्थन वापसी से सरकार अल्पमत हो गयी थी। इन दलों ने आरोप लगाया था कि सरकार 19 सूत्रीय कार्यक्रम लागू करने में असफल रही है । यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सत्रावसान के समय सदन में स्पीकर व डिप्टी स्पीकर के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव लम्बित थे ।[4]

असम में, श्रीमती अनवरा तैमूर के नेतृत्व वाली कांग्रेस (आई) सरकार पर उस समय संकट आ गया जब 30 मार्च ,1981 को बजट मांगों पर विपक्ष ने दो कटौती प्रस्ताव मौखिक मत द्वारा प्रेषित किए । प्रस्ताव के पास होते ही विपक्ष ने मंत्रिमंडल के त्याग पत्र की मांग की, क्योंकि सदन को मंत्रिमंडल में 'अविश्वास' था। 31 मार्च, 1981 को विनियोग विधेयक 1981 पास किये बिना विधानसभा अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दी गयी । उसी दिन राज्यपाल द्वारा सदन का

---

1. एन. एस. गहलौत – पूर्वोधृत पृष्ठ संख्या 116
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 13 मार्च 1970
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 14 मार्च 1970
4. पी. एल. माथुर– पूर्वोधृत पृष्ठ 133

सत्रावसान कर दिया गया । राज्यपाल की कार्यवाही की आलोचना की गयी। सदन के सत्रावसान के समय सदन में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव भी पारित नहीं हुआ था । यह आरोप लगाया गया कि सदन का अचानक सत्रावसान इसलिये किया गया ताकि कांग्रेस (आई) की अल्पमत सरकार को बचाया जा सके ।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि विधान सभा क सत्रावसान करते समय राज्यपालों ने मुख्यमंत्री की सलाह से कार्य किया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव लम्बित है तब भी क्या राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह से कार्य करना चाहिए। क्या राज्यपाल को अल्पमत मंत्रिमंडल की सत्रावसान की सलाह को स्वीकार कर लेना चाहिए ? क्या राज्यपाल सदैव मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिये बाध्य है ?

मंत्रिपरिषद का कार्य राज्यपाल को उनके कार्यों में सहायता व सलाह देने का है, उन मामलों को छोड़कर जिनमें राज्यपालों द्वारा संविधान के अधीन स्वविवेकानुसार कार्य करना अपेक्षित है।[1] संविधान यह कहीं स्पष्ट नहीं करता है कि कौन सा विशिष्ट कार्य राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से करना है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में वह स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। सदन का सत्रावसान भी उसी श्रेणी में आता है । यदि राज्यपाल को लगे कि मंत्रिमंडल ने बहुमत का समर्थन खो दिया है और वह समर्थन जुटाने के लिये समय चाहती है एवं इसे दृष्टिगत रखते हुये सत्रावसान की सलाह देती है तो राज्यपाल को इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए । संसदीय परम्परा के अनुसार यदि मंत्रिपरिषद की प्रत्येक सलाह राज्यपाल के लिये बाध्यकारी बना दी जाय तो मंत्रिमंडल प्रत्येक अविश्वास प्रस्ताव के समय सदन का सत्रावसान करवा कर अनुचित लाभ उठाना चाहेगा । इसलिये प्रत्येक स्थिति में राज्यपाल मंत्रिमंडल की सलाह मानने के लिये बाध्य नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या राज्यपाल का सदन के सत्रावसान का अधिकार अप्रतिबन्धित है? संवैधानिक दृष्टिकोण से तो यह सत्य प्रतीत हो सकता है, परन्तु उसकी सदन के सत्रावसान की

---

1. अनुच्छेद 163 (1)

कार्यवाही को पक्षपात व संवैधानिक शक्तियों के दुरूपयोग के आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है।[1] इस प्रकार सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुरूप कार्य करता है, परन्तु असामान्य परिस्थितियों में वह उनकी उपेक्षा भी कर सकता है। जहाँ तक अविश्वास प्रस्ताव के लम्बित होने पर सदन के सत्रावसान का मामला है, राज्यपाल को मंत्रिमंडल की सलाह को अस्वीकार कर देना चाहिए।[2]

विधान सभा भंग करना :-

संविधान विशेषज्ञों द्वारा आलोचना का केन्द्र बनने वाली राज्यपाल की अन्य शक्ति विधान सभा भंग करने की है । विधान सभा भंग करने का विशेषाधिकार काफी जटिल समस्या है। सामान्य परिस्थितियों में विधान सभा राज्यपाल द्वारा सामान्य कार्यकाल (5 वर्ष) पूर्ण करने से पूर्व भंग नहीं की जाती है। परन्तु असामान्य परिस्थितियों में जब मंत्रिपरिषद बहुमत का समर्थन खो दे और कोई दूसरा राजनीतिक दल या दलों का गठबन्धन वैकल्पिक स्थिर सरकार प्रदान करने में समर्थ न हो तो, ऐसी राजनीतिक परिस्थितियों में राज्यपाल विधान सभा भंग कर सकता है। प्रो० एम. वी. पायली का विचार है कि, ''निर्धारित जीवन काल पूर्ण करने से पहले विधान सभा को भंग करना सामान्य प्रथा नहीं है। मतदाताओं की अपील और राजनीतिक अस्थिरता की समस्या को सुलझाने के दृष्टिकोण से, पूर्व तिथि को विधानसभा भंग करना संसदीय सरकार की व्यवस्था में स्वीकृति सिद्धान्त है।''[3]

संसदीय शासन व्यवस्था में विधायिका को भंग करने का विशेषाधिकार राज्याध्यक्ष को प्राप्त है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 174 (2) (ब) राज्यपाल को विधानसभा विघटित करने का अधिकार प्रदान करता है। राज्यपाल की इस शक्ति को नियमित करने का संविधान में कोई विशिष्ट प्रावधान नहीं है और न ही इस सम्बन्ध में कोई परम्परा ही विकसित हो पायी है । इसलिए विधानसभा भंग करने की राज्यपाल की शक्ति विवाद का केन्द्र-बिन्दु है और विशेष रूप से विपक्ष द्वारा शासित और गठबन्धन सरकारों वाले राज्यों में यह विवाद विशेष रूप से उत्पन्न होता है ।

---

1. पंजाब राज्य बनाम सतपाल डंग, ए.आई.आर. 1969, एस.सी. 903

2. राज्यपालों की समिति व सरकारिया आयोग का भी यही मत है।

3. पी. एल. माथुर द्वारा उद्घृत - 'रोल ऑफ गवर्नरस इन नॉन कांग्रेस स्टेट्स पृष्ठ 136

भारत में, ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था को अंगीकृत क्रिया गया है । ब्रिटेन में इस विषय पर कि क्या सम्राट कॉमन सभा को भंग करने के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री की सलाह से बाध्य है, दो प्रकार की विचारधाराएं प्रचलित है। एक विचारधारा के अनुसार सम्राट को प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार कॉमन सभा को भंग कर देना चाहिए । इस मत के समर्थक जैनिग्स,[1] और लास्की[2] हैं। दूसरी विचार धारा के अनुसार सम्राट को इस सम्बन्ध में स्वविवेक का प्रयोग करने का अधिकार है। इस मत के समर्थक प्रो. कीथ और जॉन मेरियट हैं । परन्तु ब्रिटेन में अब यह सुस्थापित परम्परा बन चुकी है कि सम्राट प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार ही कॉमन सभा को भंग कर सकता है।

जहां तक भारतीय शासन व्यवस्था का सम्बन्ध है, भारत की संविधान सभा में इस विषय पर व्यापक चर्चा हुयी थी । उस समय ब्रिटिश परम्परा का स्मरण किया गया था, क्योंकि वास्तव में वह काफी प्रासंगिक थी। राष्ट्रपति की शक्तियों पर चर्चा करते समय डा अम्बेडकर का कहना था कि ऐसा कोई मामला नहीं है, जहाँ राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री या अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना कार्य करना है । उन्होंने आगे कहा कि हालाँकि संसदीय शासन व्यवस्था में केवल दो विशेषाधिकार हैं, जिनका प्रयोग सम्राट या राज्याध्यक्ष कर सकता है। एक प्रधानमंत्री की नियुक्ति और दूसरा संसद को भंग करना ।[3]

अम्बेडकर का मत था कि, संसद को भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। प्रो. के. टी. शाह ने इसका विरोध किया और इस सम्बन्ध में संशोधन प्रस्तावित[4] किया, परन्तु डा. अम्बेडकर ने संशोधन को अस्वीकृत करते हुए ब्रिटिश परम्परा का उदाहरण दिया[5] और इस

---

1. एन. एस. गहलौत – पूर्वोधृत पृष्ठ –120, पर जैनिंग्स व लॉस्की के विचार उदघृत ।
2. प्रो. कीथ व जॉन मेरियट के विचार गवर्नर एण्ड डिसुल्यूशन ऑफ दि लेजिस्लेटिव असेम्बली – रविन्द्र नाथ मिश्रा द्वारा उदधृत यू. एन. गुप्ता - 'फेडरल सिस्टम स्टेट आटोनामी एण्ड सेन्टर रिलेशन्स' पृष्ठ 375
3. एन. एस. गहलौत द्वारा उदघृत - पूर्वोधृत – पृष्ठ 122
4. कान्स्टीट्यूशन असेम्बली डिबेट, वाल्यूम आठ, पृष्ठ 100
5. कान्स्टीट्यूशन असेम्बली डिबेट, वाल्यूम आठ, पृष्ठ 106-107

प्रकार संविधान निर्माता यद्यपि यह चाहते थे कि राष्ट्रपति और राज्यपाल अपनी मंत्रीपरिषद की सलाह से कार्य करे, परन्तु कुछ परिस्थितियों में उन्हें स्वविवेक का भी अधिकार प्रदान किया गया। विधायिका को भंग करने का अधिकार उनमें से एक है।

चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् जब कई राज्यों में बहुदलीय गठ बन्धन सरकारें बनीं, तब राज्य विधानसभा भंग करने में राज्यपाल की भूमिका अत्यधिक विवाद का केन्द्र-बिन्दु बनी। गठबन्धन सरकारों की आन्तरिक एकता व स्थिरता की कमी व अत्यधिक दल बदल के कारण ही राज्यपालों ने इस शक्ति का भिन्न भिन्न तरीकों से प्रयोग किया । कुछ राज्यों में राज्यपालों ने मुख्यमंत्री की सलाह पर विधान सभा को भंग किया तो कुछ राज्यों में राज्यपालों ने मुख्यमंत्री की राज्य विधान सभा भंग करने की सलाह को अस्वीकार कर दिया ।

1967 से पूर्व केवल एक मामला सामने आया था, जब त्रावणकोर कोचीन के राज प्रमुख ने 1955 में मुख्यमंत्री पट्टम थानु पिल्लई की विधानसभा भंग करने की सलाह को अस्वीकार कर दिया था।[1]

1967 के पश्चात् कई उदाहरण हैं जिनमें राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की विधानसभा भंग करने की सलाह को अस्वीकृत कर दिया ।

29 जुलाई, 1967 को मध्य प्रदेश में श्री डी.पी. मिश्रा के नेतृत्व वाली कांग्रेस मंत्रिमंडल का पतन हो गया । लगभग तीन दर्जन कांग्रेसी विधायकों ने दल बदल कर लिया और डी.पी. मिश्रा मंत्रिमंडल अल्पमत हो गया । अल्पमत होने पर श्री मिश्रा ने त्याग पत्र देने के स्थान पर राज्यपाल को पहले विधानसभा के सत्रावसान की सलाह दी और जब वह बहुमत का समर्थन प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाये, तो विधानसभा भंग करने की सलाह दी । परन्तु तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष श्री के. कामराज के हस्तक्षेप के कारण श्री मिश्रा ने मध्यावधि चुनाव कराने का दबाव नहीं डाला और अपना त्याग पत्र दे दिया। श्री गोविन्द नारायण सिंह के नेतृत्व में नयी गठबन्धन सरकार का गठन हुआ।[2]

---

1. सिबरंजन चैटर्जी- पूर्वाधृत, पृष्ठ 62

2. रवीन्द्र मिश्रा- गवर्नर एण्ड डिसोल्यूशन ऑफ दि लेजिस्लेटिव असेम्बनी, पूर्वोधृत, पृष्ठ 371-372

इसी प्रकार की समस्या पंजाब में उत्पन्न हुई। श्री लक्ष्मन सिंह गिल के नेतृत्व में कुछ विधायकों ने सत्ताधारी संयुक्त मोर्चा से दल बदल कर लिया। मुख्यमंत्री श्री गुरनाम सिंह ने 22 नवम्बर, 1967 को त्याग पत्र दे दिया और राज्यपाल को विधान सभा भंग करके मध्यावधि चुनाव कराने की सलाह दी। राज्यपाल श्री डी.सी. पावटे ने सलाह अस्वीकृत करते हुए पंजाब जनता पार्टी के नेता लक्ष्मन सिंह गिल को सरकार गठित करने हेतु आमंत्रित किया जो विधान सभा में कांग्रेस के समर्थन का दावा कर रहे थे। श्री गिल 25 नवम्बर 1967 को मुख्यमंत्री बने । गुरनाम सिंह की विधान सभा भंग करने व मध्यावधि चुनाव की मांग की अस्वीकार करते हुए राज्यपाल ने स्पष्ट कहा था कि वह मुख्यमंत्री की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।[1]

उत्तर प्रदेश में श्री सी. बी. गुप्ता ने अल्पमत होने पर मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया । यह स्थिति तब उत्पन्न हुयी थी जब चरण सिंह 17 समर्थकों सहित विपक्षी दलों के गठबन्धन (एस. वी. डी.) से जाकर मिल गये । श्री चरण सिंह 3 अप्रैल, 1967 को राज्य के मुख्यमंत्री बने।[2] कुछ ही महीनों में एस. वी.डी. के घटक दलों में आन्तरिक मतभेद सामने आये और एस. एस. पी. तथा सी. पी. आई. ने एस. वी. डी. से समर्थन वापस ले लिया। 17 फरवरी, 1968 को चरण सिंह ने त्याग पत्र दे दिया और राज्यपाल श्री बी. गोपाल रेड्डी को विधान सभा भंग करने व मध्यावधि चुनाव कराने की सलाह दी। राज्यपाल ने सलाह मानने से मना कर दिया एवं कहा कि ऐसी स्थिति अभी उत्पन्न नहीं हुई है कि विधान सभा भंग करनी पड़े। राज्यपाल ने वैकल्पिक सरकार के गठन हेतु पर्याप्त समय दिया ताकि नयी रजनीतिक सम्बद्धता से स्थिर सरकार के गठन में सहायता मिले । जब एस.वी.डी. अपने सभी घटकों को स्वीकृत नेता का चुनाव नहीं कर पायी और दूसरे दल भी सरकार बनाने में सफल नहीं हो सके तब उत्तर प्रदेश में 25 फरवरी, 1968 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, परन्तु विधान सभा निलम्बित रखी गयी।[3] यह आशा की गयी थी कि राज्य में स्थिर सरकार का शीघ्र गठन हो सकेगा ।

---

1. एशियन रिकार्डर , 10 दिसम्बर -16 दिसम्बर 1967, पृष्ठ 8064-65
2. एशियन रिकार्डर , 30 अप्रैल, 6 मई, 1967 पृष्ठ 7672
3. एशियन रिकार्डर , 11 मार्च -17 मार्च 1968, पृष्ठ 8219

जब यह महसूस किया गया कि स्थिर वैकल्पिक सरकार के गठन की सम्भावना बहुत क्षीण है, तब 5 अप्रैल, 1968 को विधान सभा भंग कर दी गयी।[1] इस प्रकार राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह नहीं मानी और सरकार गठन की सभी सम्भावनाओं के समापन होने पर ही विधान सभा भंग की ।

चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् बिहार में भी गैर कांग्रेसी गठबन्धन सरकार का गठन हुआ। गैर कांग्रेसी समूह के नेता महामाया प्रसाद सिन्हा को 5 मार्च, 1967 को मुख्य मंत्री बनाया गया ।[2] दस महीने के अन्दर ही कई सदस्यों के कांग्रेस में शामिल हो जाने से सरकार के समर्थन में कमी आई। बिहार सरकार के एक मंत्री श्री बी.पी. मण्डल ने सत्ता पक्ष से दल बदल कर नये 'शोषित दल' का गठन किया। कांग्रेसी विधायकों ने शोषित दल का समर्थन किया । 25 जनवरी,1968 को कांग्रेस शोषित दल के सहयोग से सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो गया । पराजित मुख्यमंत्री ने विधान सभा भंग करने व नये निर्वाचन कराने की मांग की। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह नहीं मानी, और शोषित दल के एस. पी. सिंह को मुख्यमंत्री बनाकर बी. पी. मण्डल को विधान परिषद में मनोनीत कर दिया। तत्पश्चात् श्री सिंह ने श्री मण्डल के पक्ष में त्याग पत्र दे दिया अन्तत: 1 फरवरी, 1968 को कांग्रेस के समर्थन से बी.पी. मण्डल सरकार का गठन हुआ ।[3] इस मामले में राज्यपाल ने पराजित मुख्य मंत्री की सलाह स्वीकार न करके किसी स्थापित सिद्धान्त का पालन नहीं किया था। राज्यपाल पूर्णतया केन्द्र के निर्देश में कांग्रेस समर्थित सरकार के गठन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि उन्होंने श्री मंडल का राज्य विधान परिषद में मनोनयन ही केवल इसी उद्देश्य से किया था।

मध्य प्रदेश में पुन: राजनीतिक संकट उत्पन्न हुआ जब 10 मार्च, 1969 को जी. एन. सिंह ने मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया।[4] राजा नरेश चन्द्र को नया नेता चुना गया और उन्होंने 13 मार्च,

---

1. एशियन रिकार्डर , 6 मई -12 मई 1968, पृष्ठ 8300
2. एशियन रिकार्डर , 2 अप्रैल -8 अप्रैल 1967, पृष्ठ 7627
3. एशियन रिकार्डर , 19 - 25 फरवरी, 1968, पृष्ठ 8185
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स ,11 मार्च, 1969

1969 को मुख्यमंत्री पद की शपथ ली।[1] 'नवगठित प्रोग्रेसिव लेजिस्लेटिव ग्रूप' के 22 विधायकों ने एस. वी. डी. से नाता तोड़ कर काँग्रेस को समर्थन प्रदान कर दिया। इन विधायकों के अतिरिक्त अन्य कई विधायकों ने भी समर्थन वापस ले लिया। 20 मार्च, 1969 को विधान सभा बैठक की तिथि निश्चित की गयी थी परन्तु एक दिन पूर्व ही राजा नरेश चन्द्र ने त्याग पत्र दे दिया एवं राज्यपाल श्री के. सी. रेड्डी से विधान सभा भंग करने का आग्रह किया। राज्यपाल ने विधान सभा भंग कर मध्यावधि चुनाव की सलाह को अस्वीकार कर दिया और वैकल्पिक सरकार के गठन की संभावनाओं का पता लगाया। कांग्रेस विधायी दल के नेता श्री एस. सी. शुक्ला को सरकार गठन करने के लिए आमंत्रित किया और 26 मार्च, 1969 को श्री शुक्ला ने मुख्यमंत्री पद की शपथ ग्रहण की।[2] राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह न मानकर उचित ही किया क्योंकि वैकल्पिक सरकार के गठन की सम्भावना मौजूद थी। राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह मानने के लिए इसलिए भी बाध्य नहीं थे, क्योंकि राजा नरेश चन्द्र न तो विधायिका के सदस्य थे और न ही उनकी मुख्यमंत्री पद की स्थिति का विधान सभा कक्ष में परीक्षण ही हुआ था।

उड़ीसा में, 5 जनवरी, 1971 को जन कांग्रेस ने स्वतंत्र दल के नेतृत्व वाली गठबन्धन सरकार से समर्थन वापस ले लिया और इस दल के मंत्रियों ने त्याग पत्र दे दिया। स्वतंत्र-जन कांग्रेस गठबन्धन सरकार के मुख्यमंत्री आर. एन. सिंह देव ने 9 जनवरी को त्याग पत्र दे दिया, और विधान सभा भंग करने की सलाह दी । इसके पीछे उद्देश्य संसदीय और विधान सभा निर्वाचन को एक साथ कराना था। जैसे ही मुख्यमंत्री ने त्याग पत्र दिया राज्यपाल ने तुरन्त ही त्याग पत्र स्वीकृत कर लिया और बड़े ही गैर पारम्परिक तरीके से त्याग पत्र स्वीकृति का समय रात्रि 8.30 भी रिकार्ड कर लिया। उस समय सिंह देव अपने आवास पर वापसी के पश्चात्, राज्यपाल को दी गयी अपनी संस्तुतियों के सम्बन्ध में मंत्रिमंडल की स्वीकृति लेने हेतु आपात बैठक कर रहे थे । मंत्रिमंडल की स्वीकृति 8.45 पर निश्चित हुई, परन्तु राज्यपाल ने सिंह देव की विधान सभा भंग करने की सलाह को अस्वीकार कर

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स ,14 मार्च, 1969

2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 27 मार्च, 1969

दिया। राज्यपाल का तर्क था कि मुख्यमंत्री ने मंत्रिमंडल की पूर्व में स्वीकृति न लेकर नियमों का उल्लंघन किया है। सबसे आश्चर्यजनक तथ्य यह था कि उन्होनें कामचलाऊ सरकार की भी नियुक्ति नहीं की, क्योंकि सिंह देव के त्याग पत्र के पश्चात्, राष्ट्रपति शासन लागू नहीं हुआ था। उन्होंने स्वयं सरकार का दायित्व ग्रहण कर लिया। यह निश्चित ही अपरम्परागत था। 11 जनवरी, 1971 की सांय की राज्यपाल की संस्तुति पर राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा हुयी। विधान सभा को भंग करने के स्थान पर निलम्बित रखा गया। राज्यपाल का कहना था कि वह वैकल्पिक सरकार के गठन की संभावनाओं की खोज करेंगे, जबकि स्वतंत्र जन कांग्रेस तथा उत्कल कांग्रेस के लगभग सौ (100) विधायक तुरन्त ही विधान सभा भंग करने की मांग कर रहे थे । राज्यपाल 14 जनवरी को दिल्ली गये और 18 जनवरी, को वापस लौटे। दिल्ली से वापसी के तुरन्त बाद उन्होंने विभिन्न राजनीतिक दलों से वैकल्पिक सरकार के गठन हेतु विचार विमर्श किया। अन्तिम उपाय के रूप में उन्होंने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजी कि वैकल्पिक सरकार के गठन की संभावना नहीं है। अन्त में, 22 जनवरी को विधान सभा भंग कर दी गयी।[1]

गुजरात में, डिप्टी स्पीकर सहित कुछ विधायकों द्वारा सरकार से समर्थन वापसी के कारण गुजरात सरकार 10 मई, 1971 को संकट में पड़ गई।[2] 11 मई को मंत्रिमंडल ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित करते हुये राज्यपाल को विधान सभा भंग करने व शीघ्र मध्यावधि चुनाव कराने की सलाह दी। मुख्यमंत्री ने अपना त्यागपत्र नहीं दिया था। राज्यपाल श्रीमन नारायण ने मंत्रिमण्डल की सलाह अस्वीकार कर दी और तर्क दिया कि चूंकि बजट पास नहीं हुआ है और इसे जुलाई के अन्त तक पास होना है, इसलिये विधान सभा भंग करना उचित नहीं है। परन्तु 12 मई को राष्ट्रपति को प्रेषित अपनी रिपोर्ट में राज्यपाल ने लिखा कि राज्य में कोई भी राजनीतिक दल या दलों का संगठन सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है, अतएव राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर देना चाहिए। इस रिपोर्ट के अधार पर

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 23 जनवरी, 1971
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स ,11 मई, 1971

गुजरात विधान सभा भंग कर दी गयी और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।[1] इस प्रकार राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह नहीं मानी एवं स्थिति का आकलन करने के पश्चात् स्वविवेक से विधानसभा भंग करने की कार्यवाही की। दूसरी तरफ पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने गठबन्धन सरकार के मुख्यमंत्री श्री अजय मुखर्जी की विधान सभा भंग करने की सलाह को स्वीकार कर लिया।[2]

बिहार की संयुक्त विधायक दल (एस.वी.डी.) सरकार पर दल-बदल के कारण 1971 में पुनः संकट उत्पन्न हुआ। 1 जून, 1971 को बजट सत्र के कुछ घण्टों पहले मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर ने राज्यपाल को अपनी मंत्रिपरिषद का त्याग पत्र दिया और राज्यपाल से विधान सभा भंग करके जनता से नया जनादेश प्राप्त करने हेतु निर्वाचन कराने की मांग की। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया, परन्तु मध्यावधि चुनाव की माँग अस्वीकार कर दी।[3] राज्य में भोला पासवान शास्त्री नये मुख्यमंत्री बने और इन्हीं राज्यपाल (श्री डी. के. बरुआ) ने 27 दिसम्बर, 1971 को श्री शास्त्री की सलाह पर विधान सभा भंग कर दी।[4] इसी तरह पंजाब में 17 विधान सभा सदस्यों ने प्रकाश सिंह बादल की अकाली दल सरकार से समर्थन वापस ले लिया। बादल ने तुरन्त त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल को विधान सभा भंग करने की सलाह दी। राज्यपाल ने सलाह के अनुसार कार्य किया और 13 जून, 1971 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।[5]

मार्च 1973 में, उड़ीसा की नंदनी सत्पथी के नेतृत्व वाली कांग्रेस मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल श्री बी.डी. जत्ती ने मुख्यमंत्री की सलाह को स्वीकार करते हुए, राज्य विधान सभा भंग कर दी, जबकि प्रगति दल के नेता श्री बीजू पटनायक ने बहुमत के समर्थन का दावा करते हुए

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 14 मई, 1971
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 26 जून, 1971
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 2 जून, 1971
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 29 दिसम्बर, 1971
5. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 14 जून, 1971

राज्यपाल से मंत्रिमंडल गठित करने का अवसर देने का आग्रह किया था।[1] राज्यपाल ने राष्ट्रपति को प्रेषित रिपोर्ट में अपनी कार्यवाही उचित बताते हुए कहा कि इस राज्य में पद की इच्छा से या व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से विधान सभा में राजनीतिक दल-बदल सामान्य घटना हो गयी है और इसने राज्य के राजनीतिक जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया है। यह प्रजातांत्रिक कार्य प्रणाली के लिए हानिकारक है।[2] राज्यपाल का यह कथन तार्किक लगता है और इस तर्क के आधार पर राज्य विधान सभा को 1972 मे ही भंग कर देना चाहिए था, जब कुछ विधायकों द्वारा कांग्रेस से दल - बदल के कारण राज्य की गैर-कांग्रेसी संयुक्त मोर्चा सरकार का श्री विश्वनाथ दास के नेतृत्व में पतन हो गया था।[3] उस समय नन्दिनी सत्पथी के अल्पमत होने पर सरकार गठन का अवसर प्रदान किया गया और अब विपक्षी दलों को उसी अधिकार से वंचित किया जा रहा था। श्री बीजू पटनायक व अन्य द्वारा राज्यपाल की कार्यवाही को चुनौती देने वाली एक याचिका उड़ीसा उच्च न्यायालय में दायर की गयी। याचिका में अन्य आरोपों के अतिरिक्त, राज्यपाल की इस कार्यवाही (विधान सभा भंग करने) को केन्द्र सरकार के निर्देशानुसार या केन्द्र सरकार की सद्इच्छा व पक्षपात करने के उद्देश्य से की गयी कार्यवाही का आरोप लगाया गया। उच्च न्यायालय ने[4] कहा कि उड़ीसा के राज्यपाल ने मंत्रिपरिषद के गठन में ब्रिटिश परम्परा का पालन नहीं किया है। मुख्य न्यायाधीश श्री जी. के. मिश्रा का कहना था कि श्रीमती नन्दिनी सत्पथी मंत्रिपरिषद द्वारा विधानसभा के बहुमत का समर्थन खो देने पर त्यागपत्र देने के पश्चात् राज्यपाल को विपक्ष के नेता को मंत्रिपरिषद गठित करने हेतु आमंत्रित करना चाहिए था। यह विपक्षी नेता का दायित्व था कि वह बताये कि सरकार गठित करने में समर्थ हो सकेगा अथवा नहीं। विपक्ष के नेता ने जोर देकर कहा था कि उसके पास बहुमत का समर्थन है, तथा यह बात इससे भी स्पष्ट होती है कि राज्यपाल ने स्वयं की जाँच में 70 सदस्यों के समर्थन की पुष्टि की थी। यदि राज्यपाल निश्चित समर्थन का परीक्षण करना चाहते थे तो उन्हें विपक्ष के नेता को विधान सभा कक्ष में शक्ति परीक्षण के

---

1. एशियन रिकार्डर, 9 अप्रैल-15 अप्रैल, 1973 पृष्ठ - 11324 - 25
2. एशियन रिकार्डर, 9 अप्रैल - 15 अप्रैल, 1973, पृष्ठ 11325
3. एशियन रिकार्डर, 1 जुलाई - 7 जुलाई, 1972, पृष्ठ 10856-56
4. विजयानन्द पटनाटक और अन्य बनाम भारत का राष्ट्रपति व अन्य, ए.आई. आर. 1974, उड़ीसा, 52

लिये कहना चाहिए था, क्योंकि सदन उस समय सत्र में था। न्यायालय ने आगे कहा कि राज्यपाल को इससे सम्बन्ध नहीं है कि क्या भविष्य में मंत्रिपरिषद स्थिर होगी। यदि विपक्ष द्वारा गठित मंत्रिपरिषद का पतन हो जाता है, तब राज्यपाल की राष्ट्रपति शासन की संस्तुति को न्यायोचित कहा जायेगा, बशर्ते के उस समय कोई अन्य व्यक्ति बहुमत के समर्थन से सरकार गठित करने में समर्थ नहीं है।[1]

त्रिपुरा में, कांग्रेस मंत्रिमंडल ने 30 मार्च, 1977 को त्यागपत्र दे दिया जब कांग्रेस के 14 विधायकों ने कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी (सी एफ डी) के पक्ष में दल-बदल कर लिया । मुख्यमंत्री की विधान सभा भंग करने की सलाह को राज्यपाल ने स्वीकृत नहीं किया। सी.एफ.डी., सी.पी.आई.(एम) के गठबन्धन वाली सरकार का प्रफुल्ल दास के नेतृत्व में गठन हुआ एवं 1 अप्रैल, 1977 को सी.एफ.डी. ग्रुप के विधान सभा नेता, प्रफुल्ल दास को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलायी गयी।[2] उस समय केन्द्र में जनतापार्टी सरकार थी। कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी का बाद में जनता पार्टी में विलय हो गया था। त्रिपुरा के राज्यपाल ने उसी वर्ष 1 नवम्बर को मुख्यमंत्री की सलाह से विधान सभा भंग कर दी। जनता पार्टी-सी.पी.आई (एम) गठबन्धन सरकार से सी.पी.आई. (एम) द्वारा समर्थन वापसी के कारण सरकार अल्पमत हो गयी थी।[3] केरल और असम में मार्च 1982 में विधान सभा मुख्यमंत्रियों की सलाह पर भंग कर दी गयीं। ये दोनों ही मुख्यमंत्री कांग्रेस (आई) से सम्बन्धित थे।[4] नागालैण्ड में 13 विधायकों के कांग्रेस (आई) सरकार से समर्थन वापसी के कारण विधान सभा, अगस्त 1988 में भंग कर दी गयी जबकि विपक्षी दल प्रथम दृष्टया सरकार गठित करने की स्थिति में थे।[5]

ऐसे कई उदाहरण हैं, जब राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह पर विधान सभा भंग की। पंजाब में श्री डी.सी. पावटे ने (1971) में पश्चिम बंगाल में एस. एस. धवन ने (1971) में तमिलनाडु में

---

1. ए. आई. आर. 1974, उड़ीसा, पृष्ठ-60-61
2. एशियन रिकार्डर, 30 अप्रैल-6मई, 1977, पृष्ठ 13715
3. एशियन रिकार्डर, 10 दिसम्बर - 16-दिसम्बर, 1977, पृष्ठ-14070-71
4. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 18 मार्च एवं 20 मार्च, 1982
5. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 8 अगस्त, 1988

(1971) में विधान सभायें मुख्यमंत्री की सलाह पर भंग की गयीं। इसी तरह कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री क्रमशः रामकृष्ण हेगड़े व एन. टी. रामाराव की जनवरी 1984 में संसदीय निर्वाचन के साथ विधान सभा निर्वाचन कराने के उद्देश्य से विधान सभा भंग करने की सलाह को राज्यपाल ने स्वीकृत कर लिया।

अल्पमत मुख्यमंत्री की विधान सभा भंग करने की सलाह को राज्यपालों ने अस्वीकार किया। जम्मू व काश्मीर में फारूक अब्दुल्ला सरकार से 12 सदस्यों ने समर्थन वापस ले लिया। डा० अब्दुल्ला ने विधान सभा भंग करने की सलाह दी, परन्तु राज्यपाल ने बहुमत का समर्थन खो देने के आधार पर सलाह मानने से इंकार कर दिया। इसी तरह हरियाणा में विधान सभा अध्यक्ष द्वारा तीन विधायकों को अयोग्य घोषितकर दिये जाने के पश्चात्, ओम प्रकाश चौटाला सरकार अल्पमत में आ गयी। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री से 3 अप्रैल, 1991 को बहुमत सिद्ध करने को कहा, परन्तु श्री चौटाला ने राज्यपाल के निर्देशों को मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि उन्होंने पहले ही विधान सभा भंग करने की सिफारिश की थी। निश्चित अवधि के पश्चात् राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन घोषित करने की सिफारिश की।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि राज्यपालों ने अलग-अलग राज्यों में विधान सभा भंग करने की शक्ति का अलग-अलग ढंग से प्रयोग किया। अधिकांश उदाहरणों में राज्यपाल ने केन्द्र में सत्ताधारी दल के मुख्यमंत्री की सलाह को स्वीकार किया और विधानसभा भंग की परन्तु जहाँ केन्द्र से भिन्न दल के मुख्यमंत्री थे, वहाँ विधान सभा भंग की सलाह को अस्वीकार किया गया और सरकार के पतन के पश्चात् केन्द्रीय सत्ताधारी दल की राज्य में सरकार बनाने की सम्भावना का मार्ग प्रशस्त किया।

इस सम्बन्ध में कोई सुस्थापित परम्परा विकसित नहीं हो पायी है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने इस सम्बन्ध में सुझाव दिया था कि यदि मंत्रिमण्डल विधान सभा में किसी महत्वपूर्ण विषय में पराजित

---

1. हरियाणा के राज्यपाल धनिकलाल मण्डल को पद पर नियुक्ति में श्री चौटाला के पिता देवीलाल की प्रमुख भूमिका थी और इस घटनाक्रम में वे केन्द्र में उपप्रधानमंत्री थे परन्तु श्री मंडल ने किसी दवाब में आए बिना उचित कार्यवाही की।

हो जाता है और मुख्यमंत्री राज्यपाल को विधान सभा भंग करने की सलाह देता है जिससे कि वह मतदाताओं से नया आदेश प्राप्त कर सके, तो राज्यपाल को उसकी सलाह मान लेनी चाहिए। अन्य मामलों में वह स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है।[1]

राज्यों में अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा के पश्चात् या तो विधान सभा को भंग कर दिया जाता है, या उसे निलम्बित कर दिया जाता है। निलम्बन का तात्पर्य है-कुछ अवधि के लिए विधायिका को उसके अधिकारों एवं शक्तियों से वंचित कर देना अर्थात् ऐसी अवस्था में विधानसभा का पुर्नजीवन सम्भव होता है।

राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा के पश्चात् विधान सभा को निलम्बित रखा जाय अथवा भंग किया जाये, यह प्रश्न पूर्णत: केन्द्र में सत्तारूढ़ शासक – दल की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार विधान सभाओं के जीवन काल का मामला पूर्णत: केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल के राजनीतिक हितों के संवर्धन का विषय बन गया है।

राजस्थान में 1967, उत्तर प्रदेश 1970, उड़ीसा 1971, असम 1979, पंजाब 1983 में, विधान सभाओं को इसलिए निलम्बित कर दिया गया था, ताकि वहाँ पर कांग्रेस दल को सरकार बनाने का अवसर प्राप्त हो सके। इसके विपरीत आन्ध्र प्रदेश में 1954 में, केरल 1965, 1970 व 1982 में, मणिपुर 1969, त्रिपुरा तथा पश्चिमी बंगाल 1971 में उड़ीसा 1973, असम 1982, में विधान सभाओं को इसलिये भंग कर दिया था, ताकि वहाँ पर विपक्ष की सरकार न बन सके।

कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं। जबकि कुछ राज्यों में विपक्ष की सरकारों को बर्खास्त करने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने तुरन्त विधान सभाओं को भंग कर दिया। ऐसा पेप्सू 1953, केरल 1959, हरियाणा 1967, तमिलनाडु 1976, कर्नाटक 1977 व 1979 में, पांडिचेरी, 1977 तथा 1978[2] व 1980[3] में कुल नौ–नौ राज्यों में ऐसा किया गया।

---

1. प्रशासनिक सुधार आयोग का सुझाव नं० 13 के . सी. मरकन्दन द्वारा उद्धृत पृष्ठ 210।
2. 1977 में नौ राज्य थे-(1) राजस्थान, (2) उत्तर प्रदेश, (3) बिहार, (4) हरियाणा, (5) मध्यप्रदेश (6) उड़ीसा, (7) हिमाचल प्रदेश ,(8) पंजाब, (9) पश्चिम बंगाल।
3. 1980 में नौ राज्य थे – (1) पंजाब, (2) राजस्थान, (3) उड़ीसा, (4) मध्यप्रदेश, (5) उत्तर प्रदेश, (6)

इस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर देना कि विधान सभाएं कब निलम्बित होनी चाहिए अथवा कब भंग की जानी चाहिए, राष्ट्रपति शासन के इतिहास से यही प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मापदण्ड नहीं अपनाया गया है। मुख्यमंत्री पद के विवाद को दूर करने के लिए विधान सभा निलंबित रखी गयी। उदाहरणार्थ केरल में 1965 में, राजस्थान 1967, उड़ीसा 1971, कर्नाटक 1990 में इसी उद्देश्य से विधान सभा निलम्बित रखी गयीं। चुनावों के तुरन्त बाद सभा का निलम्बन किया गया। 1967 में राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश 1990 में, ऐसा किया गया। इसी प्रकार केन्द्र सरकार के हित को दृष्टि में रखते हुए विधान सभा भंग अथवा निलम्बित की गयी। 1967 में मणिपुर, उत्तर प्रदेश में 1968, बिहार, 1969, पश्चिम बंगाल 1970, उत्तर प्रदेश 1970, मैसूर व उड़ीसा 1971, गुजरात 1976, उड़ीसा 1971 में ऐसा ही किया गया।

विधान सभा विघटन और निलम्बन का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि अधिकांश अवसरों पर इसकी राजनीतिक स्वार्थपूर्ति हेतु दुरूपयोग किया गया है। हाल ही में सर्वोच्च न्यायाल द्वारा दिये गये अपने निर्णय द्वारा राज्य में राष्ट्रपति की घोषणा के साथ ही विधान सभा भंग करने पर रोक लगा दी है। न्यायालय का विचार है कि राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा को संसद द्वारा अनुमोदित किये जाने के पश्चात् ही विधान सभा भंग की जाती है और जब तक ऐसा अनुमोदन नहीं प्राप्त हो जाता राष्ट्रपति विधान सभा को अपने आदेश द्वारा केवल निलम्बित कर सकता है विघटित नहीं।[1] इस निर्णय के पश्चात् केन्द्र सरकार की उस प्रवृत्ति पर रोक लगाने में सहायता मिलेगी, जिसके द्वारा विधान सभा के निलम्बन व विघटन के प्रश्न को केन्द्रीय सरकारों ने अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति का साधन बना लिया था।

विधेयकों का आरक्षण :-

राज्य विधायिका द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिये आरक्षित करना, राज्यपाल का एक अन्य अधिकार है, जो विवादास्पद बन गया है। यह विवादित उस समय विशेष रूप

महाराष्ट्र, (7) बिहार, (8) तमिलनाडु (9) गुजरात।

1. एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, ए. आई. आर., एस. सी. 1994, पृष्ठ 1928

से होता है, जब राज्यपाल इसे राज्य मंत्रिपरिषद की सलाह के विपरीत और सम्भवत: केन्द्र सरकार के निर्देश पर आरक्षित करता है। केन्द्र सरकार इस शक्ति का प्रयोग कर राज्य की स्वायत्ता को बाधित कर सकती है और राज्यपाल को अपने दल हित के लिये भी, प्रयोग कर सकती है। यदि केन्द्र में सत्ताधारी दल से भिन्न दल की राज्य सरकार है तो, केन्द्र व राज्यों के मध्य आशंका की बहुत सम्भावना है। एक तरफ यदि राष्ट्रपति विधेयक पर अनुमति नहीं देता तो राज्य इसे राजनीतिक उद्देश्य से किया गया निर्णय मानेगा और दूसरी ओर राज्य द्वारा अपनाया गया कोई नवीन मापदण्ड केन्द्र सरकार के मन में आशंका उत्पन्न करेगा। राज्यपालों द्वारा अनुच्छेद 200 तथा 201 का केन्द्र में सत्ताधारी दल के हित में प्रयोग करने से स्थिति और भी विवादित हो गयी है।

संविधान के अनुच्छेद 200 के अनुसार – जब कोई विधेयक राज्य की विधान सभा द्वारा या विधान परिषद वाले राज्य में विधान – मण्डल के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया है, तब वह राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। राज्यपाल घोषित करेगा कि वह विधेयक पर अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है अथवा वह विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखता है।

अनुच्छेद 200 आगे व्यवस्था करता है कि जिस विधेयक से, उसके विधि बन जाने पर, राज्यपाल की राय में उच्च न्यायालय की शक्तियों का ऐसा अल्पीकरण होगा कि वह स्थान, जिसकी पूर्ति के लिए वह न्यायालय इस संविधान द्वारा परिकलिपत है, संकटापन्न हो जाएगा, उस विधेयक पर राज्यपाल अनुमति नहीं देगा, किन्तु उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखेगा।' यह बात उल्लेखनीय है कि कुछ मामलों में आरक्षण आवश्यक है। अनुच्छेद 201 के अनुसार राष्ट्रपति इस प्रकार आरक्षित विधेयक पर अपनी अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है या फिर उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देता है।

इन अनुच्छेदों का मुख्य उद्देश्य यह था कि केन्द्र राज्य की गतिविधियों पर नजर रखना चाहता था। जैसा कि डा० अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि, ''चूंकि प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार की अधीनस्थता में कार्य करने की आश्यकता है और वे ऐसा नहीं कर रही हैं। यह देखने के लिये राज्यपाल कुछ चीजें आरक्षित करके राष्ट्रपति को यह अवसर प्रदान करता है कि वह राज्य सरकारों को संविधान के अनुरूप या केन्द्रीय अधीनस्थता में किस प्रकार कार्य करना है उसका पर्यवेक्षण

करें। दुर्भाग्यवश, राज्यपालों ने इन अनुच्छेदों को अधिकांश मामलों में केन्द्रीय सत्ताधारी दल के हित में प्रयोग करके विवादों को जन्म दिया है। उदाहरण के लिये 'पंजाब अस्थायी कराधान बिल 1962' को आरक्षित किया गया और यह परीक्षण किया गया कि क्या यह प्रावधान विभेदकारी और भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन हैं। जाँच करने के पश्चात् यह पाया गया कि बिल को अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं बताया जा सकता,[1] फिर भी राष्ट्रपति ने बिल को वापस लौटा दिया, क्योंकि बिल के प्रावधान केन्द्रीय बिक्री कर अधिनियम से विरोधाभासी थे।[2]

श्री वरदचारी का मानना है कि केन्द्र विधेयक पर अनुमति देने से मना कर सकता है, यदि उसके दृष्टिकोण में विधेयक में निहित नीतियां सन्तोषजनक नहीं है या उसके प्रावधान अत्यधिक उग्र हैं या विधेयक से अन्य राज्यों में प्रतिक्रिया हो सकती है या संविधान में निहित मौलिक अधिकारों पर अभिभावी हैं।[3] महाराष्ट्र का एक विधेयक जिसमें अनिवार्य बन्ध्याकरण का प्रावधान था, उसे अनुमति नहीं दी गयी क्योंकि यह निर्णय लिया गया कि परिवार नियोजन के मामले में कोई अनिवार्यता नहीं हो सकती। हरियाणा सरकार द्वारा उन व्यक्तियों व उनके परिवारों को, जिन्होंने 2 वर्ष तक मंत्री, स्पीकर या डिप्टी स्पीकर पद पर कार्य किया हो, उनके जीवनपर्यन्त चिकित्सीय सुविधा उपलब्ध कराने के प्रयास को अति उग्र प्रस्ताव होने के कारण अनुमति नहीं दी। केन्द्र का मानना था कि इस विधेयक से अन्य राज्यों में प्रतिक्रिया होगी और सरकार से मुफ्त चिकित्सा सुविधा प्राप्त करने वालों की एक बड़ी संख्या सामने आयेगी। उड़ीसा सरकार माध्यस्थम् अधिनियम (Arbitration Act) में संशोधन कर यह व्यवस्था करना चाहती थी कि यदि मध्यस्थ बिना कारण बताये अपना निर्णय (Award) देता है तो उसे दुराचरण (misconduct) का दोषी माना जायेगा। केन्द्र का मानना था कि विधेयक सुस्थापित व्यवस्था के अनुसार एक मध्यस्थ को अपने निर्णय के लिये कारण बताने की आवश्यकता नहीं है। केरल शिक्षा अधिनियम राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किया गया और राष्ट्रपति ने इस पर सर्वोच्च

---

1. एच. ए. गनी–गर्वनर इन दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन, पृष्ट – 80
2. सिबरंजन चैटर्जी– गर्वनरस रोल इन दि कान्स्टीट्यूशन, पृष्ठ 181
3. वी. के. वरदचारी – गर्वनर इन दि इण्डिन कान्सटीट्शून पृष्ठ 63

न्यायालय से परामर्श माँगा। सर्वोच्च न्यायालय की सलाह के अनुसार विधेयक में संशोधन किया गया। मध्य प्रदेश ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें ऐसे वैधानिक यंत्र का प्रावधान था, जो मंत्रियों व अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतों की जाँच कर सके। उस समय केन्द्र लोकपाल विधेयक को अन्तिम रूप दे रहा था, अतएव केन्द्र ने अपने विधेयक के अन्तिम रूप प्राप्त होने तक मध्य प्रदेश के विधेयक को लम्बित रखना उचित समझा।

राष्ट्रपति ने मध्य प्रदेश के पंचायत राज विधेयक 1960 पर अनुमति देन से मना कर दिया क्योंकि केन्द्र उसमें मनोनयन की व्यवस्था के विरुद्ध था। मेघालय विधान सभा द्वारा पारित निवास स्थान अनुमति विधेयक (Residential Permit Bill) को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त नहीं हो सकी। विधेयक का उद्देश्य राज्य में बाहरी व्यक्तियों के बस जाने के दृष्टिकोण से प्रवेश करने को नियमित करना था। प्रस्तावित उपाय के अनुसार राज्य में चार माह से अधिक ठहरने की इच्छा रखने वाले को मेधालय सरकार से परमिट लेना था। केन्द्र का मानना था कि विधेयक अन्तर्राज्य स्थान-परिवर्तन को प्रभावित करेगा और यह मौलिक अधिकार का उल्लंघन भी होगा, जिसके अनुसार भारत के किसी भी क्षेत्र में निवास व बसने की स्वतंत्रता है।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर विचार करने हेतु गठित सरकारिया आयोग की प्रश्नावली का उत्तर देते हुए पश्चिम बंगाल ने स्पष्ट किया कि 1950 से 1983 के मध्य विधान सभा द्वारा पारित ग्यारह विधेयकों पर राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति नहीं दी और 1981 से 1983 के मध्य पारित सात विधेयकों पर राष्ट्रपति की अनुमति मिलनी बाकी है। अशोक मेहता समिति रिपोर्ट पर आधारित विकासवादी विधेयकों-कर्नाटक जिला परिषद तालुका पंचायत समिति ,मण्डल पंचायत और न्याय पंचायत विधेयक पर भी राष्ट्रपति की अनुमति मिलने में एक वर्ष का समय लग गया।

जनता पार्टी सरकार भी इस प्रकार के तरीके अपनाने की समान रूप से दोषी है। यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि जब कर्नाटक सरकार ने विकेन्द्रीकरण व विकास प्रशासन को पुर्नगठित करने के लिये मंडल पंचायत विधेयक पारित किया तो विधेयक राष्ट्रपति के लिये आरक्षित किया गया और इसे राष्ट्रपति की अनुमति मिलने में लगभग एक वर्ष का समय लग गया।

यह आशा की गयी थी, कि 1977 की पराजय से कांग्रेस कुछ शिक्षा ग्रहण करेगी, परन्तु सत्ता में वापसी के साथ ही इसने वही तरीके अपनाये और कई विधेयकों में (विशेषकर विपक्ष द्वारा शासित राज्यों से) या तो रोक लिया गया या वापस कर दिया गया। तमिलनाडु भूमि सुधार द्वितीय अधिनियम विधेयक 1980, जो 1958 से 1960 के मध्य स्थानान्तरित भूमि को अवैध घोषित करना चाहता था। विधेयक लगभग पूर्ण सहमति से पारित हुआ था और अगस्त 1980 में राष्ट्रपति की सहमति के लिये भेजा गया । दो वर्ष पश्चात् राज्य सरकार को दिल्ली से टेलेक्स सूचना मिली कि राष्ट्रपति सहमति रोकते हैं।[1]

इस सम्बन्ध में बड़ा विवाद है कि क्या राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह के विरुद्ध राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों का आरक्षण कर सकता है। प्रो० डी० एन. बनर्जी का मत है कि राज्यपाल को विधेयकों को सहमति देने या न देने या राष्ट्रपति के लिए आरक्षित करने सम्बन्धी मामलों में मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करना चाहिए।[2] परन्तु अन्य संविधान विशेषज्ञों द्वारा यह मत स्वीकार नहीं किया गया है। श्री सीरावी का मत है कि "यदि मंत्रिपरिषद किसी विधेयक को प्रस्तावित करता है और जो राज्यपाल की दृष्टि में आरक्षित किये जाने योग्य है--------तब यह उसका कर्त्तव्य है कि मंत्रिपरिषद की किसी भी सलाह की अपेक्षा किये बिना उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करे अन्यथा अनुच्छेद 200 मृत अक्षर रहेगा।[3] डी.डी. बसु का मानना है कि, " कुछ अन्य मामलों में, जैसे राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों का आरक्षण करने में, राज्यपाल हमेशा मंत्रिपरिषद से सहमत नहीं हो सकता.... ऐसे मामलों में, यदि वह समझे कि प्रश्नगत विधयेक केन्द्र की शक्तियों को प्रभावित करेगा या संविधान के किसी प्रावधान के विपरीत होगा, यद्यपि उसकी मंत्रिपरिषद का भिन्न मत हो, ऐसी विशेष

---

1. एच. ए. गनी - पूर्वोधृत पृष्ठ 83
2. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ 182
3. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत पृष्ठ 182

परिस्थितियों में राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद की सलाह के विपरीत कार्य करना भी न्यायोचित ठहराया जा सकता है।[1]

प्रशासनिक सुधार आयोग का भी मानना है कि राज्यपाल को अपने स्वविवेक व स्वनिर्णय से राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों का आरक्षण करना चाहिए। विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षण योग्य है या नहीं यह सम्बन्धित विधान अंशों से निर्धारित करना चाहिए। विधेयकों का आरक्षण केवल विशेष परिस्थितियों में ही हो जैसे कुछ मूल अधिकारों का स्पष्ट उल्लंघन या वह स्पष्टत: अवैधानिक हो।[2]

विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों ने प्राय: अनुच्छेद 200 तथा 201 के दुरूपयोग के विरुद्ध आवाज उठायी है। पश्चिम बंगाल सरकार ने इन्हें समाप्त करने की इच्छा व्यक्त की है।[3]यदि समाप्ति सम्भव न हो तो, संविधान में संशोधन करके ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि राज्यपालों को स्वविवेक से नहीं वरन् मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करना चाहिए। राज्यपाल के विचारार्थ एक माह तथा राष्ट्रपति के लिये छह माह की सीमा निर्धारित की जानी चाहिए।[4] श्रीनगर में 1983 में विपक्षी दलों के सम्मेलन में सभी विपक्षी दलों ने राज्य विधान सभा द्वारा पारित विधेयकों पर केन्द्र की वीटो (राष्ट्रपति के माध्यम से) की शक्ति को हटाने की मांग की।

शायद इस विवाद का कारण यह है कि सर्वोच्च न्यायालय ने शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य के मामले में [5] यह निर्णय दिया है कि अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह की अपेक्षा बिना कार्य कर सकता है और राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयक आरक्षित कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 201 राष्ट्रपति को इस सम्बन्ध में कोई मार्ग निर्देशन नहीं देता है इसलिए यह प्रश्न

---

1. सिबरंजन चैटर्जी - पृष्ठ 182-183
2. प्रशासनिक सुधार आयोग रिपोर्ट पृष्ठ - 27
3. सरकारिया आयोग द्वारा प्रेषित प्रश्नावली के उत्तर में यह विचार व्यक्त किया गया।
4. इण्डियन एक्सप्रेस, 8 अगस्त, 1984
5. शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य, ए. आई. आर., 1974, एस. सी. 2192

उठता है कि सामान्य संवैधानिक प्रक्रिया के अन्तर्गत राष्ट्रपति को प्रेषित राज्य के मामलों को निस्तारित करने में उसे कितना तर्क संगत समय लेना चाहिए ? श्री ए. जी. नूरानी का मत है कि, " केन्द्र द्वारा अनुच्छेद 201 के अधीन राष्ट्रपति को शीघ्रता से सलाह न देना इस अनुच्छेद का पूर्ण दुरूपयोग है और राज्य को निर्णय शीघ्र ज्ञात होने में रूकावट उत्पन्न करता है। यह राज्यों की विधायिका की समवर्ती सूची के विषयों पर विधि निर्माण की शक्ति को अनुचित रीति से प्रतिबन्धित करना है और वीटो शक्ति का प्रयोग करना जो केन्द्र से सम्बन्धित नहीं है।"[1]

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि विपक्षी नेताओं द्वारा इन अनुच्छेदों को समाप्त करना कहाँ तक न्यायोचित है ? विपक्षी दलों की समस्या अस्वीकार करने योग्य नहीं है, परन्तु फिर भी इन अनुच्छेदों को समाप्त नहीं किया जा सकता। सरकारिया आयोग ने भी इन अनुच्छेदों को बनाये रखने के तर्क दिये हैं।[2] वास्तव में ,इन अनुच्छेदों के माध्यम से राज्यपाल अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह उचित ढंग से कर सकता है और राज्य द्वारा पारित ऐसे विधेयक को जो संविधान के विरुद्ध हों या जिनसे प्रतिक्रिया स्वरूप अव्यवस्था फैलने की आशंका हो, उन्हें आरक्षित कर सकता है या अपनी सहमति रोक सकता है, या उन्हें कानून के रूप में परिणित नहीं होने दे सकता।

श्री जगजीवन राम का इस सम्बन्ध में विवाद दूर करने के लिए सुझाव था कि संविधान में संशोधन करके यह प्रावधान करना चाहिए कि सभी प्रकार के राज्य विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक न हो, कुछ विधेयकों को जिन्हें राष्ट्रपति की अनुमति हेतु आरक्षित किया जाये, उनका स्पष्ट वर्णन करना चाहिए।[3] श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा ने श्रीनगर सम्मेलन में विचार व्यक्त किया था कि यदि केन्द्र छह माह के अन्दर राज्य विधेयक पर सहमति नहीं देता है, तो इसे स्वतः पारित समझ लेना चाहिए।[4]

---

1. ए. जी. नूरानी - सेन्टरस वीटो ऑन स्टेट लॉज, इण्डियन एक्सप्रेस, 20 सितम्बर, 1985
2. सरकारिया आयोग रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ-130 इन तर्कों का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।
3. सती साहनी सेन्टर - स्टेट रिलेशन्स - पृष्ठ 121
4. इण्डियन एक्सप्रेस, 9 अक्टूबर 1983 ।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि कुछ मामलों में विलम्ब का कारण उचित हो सकता है, परन्तु अधिकांशतः अन्य सभी मामलों में निर्णय करते समय शीघ्रता अपनानी चाहिए। राज्यपाल को विधेयक पर अपनी सहमति देने या सहमति रोकने के विषय में राज्य सरकार को शीघ्र अवगत करा देना चाहिए। राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित विधेयक को यदि राष्ट्रपति छह माह के अन्दर अपनी सहमति देने या रोकने की घोषणा नहीं कर पाता है तो उसे स्वतः सहमति प्राप्त समझना चाहिए और यदि राज्य विधायिका दूसरी बार विधेयक को चाहे उसी रूप में या संशोधित रूप से पारित कर पुनः राष्ट्रपति के सम्मुख भेजती है, तो राष्ट्रपति को उस पर सहमति रोकनी नहीं चाहिए। इन सुझावों के अनुरूप यदि संविधान में संशोधन कर दिया जाय तो अनुच्छेद 200 एवं 201 से सम्बन्धित विवादों को दूर किया जा सकता है। इसके परिणाम स्वरूप केन्द्र व राज्यों के मध्य सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे एवं राज्यपाल की इस सम्बन्ध में भूमिका को आशंका व सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा जायेगा।

अध्यादेशों की प्रख्यापना :-

राज्यपाल को अध्यादेश के माध्यम से विधि निर्माण में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का अधिकार है। अनुच्छेद 213 के अन्तर्गत राज्यपाल को राष्ट्रपति की ही भाँति अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है।

अनुच्छेद 213 यह उपबन्धित करता है कि जब राज्य विधान मण्डल या उसके दोनों सदन सत्र में नहीं है और राज्यपाल को यह समाधान हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, जिनमें तुरन्त कार्यवाही करना अपेक्षित है तो वह ऐसे अध्यादेशों को जारी कर सकेगा जो ऐसी परिस्थितियों में उसे आवश्यक प्रतीत हों। अध्यादेश जारी करने के लिए परिस्थितियाँ हैं या नहीं, इस बात पर अन्तिम निर्णय राज्यपाल का होता है। राज्यपाल का समाधान अन्तिम व निश्चायक होगा और इसको किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। राज्यपाल अपनी इस शक्ति का प्रयोग अपने स्वविवेक से नहीं करता है। इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है। राज्यपाल की इस शक्ति पर कुछ सीमाएं हैं:-

1. अध्यादेश तभी जारी किये जायेगें, जब विधान मण्डल का सत्र न चल रहा हो।

2. जब दोनों सदनों की बैठक हो तो अध्यादेश उनके समक्ष रखा जाना चाहिए अन्यथा सत्र प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह पश्चात् अध्यादेश निष्प्रभावी हो जाएगा। यदि इसे सदन स्वीकृति दे दे तो यह प्रभावी रहेगा। राज्यपाल किसी भी समय अध्यादेश वापस कर सकता है।

विधान परिषद वाले राज्य के विधान मण्डल के सदन यदि भिन्न - भिन्न तिथियों को आहूत किये जाते हैं तो 6 सप्ताह की अवधि की गणना उन तिथियों में से पश्चात्वर्ती तिथि से की जाएगी।

3. राज्यपाल केवल उन्हीं विषयों पर अध्यादेश जारी कर सकता है, जिन पर विधान मण्डल विधि निर्माण कर सकता है, जैसे राज्यसूची व समवर्ती सूची के विषय। समवर्ती सूची पर केन्द्र व राज्य दोनों के विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त है, किन्तु केन्द्र द्वारा बनाये गये कानून के विरुद्ध होने पर, राज्य द्वारा निर्मित कानून अवैध होगा।

एक अध्यादेश उस सीमा तक अवैध होगा जिस सीमा तक राज्य-विधान मण्डल द्वारा विधि-निर्माण अवैध हो जाता है। किन्तु यदि अध्यादेश राष्ट्रपति के निर्देशानुसार राज्यपाल द्वारा जारी किया गया है तो वैध होगा।

कुछ मामलों में अध्यादेश जारी करने से पहले राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है। ये इस प्रकार हैं:-

(1) जिस विधेयक पर विधान मण्डल में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति लेनी पड़ती है, उस विषय पर अध्यादेश जारी करने से पूर्व राज्यपाल को राष्ट्रपति से निर्देश लेना पड़ेगा।

(2) राज्यपाल जिन विषयों पर आवश्यक समझे, उस विषय पर अध्यादेश जारी करने से पूर्व वह राष्ट्रपति से परामर्श करेगा।

(3) राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित अधिनियम जिसमें वही प्रावधान होते , जिस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति की अनुपस्थिति में अधिनियम अवैध हो जाता।

इस प्रकार जारी किये गये अध्यादेश का वही बल व प्रभाव होगा जो राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित एक अधिनियम का होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह से करना चाहिए अथवा नहीं। सिद्धान्ततः देखा जाय तो यह शक्ति केवल राज्यपाल को प्राप्त है, परन्तु यदि संविधान का व्यवहारिक रूप देखें तो राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह से करता है। इस विषय में संविधानविदों में मतभेद है कि राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग स्वविवेक से करे या मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार इसका प्रयोग करें। श्री डी.डी. बसु का मानना है कि यह राज्यपाल का विवेकाधीन अधिकार नहीं है। उसे अपनी इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह से करना चाहिए। श्री एम. वी. पायली तथा श्री अशोक चन्दा का मानना है कि राज्यपाल को इस सम्बन्ध में स्वविवेकानुसार कार्य करना चाहिए।[1] सामान्यतः राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से अध्यादेश जारी करते हैं, परन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जब राज्यपालों ने मंत्रिपरिषद की सलाह से अध्यादेशों पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया।

इस तरह का मामला पंजाब में पहले 1968 और पुनः 1970 में उत्पन्न हुआ।[2] 27 जून, 1968 को पंजाब राज्य विधानमण्डल की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि संसदीय या राज्य विधायिका या सरकारी अधिनियम द्वारा गठित कानूनी निकायों के अध्यक्षों व निदेशकों को निर्वाचन के अयोग्य नहीं ठहराना चाहिए और न ही उनकी विधान मण्डल की सदस्यता समाप्त होनी चाहिए। पंजाब सरकार के मुख्य सचिव ने इस निर्णय को प्रभावी बनाने हेतु एक अध्यादेश राज्यपाल के हस्ताक्षर व स्वीकृति हेतु भेजा। प्रस्तावित अध्यादेश का उद्देश्य विधि द्वारा यह स्थापित करना था कि पंजाब सरकार द्वारा केन्द्र या राज्य अधिनियम के अनुरूप गठित निगमों के अध्यक्षों या निदेशकों को राज्य विधान सभा या विधान परिषद की सदस्यता के अयोग्य न ठहराया जा सके। चूंकि प्रस्ताव में अध्यादेश की शीघ्रता या इसके पक्ष में कारण नहीं दिये गये थे, अतः राज्यपाल श्री पावटे ने इस हेतु विधायिका के अगले सत्र तक इन्तजार करने को कहा। श्री पावटे मत था कि इस प्रकार के महत्वपूर्ण विधिक अंश को अध्यादेश के रूप में साधारण तरीके से पारित नहीं करना चाहिए और न ही इस सम्बन्ध में कोई

1. डी.डी. बसु, एम. वी. पायली व अशोक चन्दा के मत एन. एस. गहलौत द्वारा उद्धत – पूर्वोधृत पृष्ठ – 158।

2. सिबरंजन चैटर्जी – गवर्नरस रोल इन दि इण्डिय कान्सटीट्यूशन – पृष्ठ 91-92

आकस्मिकता दिखायी दे रही थी। इसके अतिरिक्त अध्यादेश की भाषा ऐसी थी, जिसका भूतलक्षी प्रभाव पड़ता । राज्य उद्योग विभाग से पूँछताछ करने पर इस तथ्य का पता चला कि मुख्यमंत्री श्री लक्ष्मण सिंह गिल ने पहले ही स्वयं को पंजाब वित्तीय निगम और पंजाब औद्योगिक विकास निगम का अध्यक्ष मनोनीत कर लिया है। राज्यपाल द्वारा भूतलक्षी प्रभाव वाले अध्यादेश की संवैधानिक वैधता और औचित्य के सम्बन्ध में जब राज्य सरकार से कुछ स्पष्टीकरण व अतिरिक्त सूचना माँगी गई तो सरकार ने तुरन्त ही मुख्यमंत्री को दो निगमों का अध्यक्ष मनोनीत करने सम्बन्धी अधिसूचना को रद्द कर दिया। राज्यपाल ने तब अध्यादेश राष्ट्रपति की सलाह हेतु भेज दिया। इससे पहले कि राष्ट्रपति से कोई सलाह प्राप्त होती, श्री गिल ने त्यागपत्र दे दिया और यह मामला यहीं समाप्त हो गया। 1970 में पुनः विवाद उत्पन्न हुआ जब श्री पावटे ने 'राज्य विधायिका (अयोग्यता निवारण) संशोधन अध्यादेश पर सहमति देने से मना कर दिया। अध्यादेश के द्वारा विधायकों की छह निकायों।[1] की सदस्यता या अध्यक्षता से उत्पन्न अयोग्यता को दूर करना था। अध्यादेश प्रख्यापन की सम्भावना का समाचार पंजाब राज्य में जंगल की आग की तरह फैल गया और जनमत इस सम्भावित अध्यादेश के विरुद्ध हो गया। राज्यपाल का मत था कि विचाराधीन अध्यादेश का राजनीतिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में अनिवार्य प्रभाव पड़ेगा और राज्य के अध्यक्ष के रूप में उन्हें इसे रोकने के लिए हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। राज्यपाल पावटे ने गृहमंत्रालय को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने राज्यपाल के अध्यादेश प्रख्यापन की शक्ति के विषय में स्वयं के विचार व्यक्ति किये। राज्यपाल का मानना था कि विधायी और कार्यपालिका शक्ति अलग-अलग हैं। उनका मत था कि अध्यादेश प्रख्यापन की शक्ति राज्यपाल की शक्ति है, अतः मंत्रिपरिषद की सलाह जरुरी नहीं है। गृहमंत्रालय ने राज्यपाल के पत्र के उत्तर में लिखा कि विधितः राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार अध्यादेश प्रख्यापन के लिये बाध्य थे, परन्तु उसी समय राज्यपाल का यह कर्तव्य है कि वह मुख्यमंत्री को ऐसे अध्यादेशों को जारी करने से रोके, जो उसकी दृष्टि में सार्वजनिक नीति या सार्वजनिक जीवन के उच्च स्तर को बनाये रखने के दृष्टिकोण से

---

1. ये छह निगमित निकाय थे- (1) पंजाब कृषि विपणन बोर्ड (2) पंजाब कृषि-उद्योग निगम (3) पंजाव राज्य भाण्डागारण निगम, (4) पंजाब वित्तीय निगम (5) पंजाब राज्य सहकारी संघ चीनी मिल्स (6) पंजाब राज्य उपभोक्ता भण्डार संघ।

आपत्तिजनक हों। जब मुख्यमंत्री श्री बादल इस मामले पर विचार-विमर्श हेतु राज्यपाल से मिलने गये तो, राज्यपाल ने अध्यादेश का विचार त्यागने की सलाह दी, क्योंकि समस्त विपक्ष और जनमत इसके विरुद्ध था। अन्ततः अध्यादेश का विचार त्याग दिया गया और राज्यपाल मुख्यमंत्री को समझाने में सफल हो गये। जबकि कुछ ही दिनों पूर्व , हरियाणा के राज्यपाल ने इसी तरह का अध्यादेश प्रख्यापित किया था, जिसके द्वारा राज्य विधान सभा के सदस्यों के निगमों के अध्यक्ष या निदेशक बनने पर सदन की अयोग्यता को समाप्त कर दिया गया था।

1979 में, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने निजी होम्योपैथिक कालेजों के राष्ट्रीयकरण करने सम्बन्धी अध्यादेश को प्रख्यापित करने से मना कर दिया था। 1983 में, पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने भी एक अध्यादेश पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया था। गैरकानूनी पशुशाला के मालिकों को कठोर दण्ड का प्रावधान करने सम्बन्धी अध्यादेश राज्यपाल श्री बी.डी. पाण्डेय के पास 20 जनवरी, 1983 को भेजा गया जबकि इस पर मंत्रिमंडल ने सितम्बर 1980 में ही निर्णय ले लिया था। राज्यपाल ने न केवल सहमति रोक ली वरन् ऐसे अध्यादेश की आवश्यकता पर सन्देह व्यक्त किया। उनका मानना था कि चूंकि इस प्रस्ताव पर पूर्व की सरकार ने (वाममोर्चा सरकार 1977-82) 1980 में स्वीकृति दी थी और अब दो वर्ष से अधिक समय का विलम्ब हो गया है, इसलिये इस पर वर्तमान सरकार द्वारा नयी अनुमति प्रदान की जानी चाहिए।[1] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मंत्रिमंडल के निर्णय तब तक निरंतरता में रहते हैं जब तक कि अगला मंत्रिमंडल इसे अस्वीकार न कर दे। कुछ वर्षों के अन्तराल या सरकार परिवर्तन का एसे निर्णयों की वैधता और वैधानिकता पर प्रभाव नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ सिद्धार्थ शंकर रे सरकार द्वारा 1974 के प्रारम्भ में स्वीकृत विधेयक को 1975 के अन्त में राज्यपाल के पास भेजा गया था और उन्होंने इस पर अपनी सहमति दे दी।

1985 में, आन्ध्र प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल डा० शंकर दयाल शर्मा ने तीन अध्यादेशों को प्रख्यापित करने से मना कर दिया। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री श्री रामाराव को लिखा कि संविधान राज्यपाल को सीमित विधायी शक्तियाँ प्रदान करता है और एक अध्यादेश को विधायिका द्वारा निर्धारित

---

1. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत - पृष्ठ -93

समय में अनुसमर्थित होना चाहिए। राज्यपाल का मानना था कि अध्यादेश का पुन: प्रख्यापन एक गम्भीर संवैधानिक अनौचित्य होगा, क्योंकि ये पहले भी कई बार प्रख्यापित किये जा चुके हैं। मुख्यमंत्री श्री रामाराव ने राज्यपाल के कथन को चुनौती दी और कहा कि राज्यपाल की इस विधायी शक्ति पर कोई बन्धन नहीं है।

कालान्तर में न्यायिक निर्णयों द्वारा यह स्थापित किया गया कि अध्यादेशों की विधान सभा में प्रस्तुति के बिना पुनर्प्रख्यापन उचित नहीं है। बाधवा बनाम बिहार राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय का कहना था कि विधान सभा द्वारा अध्यादेश को अधिनियम में परिवर्तित किये बिना बार-बार अध्यादेश जारी किया जाना संवैधानिक प्रावधानों का उल्लंघन है।[1]

1988 में, केरल की राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा ने विश्वविद्याल के कुलपति को हटाने के राज्य सरकार के अधिकार वाले अध्यादेश को स्वीकृति देने से मना कर दिया।[2] उल्लेखनीय है कि राज्य की राज्यपाल व मुख्यमंत्री के मध्य कटुतापूर्ण सम्बन्ध थे, क्योंकि राज्यपाल राज्य में अति सक्रियता से राजनीति व प्रशासनिक कार्यों में रूचि ले रही थीं। मुख्यमंत्री – राज्यपाल के कटु सम्बन्धों के कारण ही आन्ध्र प्रदेश की राज्यपाल कुमुद बेन जोशी ने 1987 तथा 1988 में अध्यादेशों पर हस्ताक्षर करने में विलम्ब किया।[3]

इसी तरह, 1997 में ,उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी व मुख्यमंत्री सुश्री मायावती के मध्य सम्बन्धों में तिक्तता और बढ़ गई जब राज्यपाल ने पाँच अध्यादेशों पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया।[4] राज्यपाल ने इन अध्यादेशों की प्राप्ति की तिथियाँ 8 जुलाई से 12 जुलाई के मध्य बतायी जबकि वे काफी समय पहले भेज दिये गये थे। राज्यपाल का मानना था कि कुछ समय पश्चात् (4-5 दिन)

---

1. वाधवा बनाम बिहार राज्य ए. आई. आर. 1987 एस. सी., 579
2. इण्डियन एक्सप्रेस, 10 दिसम्बर, 1988, ए. जी. नूरानी – गर्वनर एण्ड प्रेसीडेन्ट।
3. हिन्दुस्तान टाइम्स, 10 दिसम्बर, 1988, एस.-सहाय-एडवर्सरी रोल ऑफ गवर्नर।
4. दैनिक जागरण – 28 जुलाई, 1997 में हृदय नारायण दीक्षित का लेख – अध्यादेशों की आड़ में मुख्यमंत्री – राज्यपाल में जंग।

बाद ही विधान मण्डल का सत्र प्रारम्भ होने वाला था। जबकि पूर्व में भी इसी तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर अध्यादेश प्रख्यापित हुए हैं। कल्याण सिंह सरकार के समय अध्यादेशों के प्रख्यापन के संबंध में उठाए गए औचित्य के प्रश्न पर विधान सभा में विस्तार से चर्चा हुई थी और अध्यक्ष केसरी नाथ त्रिपाठी ने व्यवस्था दी थी कि अध्यादेशों का प्रख्यापन कोई गैर कानूनी कार्य नहीं है। सत्र बुला भी लिया गया है, तो भी अध्यादेशों का प्रख्यापन विधि सम्मत है।[1]

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हुआ था कि क्या राज्यपाल सत्रावसान करके अध्यादेश के माध्यम से विनियोग विधेयक पास कर सकता है। सतपाल डंग बनाम पंजाब.[2] का मामला एक महत्वपूर्ण मामला है। 8 मार्च, 1968 को पंजाब राज्य विधान सभा के अध्यक्ष ने सदन के सत्र को दो माह के लिए स्थगित कर दिया। इसके फलस्वरूप चालू वित्तीय वर्ष के लिए विनियोग विधेयक को पारित करना असम्भव हो गया। राज्यपाल ने इस वैधानिक संकट को समाप्त करने के लिए 11 मार्च, 1968 को विधान सभा का सत्रावसान कर दिया और एक अध्यादेश जारी करके बजट तथा विनियोग विधेयक पारित करने की प्रक्रिया को विहित किया, जिससे अनुच्छेद 209 के अन्तर्गत परिकल्पित सारी वित्तीय व्यवस्था समय के भीतर ही पूर्ण हो जाये। अध्यादेश में यह उपबन्धित था कि सदन को उसके प्रस्ताव द्वारा ही स्थगित किया जा सकता है। 18 मार्च को सदन को पुनः आहूत किया गया। जब सदन का सत्र प्रारम्भ हुआ तो अध्यक्ष ने यह व्यवस्था दी कि सदन को बुलाया जाना अवैध और उसके द्वारा 8 मार्च को दी गई व्यवस्था ही वैध है। ऐसी व्यवस्था देकर अध्यक्ष ने सदन का परितयाग कर दिया। तत्पश्चात् उपाध्यक्ष ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण कर लिया और बजट तथा विनियोग विधेयक पास कर दिया गया। राज्यपाल ने उसे अपनी अनुमति प्रदान कर दी।

इस अध्यादेश और इसके अधीन पारित विनियोग विधेयक की वैधता को अग्रलिखित आधारों पर चुनौती दी गयी थी कि :-

(1) क्या राज्यपाल में उन परिस्थितियों में संविधान के अन्तग4त ऐसा अध्यादेश जारी करने की शक्ति निहित थी;

---

1. दैनिक जागरण - 28 जुलाई, 1997 - पूर्वोधृत।

2. सतपाल डंग बनाम पंजाब, 1969 ए. आई आर. एस. सी. 903

(2) क्या अनुच्छेद 209 में परिकल्पित विधि एक अध्यादेश द्वारा विहित की जा सकती है;

(3) क्या अध्यक्ष में अध्यादेश की वैधता पर व्यवस्था देने की शक्ति निहित थी;

(4) क्या विनियोग विधेयक को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उसके पालन करने के लिए निर्धारित प्रक्रिया का समुचित रूप से पालन नहीं किया गया था?

उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्य विधान सभा द्वारा पारित किये गये दोनों विनियोग विधेयक तथा राज्यपाल द्वारा सदन की कार्यवाही को विनियमित करने के लिए जारी किया गया अध्यादेश संवैधानिक है। राज्यपाल की सदन को आहूत करने की शक्ति अक्षुण्ण है। इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल द्वारा सदन के अध्यक्ष द्वारा दी गई व्यवस्था समाप्त करने हेतु किया गया था, क्योंकि अध्यक्ष की व्यवस्था सदन की कार्यवाही को रोकने के लिए तथा अनावश्यक विलम्ब करने के लिए दी गई थी; क्योंकि अनुच्छेद 209 के अन्तर्गत यदि कोई उचित समय वित्तीय मामलों को पारित करने के हेतु था, तो वह यही था, अन्यथा राज्य विधान मण्डल को दो महीने की अवधि के लिए प्रस्तुत कर देने से वित्तीय विषय, संवैधानिकर तंत्र तथा प्रजातन्त्र स्वयमेव ध्वस्त हो जाने की स्थिति में हो जाते।

तत्काल राज्यकाल द्वास सदन को पुनः आहूत कर देना, अध्यक्ष की व्यवस्था से जो तन्त्र बिल्कुल निष्क्रिय हो गया था, सही दिशा में उठाया गया कदम था; क्योंकि इससे राज्य में प्रजातांत्रिक मशीनरी अपने उचित मार्ग पर आ गयी थी।

राज्यपाल की सदन को आहूत करने की शक्ति तथा अध्यादेश जारी करने की शक्ति, संविधान द्वारा प्रदत्त है। राज्यपाल की कार्यवाही औचित्यपूर्ण है। न्यायालय का कहना था कि अध्यक्ष को राज्यपाल के अध्यादेश की वैधता पर निर्णय देने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्यपाल की कार्यवाही की वैधता को विधान सभा के प्रस्ताव द्वारा ही चुनौती दी जा सकती है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या राज्यपाल अध्यादेश के माध्यम से बजट पारित कर सकता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारा हैं एक विचारधारा के अनुसार राज्यपाल अध्यादेश के माध्यम से बजट पारित नहीं कर सकता है, और केवल संसद ही राज्य प्रशासन चलाने के लिए विनियोजन की अनुमति दे सकती है। ऐसा पंजाब, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, और बिहार में

हुआ। 1971 में पंजाब में मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल ने बजट सत्र प्रारम्भ होने के एक दिन पूर्व त्यागपत्र दे दिया। मध्य प्रदेश में 1969 में, मुख्यमंत्री जी.एन. सिंह ने बजट प्रस्तुत करने से पूर्व त्यागपत्र दे दिया, जब कि विधानसभा सत्र में थी। पश्चिम बंगाल में , 1971 में अजय मुखर्जी ने बजट सत्र प्रारम्भ होने के दो दिन पूर्व त्यागपत्र दे दिया। ऐसी ही परिस्थितियों में 1972 में बिहार के मुख्यमंत्री भोला पासवान शास्त्री ने त्यागपत्र दे दिया।[1]

चूंकि इन राज्यों की सरकारों ने बजट पास होने से पूर्व त्यागपत्र दे दिया था, इसलिये इन राज्यों के राज्यपालो ने यहाँ राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी। संसद के द्वारा विनियोजन के द्वारा बजट पारित किया गया। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि राज्यपाल अध्यादेश के द्वारा बजट पास कर सकता है। उड़ीसा में एच. के. महताब सरकार ने 21 जनवरी, 1961 को बजट पारित होने से पूर्व त्याग पत्र दे दिया। राज्यपाल ने अध्यादेश के माध्यम से 23 फरवरी, 1961 को बजट पास कर दिया।[2] राज्यपाल द्वारा यह कार्यवाही मंत्रिमंडल द्वारा अचानक त्यागपत्र देने पर की गयी थी। केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने राज्यपाल की कार्यवाही संविधान के अन्तर्गत अवैधानिक बतायी और राज्य के राज्यपाल से अध्यादेश के अनुरूप कोई कदम नहीं उठाने के लिए कहा गया।[3]

राज्य के किसी भी न्यायालय के निर्णय को अविभावी करने के उद्देश्य से भी अध्यादेश प्रख्यापित किये गये हैं। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में 20 जुलाई, 1962 को अध्यादेश जारी किया गया जब सर्वोच्च न्यायालय ने आर. एल. अरोरा बनाम उत्तर प्रदेश के मामले में भूमि अधिग्रहण अधिनियम के अधीन कुछ प्रावधानों को अनुचित बताया। इसी तरह चरण सिंह की गठबन्धन सरकार ने राज्य उच्च न्यायालय के निर्णय के आधार पर जनसंघ के एक विधायक को अयोग्यता से बचाने हेतु 8 नवम्बर, 1970 को अध्यादेश जारी किया।[4]

---

1. भवानी सिंह – गवर्नर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया समीशन – पृष्ठ 114
2. भवानी सिंह – पूर्वोधृत – पृष्ठ 114
3. एन. एस. गहलौत– पूर्वोधृत– पृष्ठ 164
4. एन. एस. गहलौत – पूर्वोधृत – पृष्ठ 160

राज्यपाल द्वारा इस शक्ति के दुरूपयोग करने व आलोचना का केन्द्र बिन्दु बनने के भी उदाहरण हैं। 1 अप्रैल, 1981 को असम के राज्यपाल ने असम विनियोजन विधेयक (लेखानुदान) 1981 नामक अध्यादेश प्रख्यापित किया। अध्यादेश द्वारा संचित निधि से उन माँगों के लिए व्यय करने का अधिकार प्राप्त हो गया, जिन्हें लेखानुदान के रूप में राज्य विधान सभा ने पारित कर दिया था। 30 मार्च ,1981 को विपक्ष द्वारा बजट पर दो कटौती प्रस्ताव मौखिक मत (Voice vote) द्वारा लाये थे।[1] अगले दिन विधान सभा अध्यक्ष ने सदन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया था और फिर राज्यपाल ने उसका सत्रावसान कर दिया था।[2] सत्रावसान के समय विनियोग विधेयक सदन में लम्बित था। राज्यपाल की अध्यादेश प्रख्यापन की कार्यवाही की 'संविधान पर प्रहार' के रूप में निंदा की गयी।[3] संवैधानिक दृष्टि से अध्यादेश विधिपूर्ण हो सकता है परन्तु राजनीतिक रूप में यह राजनीतिक अनौचित्यता की चरम परिणति थी। अध्यादेश की संवैधानिक वैधता को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गयी परन्तु न्यायालय ने इसे अस्वीकार कर दिया।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने 1967 में एक अध्यादेश प्रख्यापित किया जिसके अनुसार मंत्रियों, विधायकों और सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती थी। परन्तु 15 दिनों के अन्दर ही राज्यपाल ने एक अन्य अध्यादेश प्रख्यापित करके पूर्व के अध्यादेश के प्रभाव को कम कर दिया। दूसरे अध्यादेश का मुख्य उद्देश्य राज्य के उच्च न्यायालय में दायर याचिका के आधार पर अयोग्यता को हटाना था। राज्यपाल की कार्यवाही को 'अध्यादेश - निर्माण शक्ति का दुरूपयोग माना गया' यद्यपि संवैधानिक रूप से राज्यपाल की कार्यवाही उचित थी।[4]

जहाँ तक अध्यादेश की अवधि और सहमति का प्रश्न है, इसे विधायिका की बैठक प्रारम्भ होने के छह सप्ताह के अन्दर उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाना चाहिए। जब विधायिका में दो सदन हो,

---

1. हिन्दुस्तान टाइम्स, 31 मार्च, 1981
2. हिन्दुस्तान टाइम्स, 1 अप्रैल, 1981
3. हिन्दूस्तान टाइम्स, 2 अप्रैल, 1981
4. एन. एस. गहलौत - पूर्वोधृत - पृष्ठ 163

और दोनों सदन अलग-अलग तिथि पर आहूत हो रहे हों तब छह सप्ताह का समय बाद में आहूत होने वाले सदन की तिथि से माना जायेगा। यदि अध्यादेश को छह सप्ताह के अन्दर विधायिका के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया गया तो वह छह सप्ताह की समाप्ति केबाद प्रभावी नहीं रहेगा परन्तु इससे अध्यादेश की प्रारम्भिक वैधता प्रभावित नहीं होगी।[1]

यदि अध्यादेश अनुच्छेद 213 (2) के अन्तर्गत व्यपगत (Lapses) चाहे विधायिका की अस्वीकृति के द्वारा या राज्यपाल ने इसे विधायिका के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया या विधायिका द्वारा इसे अधिनियम के रूप में परिणित नहीं किया गया है, तो अध्यादेश प्रारम्भतः शून्य नहीं हो जाता है। अध्यादेश के अनुरूप, जो कार्य समाप्त या पूर्ण हो गये हैं या अधिकारों को सृजित किया गया है, वे वैध रहेंगे जब तक कि विधायिका अधिनियम के द्वारा अध्यादेश के अधीन की गयी समस्त कार्यवाही को भूतलक्षी प्रभाव से शून्य न घोषित कर दे।[2] इसी प्रकार के विचार एक अन्य मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किये गए ।[3]

इस प्रकार राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर मिश्रित प्रतिक्रिया हुई है। अध्यादेश का प्रख्यापन उचित है या नहीं, इसके सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं। बहुत कुछ अध्यादेश प्रख्यापन के उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि इसका उद्देश्य आपात स्थिति से निपटना है तो यह उचित है, परन्तु यदि इसका उद्देश्य सरकार की त्रुटियों पर पर्दा डालना या उन्हें वैधानिक बनाना है तो यह निश्चित रूप से विधायी सत्ता का दुरूपयोग या अनाधिकृत प्रयोग है। राज्यपाल को इस सम्बन्ध में स्वविवेक का प्रयोग करना चाहिए और जैसा कि श्री के.वी. राव का कहना है कि निम्न परिस्थितियों में अध्यादेश प्रख्यापन नहीं करना चाहिए—

(1) जो संविधानतः अवैधानिक हैं (या राष्ट्रपति की सहमति हेतु आरक्षित करना चाहिए)।

(2) जब मंत्रिमण्डल विधायिका के प्रति 'उत्तरदायी' होने की स्थिति में नहीं है; सामान्यतः तव;

---

1. वेकटरेड्डी बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य, 1985 3 एस. सी. सी. 198
2. वेकटरेड्डी बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य, 1985 3 एस. सी. सी. 198
3. के. नागराज और अन्य बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य 1985 एस. सी. सी. 523

(क) जब मंत्रिमण्डल हाल ही में गठित हुआ हो और इसने अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए अभी तक विधायिका का सामना न किया हो,

(ख) जब अंश (अध्यादेश का) काफी विवादस्पद हो और इस बात में सन्देह हो कि विधायिका इसे सहमति दे देगी।

(ग) जब मंत्रिपरिषद ने त्याग पत्र दे तिया हो, या त्यागपत्र देने का विचार कर रही हो।

दूसरे शब्दों में किसी भी मंत्रिमंडल को अनुमति नहीं दी जानी चाहिए कि वह नीति या कार्यक्रम जिन्हें वह सामान्य विधायी अनुमति से लागू नहीं कर सकता, उन्हें अध्यादेश के माध्यम से लागू करें।[1]

विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में :-

भारत के लगभग सभी राज्य विश्वविद्यालयों में राज्यपाल कुलाधिपति की भूमिका निभाते हैं। पिछले कुछ समय से राज्यपाल व राज्य सरकार के मध्य विश्वविद्यालय प्रशासन के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हुए हैं।

राज्यपाल की विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के रूप में भूमिका किसी संवैधानिक प्रावधान से नहीं ली गई है। राज्यपाल की इस भूमिका को राज्य विश्वविद्यालयों के अधिनियम द्वारा प्रत्येक राज्य में निर्धारित किया गया है। राज्यपाल की कुलाधिपति के रूप में भूमिका भारतीय राजनीति में नई नहीं है। स्वतंत्रता से पूर्व भारत में ब्रिटिश गवर्नर विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति होते थे। 1857 में भारत में पहली बार तीन विश्वविद्यालों की स्थापना हुई थी जिसमें कुलाध्यक्ष (Visitorial Powers) की शक्तियाँ गवर्नरों में विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में निहित की गयी थीं।[2] स्वतंत्रता के पश्चात् प्राचीन व्यवस्था चल रही है, परन्तु राज्यपाल की राज्य प्रशासन में भूमिका की ही भांति, विश्वविद्यालय प्रशासन में भूमिका भी राजनीतिक विवाद का कारण बनी हैं।

---

1. के० वी0 राव- गाइडलाईन्स फार दि गवर्नर, वीरेन्द्र ग्रोवर द्वारा सम्पादित- फेडरल सिस्टम, स्टेट आटोनॉमी एण्ड सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स, पृष्ठ-302

2. एन. एस. गहलौत - पूर्वोधृत - पृष्ठ 206

राज्यपाल यद्यपि अपने पद के कारण ही कुलाधिपति होता है और राज्यपाल न रहने पर वह कुलाधिपति भी नहीं रहेगा। परन्तु इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह कुलाधिपति के रूप में सौंपे गये कार्यों को राज्यपाल की हैसियत से करे। राज्यपाल की कुलाधिपति के रूप में प्राप्त शक्तियों को उसकी कार्यपालिका शक्ति के समतुल्य नहीं माना जा सकता है। कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में वह मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्यकरता है, परन्तु चूंकि कुलाधिपति विश्वविद्यालय का एक अधिकारी होता है, इसलिए वह कुलपति की नियुक्ति जैसे कार्यों के लिए राज्य सरकार की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।[1]

विश्वविद्यालय अधिनियम कुलाधिपति को विश्वविद्यालय का एक अंग बनाते हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय में वह विश्वविद्यालय के 'अधिकारी' के रूप में जाना जाता है। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में, भारत का राष्ट्रपति कुलाध्यक्ष (Visitor) है और जिस राज्य में विश्वविद्यालय अवस्थित है, उस राज्य का राज्यपाल मुख्य कुलाधिसचिव (Chief Rector) होता है। राष्ट्रपति राज्य विश्वविद्यालयों का भी कुलाध्यक्ष हो सकता है।[2]

कुलाधिपति की स्थिति के सम्बन्ध में तब विवाद उत्पन्न हुआ, जब 'बिहार विश्वविद्यालय अधिनियम 1950' पर बिहार विधान सभा में वाद-विवाद हुआ। कुछ सदस्य राज्यपाल को कुलाधिपति बनाने के पक्ष में नहीं थे। उनका तर्क था कि राज्य विधायिका को अधिकार नहीं है कि वह घोषणा करे कि राज्यपाल को कुलाधिपति होना चाहिए। राज्य विधान सभा राज्यपाल को संविधान द्वारा प्रदत्त कर्त्तव्यों में और कर्तव्यों को जोड़ने में सक्षम नहीं है। इस सम्बन्ध में बिहार के महान्यायवादी की सलाह मांगी गयी। उनका कहना था कि शिक्षा ऐसा विषय है जिस पर राज्य विधायिका विधि निर्माण कर सकती है, इसलिए राज्यपाल को कुलाधिपति के रूप में कुछ शक्तियों को निहित करना असंवैधानिक नहीं होगा। उनके मुख्य सुझाव थे:- [3]

---

1. एम. किरन बाबू बनाम आन्ध्र प्रदेश, ए. आई. आर. 1986, आन्ध्र प्रदेश 275।
2. भवानी सिंह - पूर्वोधृत- पृष्ठ 119
3. भवानी सिंह - पूर्वोधृत पृष्ठ 120

(1) कुलाधिपति का पद राज्यपाल के पद से अलग है।

(2) यद्यपि राज्यपाल पदेन कुलाधिपति होगा परन्तु कुलाधिपति के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते समय वह राज्य कार्यपालिका अध्यक्ष के रूप में कार्य नहीं करेगा और इसलिये विश्वविद्यालयों के मामले में उसे अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य नहीं करना है।

(3) संविधान राज्यपाल को कुलाधिपति का पद ग्रहण करने से प्रतिबन्धित नहीं करता है।

(4) राज्यविधायिका राज्यपाल को कुलाधिपति की शक्तियाँ प्रदान करने में सक्षम है।

सामान्यत: राज्यपाल कुलपतियों की नियुक्तियों में मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करता है, परन्तु ऐसे कई उदाहरण हैं जब राज्यपालों ने मंत्रिपरिषद की सलाह की उपेक्षा करते हुए स्वविवेक का प्रयोग किया है। उड़ीसा के राज्यपाल श्री एस. एस. अन्सारी ने राज्य मंत्रिमंडल की सलाह की उपेक्षा करते हुए औषधि विज्ञान के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर श्री एन. एन. चौधरी को उड़ीसा विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में नियुक्ति की। मुख्यमंत्री श्री विश्वनाथ दास ने राज्यपाल से मिलकर अपना निर्णय वापस लेने को कहा, परन्तु उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया।[1]

पश्चिम बंगाल में मुख्यमंत्री बी. सी. राय ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति पद के लिए प्रसिद्ध इतिहासकार श्री निहार रंजन राय का नाम प्रस्तावित किया, परन्तु राज्यपाल पद्मजा नायडू ने इस, पद पर प्रसिद्ध चिकित्सक सुबोध मिश्रा की नियुक्ति की। कुलाधिपति श्री आर. आर. दिवाकर ने बिहार विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर प्रसिद्ध आँखो के सर्जन दुखन राम की नियुक्ति की, जिन्होंने कुछ समय पूर्व भारत के राष्ट्रपति की आँखों का सफल ऑपरेशन किया था। यह नियुक्ति मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना की गयी और ऐसा समझा जाता है कि श्री राम को यह पद पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया गया।[2] राँची विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर एक ईसाई मिशनरी, श्री ए. एफ. मरखम की नियुक्ति की सलाह का प्रारम्भ में कुलाधिपति श्री आयंगर ने विरोध किया, क्योंकि शरी मरखम अभी

---

1. एन. एस. गहलौत – पूर्वोधृत– पृष्ठ 213।

2. भवानी सिंह – पूर्वोधृत– पृष्ठ 130।

भी ब्रिटिश नागरिक थे। यद्यपि वह 30 वर्ष से अधिक अवधि से भारत में रह रहे थे। मुख्यमंत्री श्री के. बी. सहाय अपने दल की छवि को सुधारने तथा ईसाई बाहुल्य राँची की जनसंख्या की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे। नियुक्ति में कुछ महीनों का विलम्ब हुआ, और कुछ लोगों का कहना था कि दिल्ली के वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं के हस्तक्षेप के बाद यह नियुक्ति की गयी। श्री आयंगर ने बिहार विश्वविद्यालय के कुलपति पी. एल. श्रीवास्वतव को द्वितीय विस्तार देने से मना कर दिया, जबकि राज्य के शिक्षामंत्री विस्तार देने के बहुत इच्छुक थे। भागलपुर विश्वविद्याल के कुलपति पद पर नियुक्ति में उन्होंने राज्य मंत्रिपरिषद की सलाह नहीं ली और कहा जाता है कि उन्होंने प्रथम गठबन्धन सरकार के उप-मुख्यमंत्री, जिनके पास शिक्षा विभाग का भी कार्यभार था, की सलाह की उपेक्षा करते हुए कुलपति पद पर नियुक्ति की।[1]

केरल की राज्यपाल श्रीमती ज्योति वेंकटाचलम ने डा० ए. वी. वर्गीज की केरल विश्वविद्याल के कुलपति के रूप में नियुक्ति की। राज्यपाल - कुलाधिपति ने इस नियुक्ति से पूर्व राज्य मंत्रिमंडल की सलाह नहीं ली गयी थी, अतएव इस नियुक्ति से राज्य सरकार व राज्यपाल के मध्य तनाव उत्पन्न हुआ।[2] राज्य सरकार डा० वसु को कुलपति नियुक्त करना चाहती थी, जिनका नाम कुलपतियों की नियुक्ति हेतु गठित समिति के द्वारा तैयार पैनल में था। सरकार का कहना था कि राज्यपाल ने राज्य में मुख्यमंत्री की सलाह से कुलाधिपति द्वारा कार्य करने की परम्परा का उल्लंघन किया है, जबकि विपक्ष ने शैक्षणिक हित की दृष्टि से राज्यपाल की कार्यवाही का समर्थन किया।[3]

हरियाणा में महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक के कुलपति के रूप में हरियाणा विधान सभा के निर्वाचित सदस्य श्री हरद्वारी लाल की नियुक्ति की गयी। राज्यपाल श्री एच. एस. बरार ने श्री लाल के पास प्रस्ताव भेजा कि वह उस पद को स्वीकार कर लें और आश्वासन दिया की कुलपति के रूप में उन्हें कम से कम छह वर्ष का कार्यकाल प्रदान किया जायेगा। श्री लाल ने प्रस्ताव स्वीकार कर

---

1. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत- पृष्ठ 220
2. हिन्दुस्तान टाइम्स, 8 जुलाई, 1981
3. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 11 जुलाई, 1981

लिया और राजनीति से त्यागपत्र देकर अक्टूबर 1971 में कुलपति पद पर आसीन हो गए। एक कार्यकाल की समाप्ति (तीन वर्ष) पर हरियाणा सरकार ने 1980 में उन्हें पद से हटा दिया। चूंकि यह नियुक्ति 1977 में राज्य की जनता सरकार की सलाह पर की गयी थी, अत: 1980 में कांग्रेस (आई) की सत्ता प्राप्ति के पश्चात् यह कार्यवाही की गयी। यही नहीं कांग्रेस (आई) सरकार ने महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के अधिनियम के सेक्शन 9-A में संशोधन करके श्री लाल की पुन: नियुक्ति की सम्भावना समाप्त की। मामला हरियाणा उच्च न्यायाल के समक्ष लाया गया। न्यायालय ने विश्वविद्यालय अधिनियम में संशोधन को खारिज कर दिया और श्री लाल को पुन: नियुक्त करने का आदेश दिया। न्यायालय का कहना था कि कुलाधिपति को 'वास्तविक आश्वासन' को पूर्ण करना चाहिए। परन्तु न्यायालय ने कुलाधिपति की कार्यवाही को न्यायालय में चुनौती दिए जाने पर की गयी आपत्ति को गलत ठहराया।[1] 1983 में पश्चिम बंगाल के राज्यपाल-कुलाधिपति ए.पी. शर्मा व राज्य सरकार के मध्य तब सम्बन्ध विगड़ गये जब कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में श्री सन्तोष भट्टाचार्य की नियुक्ति की गयी। कलकत्ता विश्वविद्यालय की सीनेट ने तीन सदस्यों का एक पैनल निर्वाचित किया, जिसमें सन्तोष भट्टाचार्य, आर. के. पोद्दार और डी. के. बोस के नाम थे। श्री भट्टाचार्य को प्रथम वरीयता के सर्वाधिक मत प्राप्त हुये थे, दूसरे नंबर पर पोद्दार थे। शिक्षामंत्री श्री पोद्दार के पक्ष में थे, जबकि राज्यपाल ने श्री भट्टाचार्य की नियुक्ति की।[2] मुख्यमंत्री ने राज्यपाल पर केन्द्र के निर्देशानुसार कार्य करने का आरोप लगाया और विरोध स्वरूप वाम मोर्चा समिति ने राज्यपाल की उपस्थिति वाले समारोहों का बहिष्कार किया।[3] राज्यपाल ने वर्दवान विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति में भी राज्य के शिक्षामंत्री की सलाह की उपेक्षा की। वर्दवान विश्वविद्याल कोर्ट ने बिना वरीयता के तीन नामों की सूची प्रेषित की, जिसमें से राज्य सरकार ने एक नाम, प्रसाद घोष की संस्तुति की. परन्तु राज्यपाल ने उसी सूची में से अन्य नाम संकरी प्रसाद बनर्जी को कुलपति पद के लिए चुना। राज्य सरकार ने राज्यपाल के पूर्ण बहिष्कार की घोषणा की। आन्ध्र-प्रदेश की गैर कांग्रेसी सरकार व

---

1. एन. एस. गहलौत - पूर्वोधृत- पृष्ठ 214
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 9 मई, 1984
3. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत- पृष्ठ 220-221

राज्यपाल राम लाल के मध्य विवाद कुलपति की नियुक्ति को लेकर भी हुआ। श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति में राज्यपाल ने राज्य सरकार की सलाह की उपेक्षी की।[1] इसी तरह तमिलनाडु के राज्यपाल एस. एल. खुराना ने मदुरई-कामराज विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति में मंत्रिपरिषद की सलाह अस्वीकार की।[2]

केरल में राज्य विधान सभा ने राज्यपाल-कुलाधिपति श्रीमती राम दुलारी सिन्हा द्वारा सरकार व केरल विश्वविद्यालय की सलाह की उपेक्षा करते हुये, कालीकट व केरल विश्वविद्यालय के सीनेट में किये गये मनोनयन की निन्दा की। राज्य विधान सभा ने 2 फरवरी, 1989 को अपारम्परिक तरीके से श्रीमती सिन्हा की कार्यवाही की निन्दा करते हुए प्रस्ताव पारित किया। श्रीमती सिन्हा ने सरकार द्वारा केरल विशवविद्यालय के लिये सात नामों की सूची को त्याग दिया था और अपनी पसन्द के व्यक्ति को मनोनीत करने से पहले न तो सरकार और न ही विश्वविद्याल से सलाह ली।[3]

बिहार में भी मुख्यमंत्री भगवत झा आजाद व राज्यपाल गोविन्द नारायण सिंह के मध्य राज्य विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की नियुक्ति को लेकर तनाव उत्पन्न हुआ था।[4]

तमिलनाडु के राज्यपाल एम. चेन्ना रेड्डी व मुख्यमंत्री जयललिता के मध्य कटुतापूर्ण सम्बन्ध सर्वविदित हैं और राज्यपाल को कुलाधिपति पद से हटाने के उद्देश्य से राज्य विधान सभा में विधेयक पारित किया गया। 5 जनवरी, 1994 को तमिलनाडु विधान सभा ने राज्य के तेरह विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति पद से राज्यपाल को हटाते हुए, यह पद मुख्य मंत्री को प्रदान करने हेतु दो संशोधन विधेयक पारित किए। मुख्य विपक्षी कांग्रेस ने इसे राज्यपाल को अप्रभावी व उसकी शक्तियां कम करने की व्यवस्थित योजना बताया और सदन का बहिष्कार किया।[5]

---

1. एन. एस. गहलौत- पूर्वोधृत - पृष्ठ 363
2. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया 6, अक्टूबर 1985
3. एशियन रिकार्डर, 12-18 मार्च, 1989 पृष्ठ 20480-81
4. नार्दन इण्डिया पत्रिका, भावना मिश्रा - दि रोल ऑफ गवर्नरस इन इण्डिया पृष्ठ 6
5. एशियन रिकार्डर - 29 जनवरी- 4 फरवरी, 1994 पृष्ठ 23715

कुलाधिपति को कुलपतियों को पदच्युत करने का भी अधिकार है। यदि कुलाधिपति की दृष्टि में कुलपति जान बूझकर उसके आदेशों का विरोध या उल्लंघन करे या अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करे और यदि कुलाधिपति को लगे कि कुलपति का कार्यरत रहना विश्वविद्यलय हित के अनुरूप नहीं है, तो कुलाधिपति जाँच के पश्चात् जैसा वह उचित समझे, अपने आदेश से कुलपति को पदच्युत कर सकता है।[1]

कुछ राज्यों में जाँच के समय कुलपति को निलम्बित करने का भी प्रावधान है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में गोरखपुर विश्वविद्यालय की कुलपति प्रो० प्रतिमा अस्थाना को उनके विरुद्ध चल रही जाँच के कारण 17 मई, 1990 को निलम्बित कर दिया गया। मार्च 1991 तक उनके विरुद्ध आरोप नहीं लगाये गये। इस कारण प्रो० अस्थाना ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में याचिका दायर की और न्यायालय ने निलम्बन आदेश को रद्द करते हुए कहा- ''याचीकर्ता के विरुद्ध शिकायतों के आधार पर औचपारिक आरोप लगाने से पूर्व की जाँच प्रारम्भिक स्तर पर है। सात माह व्यतीत होने के पश्चात भी अधिकारी आरोप निर्धारित करने की स्थिति में नहीं है। कुलपति-एक उच्च विद्वत गरिमा - का निलम्बन गम्भीर मामला है। इन परिस्थितियों में विलम्ब को अनदेखा नहीं किया जा सकता।''[2]

एच. एन. बी. विश्वविद्यालय, गढ़वाल श्रीगनर (उत्तर प्रदेश) के कुलाधिपति ने अपने 1 दिसम्बर, 1992 के आदेश द्वारा कुलपति बी. एस. राजपूत को पद पर कार्य करने से मना कर दिया (निलम्बन के प्रभाव से)। श्री राजपूत ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में याचिका दायर की और न्यायालय ने उनके निलम्बन को उचित न मानते हुए आदेश रद्द कर दिया।[3]

कुलाधिपति द्वारा कुलपति को पदच्युत करने के अन्य उदाहरण भी हैं। जून 1965 में, कूरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के कुलपति को कुलाधिपति ने पदच्युत कर दिया। अप्रैल 1982 में कुलाधिपति श्री किदवई ने बिहार, मिथिला और मगध विश्वविद्यालय के कुलपितयों को पदच्युत कर दिया। अगस्त

---

1. चन्द्र भूषण पाण्डे, गदर्वनर : प्रिजर्वर, प्रोटेक्टर एण्ड डिफेन्डर ऑफ दि कॉन्सटीटूयूशन पृष्ठ-277
2. प्रो० प्रतिमा अस्थाना बनाम कुलाधिपति गोरखपुर विश्वविद्यालय 1991 खण्ड-। यू.पू.एल.बी.ई.सी. 448.
3. प्रो० बी० एस० राजपूत बनाम कुलाधिपति और अन्य 1995 वाल्यूम 2 यू.पी.एल.बी.सी. पृष्ठ-818।

1985 में कुलाधिपति ने बिहार विश्वविद्यालय के कुलपति को भ्रष्टाचार के आरोप में पदच्युत कर दिया। अक्टूबर 1985 में बिहार विश्वविद्यालयों के प्रशासन में संशोधन सम्बन्धी दो अध्यादेश प्रख्यापित हुए। संशोधित प्रावधान के अनुसार कुलपति तीन वर्ष से अनधिक कुलाधिपति के प्रसाद-पर्यन्त पद पर कार्यरत रहेंगे। अध्यादेश के प्रख्यापन के तुरन्त पश्चात बिहार विश्वविद्यालयों के सभी कुलपतियों व उपकुलपतियों ने पदच्युति के भय से त्यागपत्र दे दिया।[1]

इसके अतिरिक्त कुलाधिपति को विश्वविद्यालय कार्यपरिषद सीनेट/सिण्डीकेट में सदस्यों के मनोनयन का भी अधिकार है। कुलाधिपति को विश्वविद्यालय अधिनियमों व अध्यादेशों की स्वीकृति प्रदान करने का भी अधिकार है। कुलाधिपति को अर्द्ध न्यायिक अधिकार भी प्राप्त हैं और विश्वविद्यालय के सामान्य प्रशासन की जाँच व निरीक्षण का भी अधिकार प्राप्त है।

बिहार में कुलाधिपति श्री आयंगर ने अपनी इस शक्ति का निरन्तर प्रयोग किया। इसी तरह ए.आर. किदवई ने भी कुलाधिपति के रूप में सक्रिय भूमिका निभाई। उत्तर प्रदेश में मोतीलाल वोरा ने उच्चतर शिक्षा को प्रोत्साहित करने में सक्रिय भूमिका निभाई। उन्होंने दो सदस्यीय समिति नियुक्त की जिसने राज्य के प्रत्येक विश्वविद्यालय में भ्रमण करके श्री वोरा को रिपोर्ट दी और विश्वविद्यालय प्रशासन को सुधारने, वित्तीय स्थिति को अच्छी करने तथा सत्र नियमन के लिये सरकार ने अनेक कार्यक्रम चलाए। उन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों में दीक्षान्त समारोहों का पुनः प्रचलन हुआ।[2]

इस प्रकार से राज्यपाल कुलाधिपति के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कुलाधिपति के रूप में प्रदत्त अपने अधिकारों का वह स्वविवेक से प्रयोग करता है। इन कार्यों के लिये वह मंत्रिमण्डल की सलाह ले सकता है परन्तु वह सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है।[3] पूर्व राष्ट्रपति श्री नीलम

---

1. सिबरंजन चैटर्जी - पूर्वोधृत- पृष्ठ - 226
2. चन्द्र भूषण पाण्डे - पूर्वोधृत - पृष्ठ 283-284
3. इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रशासनिक सुधार आयोग, राज्यपालों की समिति (1971) व सरकारिया आयोग ने प्रकट किये है।

संजीव रेड्डी ने अपनी पुस्तक ''विदाउट फियर एण्ड फेवर'' में विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि उन्होंने एक से अधिक बार महान्यायवादी से सलाह ली है और न्यायालयों के निर्णय के आधार पर उनका भी मानना है कि कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल स्वतंत्र रूप से कार्य करता है। उनका मानना है कि स्वतंत्र रूप में कार्य करते हुए कई पर विवाद उत्पन्न होते हैं जो न्यायालय तक पहुँचते हैं और यह स्थिति आशा के अनुरूप नहीं है। इसलिये स्पष्ट आधिकारिक घोषणा के माध्यम से राजनीतिक विवादों से बचा जा सकता है।[1]

वास्तव में कुलाधिपति के रूप में विवादित भूमिका के पीछे भी कारण वही है कि राज्यपाल पद पर राजनीतिज्ञों की नियुक्ति होती रही है, जो इस गरिमामय पद के योग्य नहीं हैं। वे अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा के कारण राज्य सरकार से टकराने में भी नहीं हिचकते हैं। यदि राज्य सरकार का कुलाधिपति के मध्य तनाव को कम करना है, तो आवश्यक है कि कुलाधिपति व मंत्रियों के मध्य अर्थपूर्ण सलाह की परम्परा को उत्पन्न किया जाय।

---

1. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, 2 दिसम्बर, 1989, 'दि गर्वनरस रोल एज चान्सलर, श्री अमरीक सिंह द्वारा उद्धघृत पृष्ठ-6

सप्तम् अध्याय

सरकारिया आयोग के सुझाव व उनके परिप्रेक्ष्य में राज्यपालों की भूमिका

सरकारिया आयोग के सुझाव व उनके परिप्रेक्ष्य में राज्यपालों की भूमिका

भारतीय संविधान के लागू होने के समय से ही यह शिकायत की जाती रही है कि संविधान में केन्द्र की तरफ इतना अधिक झुकाव है कि केन्द्र सर्वशक्तिमान हो गया है और राज्यों को संविधान द्वारा प्रदत्त अनेक सुरक्षा कवचों के उपरान्त भी राज्य केवल गौरवान्वित निगम बन कर रह गये हैं । सन 1935 से उठी स्वायत्त राज्यों की मांग अचानक अगस्त 1947 में आकर खत्म हो गयी, जब उपमहाद्वीप का बँटवारा हो गया। पहले कांग्रेसी नेता ऐसी संवैधानिक व्यवस्था के पक्ष में थे, जिसमें केन्द्र के पास केवल वही अधिकार होंगे जो उसके लिए अति आवश्यक थे अर्थात राज्यों की आन्तरिक स्वायत्तता के पक्ष में थे । यह सहमति देश के बटवारे को रोकने के लिये थी। बँटवारे से उत्पन्न स्थिति व घटना क्रम के पश्चात् अधिक शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता महसूस की गयी । इस व्यवस्था में राज्यपाल को केन्द्र के एजेन्ट (अभिकर्ता) के रूप में मुख्य भूमिका निभानी थी। प्रत्यक्ष रूप से तो वह राज्य विशेष का प्रमुख था, परन्तु वास्तव में वह केन्द्र सरकार के हाथों में संवैधानिक खिलौना था। दूसरे शब्दों में उस समय सत्ताधारी दल के हाथों का संवैधानिक खिलौना। सन 1952 में कांग्रेस पार्टी केन्द्र के साथ ही साथ भारत संघ के पेप्सू राज्य को छोड़कर सभी राज्यों में सत्ता में आयी । पेप्सू में थोड़े समय के लिये सत्ता विरोधी दलों के हाथों में रही, किन्तु पेप्सू में राज्यपाल के माध्यम से शीघ्र ही राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और निर्वाचन के पश्चात् वहां भी कांग्रेस सत्ता में आ गयी। केन्द्र द्वारा राज्यपाल पद के दुरूपयोग के विरूद्ध विरोधी दलों ने आवाज उठायी। चूंकि यह इस प्रकार का प्रथम मामला था और वह भी इतने छोटे राज्य का जिसकी वरीयता कोई ध्यान देने योग्य न थी, विरोधी दलों के विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । लेकिन 1957 के द्वितीय आम चुनाव के पश्चात् भारत के राजनीतिक परिदृश्य में गम्भीर परिवर्तन हुआ। एक छोटे राज्य केरल में भारत के साम्यवादी दल ने निर्वाचन में सफलता प्राप्त कर सत्ता पर अधिकार कर इतिहास रच दिया। उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह सरकार स्थिर थी और प्रशासन के सन्दर्भ में अच्छा कार्य कर रही थी । जब

सरकार गिराने के सभी प्रयास असफल हो गये तो केन्द्र सरकार ने पुन: गैर कांग्रेसी सरकार से छुटकारा पाने के लिए राज्यपाल पद का सहारा लिया। तभी से अनेकों मामले सामने आये हैं, जब केन्द्र में सत्ताधारी दल ने पक्षपात पूर्ण लक्ष्यों के लिये राज्यपाल का प्रयोग किया । चूंकि कांग्रेस पार्टी सर्वाधिक समय तक सत्ता में रही, इसलिये इसने सर्वाधिक समय तक राज्यपाल पद का दुरूपयोग किया। परन्तु जनता पार्टी भी सरकार गिराने के खेल में पीछे नहीं रही और जैसे ही यह 1977 में सत्ता में आयी, इसने भी नौ राज्यों की कांग्रेसी सरकारों को गिरा दिया। इस प्रकार यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि सभी राजनीतिक दलों ने केन्द्र का वर्चस्व स्थापित करने की दृष्टि से राज्यपाल से अनुचित लाभ उठाया, यद्यपि इस दिशा में कांग्रेस दल अग्रणीय रहा ।

इसके अतिरिक्त समय के साथ ही साथ देश के विभिन्न भागों में अलगाववादी आन्दोलन प्रारम्भ हुए और कई मामलों में अलगाववादी कुछ विशेष सुविधाओं को प्राप्त करने के पश्चात् ही शान्त हुए। इससे भारत में संवैधानिक सत्ता की दृष्टि से असमान राज्यों का जन्म हुआ । यदि अनुच्छेद 370 मुस्लिम बाहुल्य राज्य जम्मू व कश्मीर को विशेष दर्जा प्रदान करता है, तो ईसाई समुदाय के आधिपत्य वाले नागालैंण्ड व मिजोरम राज्य भी केन्द्र सरकार से विशेष सुविधाएं प्राप्त करने में सफल रहे हैं। जैसे ही विभिन्न विरोधी दलों ने विभिन्न राज्यों में अपना अधिकार स्थापित किया उनकी तरफ से अधिक शक्तियों की मांग की जाने लगी। जब यह मांग जोर पकड़ने लगी और कुछ हद तक सर्वव्यापकता प्राप्त कर ली तब केन्द्र सरकार, एक आयोग बनाने की घोषणा के लिये मजबूर हो गयी। 24 मार्च, 1983 को श्री आर. एस. सरकारिया, भारत के उच्चतम न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की घोषणा की गयी । संसद में बोलते हुए स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने घोषणा की कि, ''यह आयोग इन वर्षों के दौरान हुए सामाजिक और आर्थिकि विकासों को ध्यान में रखते हुए केन्द्र व राज्यों के बीच वर्तमान सम्बन्धों की समीक्षा करेगा। इस समीक्षा में लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने में राष्ट्र की एकता और अखण्डता को महत्त्व दिया जायेगा।''[1] उन्होंने यह भी घोषणा की कि आयोग केन्द्र और राज्यों के बीच वर्तमान व्यवस्था की ऐसी कार्य

---

1. भवानी सिंह – गवर्नर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया आयोग – पृष्ठ 153

प्रणाली की जांच करेगा और उक्त व्यवस्था में ऐसे उपयुक्त परिवर्तनों की सिफारिश करेगा, जो वर्तमान संवैधानिक ढांचे के अधीन उपयुक्त होंगे। आयोग का औपचारिक रूप से गठन भारत सरकार के गृह मंत्रालय की अधिसूचना संख्या IV 11017/1/83 सी.एस. आर. दिनांक 9 जून, 1983 के अन्तर्गत किया गया था। इसके बाद उसमें दो सदस्य और शामिल किये गये । श्री बी. शिव रामन की नियुक्ति 7 जुलाई, 1983 को और डा. एस.आर. सेन की नियुक्ति 27 जुलाई, 1983 को की गयी। इस अधिसूचना में घोषित आयोग के विचारार्थ विषय इस प्रकार थे :-

1. आयोग, केन्द्र राज्यों की शक्तियों कार्यों और जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में उनके वर्तमान सम्बन्धों की जांच और समीक्षा करेगा और उनमें यथोचित परिवर्तनों व उपायों की सिफारिश करेगा ।

2. केन्द्र व राज्यों के बीच विद्यमान व्यवस्थाओं के कार्य चालन की जांच और समीक्षा करते समय आयोग इस सम्बन्ध में अपेक्षित परिवर्तनों और उपायों के बारे में सिफारिशें करते समय आयोग इन वर्षों के दौरान हुए सामाजिक एवं आर्थिक विकास को भी ध्यान में रखेगा। आयोग संविधान की उस योजना और स्वरूप को भी ध्यान में रखेगा जिसे हमारे संविधान निर्माताओं ने अत्यन्त श्रमपूर्वक देश की स्वतंत्रता की रक्षा और देश की एकता और अखण्डता सुरक्षित रखने के लिये जनता के कल्याणार्थ बनाया है।[1]

जनवरी 1984 में, 7 भागों में विभाजित 109 प्रश्नों की एक प्रश्नावली जारी की गयी थी । इन 7 भागों का विवरण इस प्रकार है:- प्रस्तावना, विधायी सम्बन्ध , राज्यपाल की भूमिका, प्रशासनिक संबंध, वित्तीय सम्बन्ध, आर्थिक और सामाजिक योजना और विविध जिसमें उद्योग, व्यापार और वाणिज्य , कृषि, खाद्य और नागरिक आपूर्ति, शिक्षा तथा अन्तर सरकारी समन्वय कार्य शामिल हैं। इस प्रश्नावली की प्रतियां संसद सदस्यों, राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों, राज्यपालों, भूतपूर्व राज्यपालों, मुख्यमंत्रियों , भूतपूर्व मुख्यमंत्रियों , विश्वविद्यालयों के कुलपतियों, संस्थाओं, पत्रकारों, विधिशास्त्रियों, राजनेताओं, अर्थशास्त्रियों, मजदूर संघों, संविधान सभा के भूतपूर्व सदस्यों और विभिन्न राजनीतिक दलों को दी गयी थी। प्रश्नावली की प्रतियाँ केन्द्र सरकार और उसके विभागाध्यक्षों को भी भेजी गयी थी।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग- I - भारत सरकार मुद्रणालय, पृष्ठ - iii

तकनीकी समस्याओं से सम्बन्धित लगभग 10 या 12 प्रश्नों के एक सैट वाली अनुपूरक प्रश्नावली सम्बन्धित विशेषज्ञों तथा केन्द्र सरकार के मंत्रालयों, राज्य सरकारों, विख्यात विधिशास्त्रियों , भूतपूर्व राज्यपालों, प्रतिष्ठित राजनेताओं और अन्य व्यक्तियों को भेजी गयी थी। आयोग ने लगभग पाँच वर्षों के कठिन परिश्रम के पश्चात् दो भागों में विभाजित 1580 पृष्ठों में प्रकाशित सारगर्भित रिपोर्ट प्रस्तुत की।

चूँकि सरकारिया आयोग का प्रत्यक्ष उद्देश्य केन्द्र - राज्य सम्बन्धों पर विस्तृत रूप से पुनर्विचार करना था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि यह राज्यपाल पद पर पर्याप्त विचार करे, जो कि संघीय व्यवस्था में केन्द्रीय भूमिका रखता है । यह सत्य है कि राज्यपाल केन्द्र व राज्य को जोड़ने वाला प्रमुख सूत्र है, लेकिन यह भी सत्य है कि यह दोनों के मध्य सम्बन्धों को बिगाड़ने के लिये उतना ही जिम्मेदार भी है। वास्तव में राज्यपाल की भूमिका इतनी विवादस्पद हो गयी कि केरल सरकार ने राज्यपाल के पद को समाप्त करने की मांग की।[1] राज्यपाल पद से सम्बन्धित सरकारिया आयोग की संस्तुतियों का मूल्यांकन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

नियुक्ति :-

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं -

1. उसे जीवन के किसी न किसी क्षेत्र में प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए ।[2]
2. जिस राज्य में उसकी नियुक्ति हो रही हो, उस राज्य का वह निवासी नहीं होना चाहिए ।
3. उसे तटस्थ व्यक्ति होना चाहिए तथा राज्य की स्थानीय गुटबाजी से अधिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए ।
4. उसे ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जिसने राजनीति में अधिक भाग न लिया हो और विशेष रूप से हाल ही में ।

---

1. इण्डियन एक्सप्रेस , 16 जून, 1988 पृष्ठ 1
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग- I - पृष्ठ-124 पैरा 4-16.01

5. अल्पसंख्यक वर्गों से सम्बद्ध व्यक्तियों को भी मौका दिया जाना चाहिए जैसा कि अब तक किया जाता रहा है ।

6. यह वांछनीय होगा कि ऐसे किसी व्यक्ति को ऐसे किसी राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त न किया जाय जो केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी का राजनीतिज्ञ हो, जिस राज्य का शासन किसी अन्य पार्टी द्वारा चलाया जा रहा हो, अथवा अन्य पार्टियों के मेल जोल से चलाया जा रहा हो।[1]

7. संविधान में संशोधन के द्वारा यह सुनिश्चित किया जाय कि किसी भी राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति उस राज्य के मुख्यमंत्री के परामर्श से ही की जाय।[2]

8. राज्यपाल का चुनाव करते समय प्रधानमंत्री को भारत के उपराष्ट्रपति और लोक सभा के अध्यक्ष से परामर्श लेना चाहिए । परामर्श गुप्त तथा अनौपचारिक होना चाहिए तथा संवैधानिक दायित्व का मामला नहीं होना चाहिए।[3]

उपरोक्त सिफारिशों से स्पष्ट होता है कि आयोग ने राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कोई बड़े परिवर्तन की सिफारिश नहीं की। मात्र कुछ छोटे मोटे परिवर्तनों को छोड़कर, सरकारिया आयोग का यह सुझाव कि राज्यपाल को किसी क्षेत्र का प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए एक सन्देह का विषय है, क्योंकि अन्तत: केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही प्रतिष्ठा का निर्धारण होगा । आयोग न तो प्रतिष्ठा को परिभाषित करता है और न ही ऐसा कोई सुझाव प्रस्तुत करता है, वरन् केन्द्र सरकार को एकमात्र प्रतिष्ठा मापने का निर्णायक बना देता है। इसलिये यह कहना असंगत न होगा कि इस छिद्र बिन्दु का दुरूपयोग केन्द्र सरकार किसी भी व्यक्ति को राज्यपाल के पद पर नियुक्त कर सकता है एवं कोई भी व्यक्ति इस पर प्रश्न नहीं उठा सकता, क्योंकि केन्द्र सरकार ही किसी व्यक्ति को राज्यपाल पद पर नियुक्ति की योग्यता की एकमात्र निर्धारक है।[4]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग-। - पृष्ठ-124 पैरा 4.16.02
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग-। पृष्ठ-124 पैरा 4.16.03
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग-। पृष्ठ-124 पैरा 4.16.04
4. केन्द्र सरकार द्वारा प्रतिष्ठा,निर्धारण करने के कारण ही राजनीतिज्ञो, नौकरशाहों और भूतपूर्व अवकाश प्राप्त न्यायाधाशों को इस पद पर नियुक्ति दी गयी है।

द्वितीयत: आयोग किसी राजनीतिज्ञ को राज्यपाल पद पर नियुक्ति के लिये रोक नहीं लगाता है। आयोग केवल यह कहता है कि वह किसी भी प्रकार से सक्रिय राजनीतिज्ञ नहीं होना चाहिए और पिछले कुछ समय से उसने सक्रिय राजनीति में भाग न लिया हो। यह सुझाव अनिश्चित्ता का एक अन्य उदाहरण है, क्योंकि कोई भी किसी प्रकार से राजनीतिक सहभागिता का मात्रात्मक निर्धारण कर सकता है और यह निश्चित कर सकता है कि कोई व्यक्ति राजनीति में भागीदार है या नहीं । इसी तरह आयोग द्वारा ''हाल ही'' (Recent past) शब्द को समयावधि की दृष्टि से परिभाषित नहीं किया गया है । किसी भी राज्यपाल पद के उम्मीदवार के समर्थन या विरोध के लिये किसी भी समयावधि को सुविधानुसार हाल ही की घटना के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इस तरह अन्तत: यह पूर्णतया केन्द्रीय सरकार के विवेक पर निर्भर करता है कि वह अन्तिम निर्णय लें।[1]

तीसरा, आयोग यह विचार व्यक्त करता है कि ऐसे किसी व्यक्ति को ऐसे राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त न किया जाय, जो केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी का राजनीतिज्ञ हो, जिस राज्य का शासन किसी अन्य पार्टी द्वारा चलाया जा रहा हो अथवा अन्य पार्टियों के मेल जोल से चलाया जा रहा है । नि:सन्देह यह सुझाव अच्छा है परन्तु आयोग ने इसे केवल वांछनीय बनाया है, अनिवार्य नहीं । जिसका अर्थ है कि यह सुझाव केवल प्रभावात्मक है न कि बाध्यात्मक। चूंकि सुझाव अनाज्ञात्मक है, इस लिए केन्द्र का सत्तारूढ़ दल इसका उल्लंघन कर सकता है और आयोग के सुझाव का उपहास उड़ा सकता है, जिसके लिये उसे दण्डित भी नहीं किया जा सकता। यह दुर्भाग्य पूर्ण है कि जब कभी भी आयोग ने प्रशंसनीय सुझाव दिये, उसने उन्हें लागू करने की पर्याप्त व्यवस्था नही की।[2]

यद्यपि उपरोक्त कुछ असंगतियां रिपोर्ट में निहित हैं, फिर भी आयोग ने कुछ उपयोगी सुझाव भी दिये हैं, वे राज्यपाल के निर्वाचन को परामर्श की प्रक्रिया से सम्बन्धित करते है। आयोग ने स्पष्टत: कहा है कि, '' वर्तमान समय की परिस्थितियां, संविधान निर्माण के समय फैली परिस्थितियों से बहुत

---

1. मोतीलाल वोरा, सूरज भान आदि सक्रिय राजनीतिज्ञ हैं ।

2. लगभग सभी दलों ने अपने-2 राजनीतिज्ञों को ऐसे राज्यों में नियुक्त किया जहां उनकी सरकार नहीं थी।

अधिक जटिल हैं। इसी कारण राज्यपाल से कहीं अधिक अपेक्षाएं की जाती हैं, जिससे यह अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि उस पद के लिये उपयुक्त व्यक्ति को ही चुना जाए।[1]

आयोग ने व्यापक अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य के मुख्यमंत्री से राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व परामर्श करना चाहिए। इसके निम्न कारण थे:-

1. राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री के मध्य व्यक्तिगत रिश्ते, अच्छे प्रशासन और संसदीय व्यवस्था के उचित संचालन के लिए आवश्यक है।

2. मुख्यमंत्री के मन में किसी व्यक्ति के लिये कुछ गलत धारणा हो सकती है, और यदि वह व्यक्ति राज्य के राज्यपाल पद पर नियुक्त हो जाता है तो राज्यपाल और मुख्यमंत्री के मध्य सम्बन्ध हमेशा तनावपूर्ण रहेंगे, जो कि राज्य प्रशासन के हित में नहीं होगा।

3. चूंकि वरिष्ठ राजनीतिज्ञ नियुक्ति के योग्य माने गये हैं, अतएव यह वांछनीय माना गया है कि केन्द्र के सत्तारूढ़ दल का राजनीतिज्ञ उस राज्य में नियुक्त न किया जाये, जिस राज्य का शासन किसी अन्य दल द्वारा या अन्य दलों के मेल-जोल से चलाया जा रहा हो। इस सम्बन्ध में किसी भी भूल की तरफ नियुक्ति के पूर्व ही परामर्श के समय मुख्यमंत्री द्वारा ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। आयोग ने श्री जवाहर लाल नेहरू के उस मत को सहमति के साथ उद्घृत किया है, जिसमें उन्होंने पूर्ण सहमति दी थी कि राज्यपाल प्रान्त की सरकार को स्वीकार्य होना चाहिए।[2] आयोग ने यह भी ध्यान दिलाया कि यह परामर्श हाल के वर्षों में मुख्यमंत्री के साथ नहीं किया गया। आजकल केन्द्र सरकार वास्तव में परामर्श करने के स्थान पर राज्यपालों के नियुक्तिओं की केवल सूचना राज्य सरकारों को दे देती है । आयोग ने संतुष्टि पूर्वक यह भी उल्लेख किया है कि "सभी राज्य सरकारों (एकमात्र अपवाद सहित) राजनीतिक दलों तथा विशिष्ट व्यक्तियों ने प्रश्नावली का उत्तर दिया है। उन सभी का मत है कि राज्यपालों की नियुक्ति सदैव राज्य के मुख्यमंत्रियों से परामर्श करने के बाद ही की जाये। उनमें से

---

1. भवानी सिंह - गवर्नर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन पृष्ठ-137, स.क. रिपोर्ट पृष्ठ- 113 पैरा 4.6.08

2.. स.क. रिपोर्ट पृष्ठ- 113

अधिकांश ने यह आग्रह किया है कि इस परामर्श की परंपरा को संवैधानिक अनिवार्यता बना दिया जाए। ताकि उसका उलंघन संभव न हो।[1] इस प्रकार आयोग ने प्रभावी परामर्श का सुझाव दिया और यह माना कि परामर्श का अभिप्राय नियुक्ति के लिए प्रस्तावित व्यक्ति की उपयुक्तता के सम्बन्ध में परामर्श किये जाने वाले व्यक्ति के विचारों का पता लगाना है। केवल यह सूचना देना कि अमुक व्यक्ति राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जा रहा है, परामर्श नहीं है। संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल पद पर नियुक्ति के लिये विशिष्ट शर्तो और योग्यताओं का निर्धारण नहीं किया था। इस आशा में कि कुछ ही समय में इस सम्बन्ध में कोई उचित परम्परा विकसित हो जाएगी। चूंकि ऐसा नहीं हुआ, अतएव आयोग ने सुझाव दिया कि, " राज्यापाल के रूप में नियुक्त किये जाने वाले किसी व्यक्ति के चुनाव में, राज्य के मुख्यमंत्री के साथ सुनिश्चित रूप से परामर्श किये जाने के लिए हम सिफारिश करते हैं कि इस पद्धति को संविधान में ही शामिल कर दिया जाय। इस सिफारिश को कार्यान्वित करने के लिए अनुच्छेउद 155 में उपयुक्त संशोधान किया जाये।[2] विचारणीय प्रश्न है कि इस परामर्श को किस प्रकार से प्रभावी बनाया जाय कि राज्य में इस प्रशासनिक पद को धारण करने वाला निष्पक्ष रूप बनाये रख सके। आयोग ने विभिन्न सुझावों का परीक्षण किया। उसमें एक यह भी था कि राज्य विधानसभा द्वारा तैयार या राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा नामों का एक पैनल बनाना चाहिए और राष्ट्रपति को इस पैनल से एक नाम राज्य के राज्यपाल के रूप में चुन लेना चाहिए। आयोग ने कई कारणों से इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया।[3]

यह विचार व्यक्ति किया कि आजकल प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री दो भिन्न राजनीतिक दलों से सम्बन्धित होते हैं। वे कभी भी किसी एक नाम पर सहमत नहीं होगें और चयन की प्रक्रिया का राजनीतिक गतिरोध के रूप में अन्त हो जायेगा।

आयोग ने कहा कि इससे क्षेत्रीय अंधभक्ति की भावनाएं हावी होने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा और संकुचित विचारों के व्यक्ति की नियुक्ति को प्राथमिकता मिलेगी। यह प्रक्रिया अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग- I- पृष्ठ- 114- पैरा- 4.6.21
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग- I-पृष्ठ- 114- पैरा 4.6.25
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग- I- पृष्ठ - 113- 4.6.13

रूप से विधानसभा द्वारा निर्वाचन की व्यवस्था करती है और यह निर्वाचन उन्हीं कारणों से दोषपूर्ण हो जायेगा जिन कारणों से संविधान निर्माताओं ने पहले ही रद्द कर दिया था।

राज्यपाल का चयन करना केन्द्रीय कार्यकारिणी का कार्य है, जिसके लिए प्रधानमंत्री/केन्द्रीय मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। यह एक उत्तरदायी सरकार के मूल सिद्धान्त के खिलाफ होगा यदि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल द्वारा इस कार्य को उस राज्य कार्यपालिका के साथ बाँटना पड़े, जो अपने कार्य के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

इन सब कारणों से आयोग ने अन्तत: सिफारिश की कि राज्यपाल का चुनाव करते समय प्रधानमंत्री को भारत के उपराष्ट्रपति और लोकसभा अध्यक्ष से परामर्श लेना चाहिए। परामर्श 'गुप्त' तथा 'औपचारिक' होना चाहिए तथा संवैधानिक दायित्व का मामला नहीं होना चाहिए। परन्तु बी0 जी0 वर्गीस का मत है कि, '' लोक सभा अध्यक्ष, एक विधायिका का अध्यक्ष है और उसे किसी भी तरह से यहां तक कि अनौपचारिक रूप से भी राज्य सरकार के कार्यपालिका अध्यक्ष की चयन प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं करना चाहिए। उपराष्ट्रपति से परामर्श अवांछनीय इसलिए नही होगा क्योंकि वह संघीय कार्यपालिका का अंग है और राज्यों की परिषद (राज्यसभा) का अध्यक्ष है''।[1]

जहॉ तक इस सिफारिश का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं है कि भारतीय संसद के दो पीठासीन अधिकारियों का राज्यपाल की चयन प्रक्रिया से सम्बद्ध क्यों किया गय है यदि आयोग यह समझता है कि दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारी होने के कारण ये लोग दृढ़तापूर्वक निष्पक्ष एवं स्वतंत्र होंगे, तो यह सन्देहस्पद है, क्योंकि बहुत संभव है कि ये लोग सत्तारूढ़ दल द्वारा नामित व्यक्ति होंगे और यदि इन उच्च पदों पर पदारूढ़ होने के पश्चात् वे राजनीतिक पक्षता से स्वयं को अलग भी कर लेते हैं तो उनके पूर्व में राजनीतिक दल से सम्बन्ध के कारण कोई इस निष्पक्षता पर विश्वास नही करेगा। सबसे बड़ी असंगतता यह है कि आयोग ने इसकी सिफारिश की, परन्तु इसे संघीय सरकार पर बाध्यकारी नहीं बनाया। इससे यह व्यवस्था अनुपयोगी बन गयी।

---

1. बी0 जी0 वर्गीस- फार कोआपरेटिव फेडरलिज्म- इण्डियन एक्सप्रेस, 17 फरवरी 1988

अन्ततः आयोग की यह सिफारिश की केन्द्र के सत्तारूढ दल के सदस्य को ऐसे राज्य में राज्यपाल न नियुक्त किया जाय जहाँ भिन्न राजनीतिक दल सत्तारूढ़ है, वास्तव में महत्वपूर्ण और प्रशंसा एवं सराहना के योग्य है।[1]

यह आश्चर्यजनक है कि सरकारिया आयोग की रिपोर्ट की प्रस्तुति के पश्चात् भी फरवरी 1988 में छः राज्यों के राज्यपालो की नियुक्ति से पूर्व प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने, राज्यों के मुख्यमंत्रीयों से परामर्श नहीं किया।[2] इसकी आलोचना करते हुए कर्नाटक के मुख्यमत्री श्री राम कृष्ण हेगड़े ने कहा कि प्रधानमंत्री श्री गांधी द्वारा राज्यों के मुख्यमंत्रियों से परामर्श के बिना राज्यपालों को नियुक्ति अनुचित है। श्री हेगड़े को श्री गांधी से यह आशा थी कि वह अपने नाना, श्री नेहरू का अनुकरण करेंगे जो राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व मुख्यमंत्रियों से परामर्श करते थे।[3]

यह निःसेन्देह सत्य है कि गैर कांग्रेसी (आई) राज्यों के मुख्यमंत्रियों को केवल सूचित किया गया था परन्तु उनके राज्यों के राज्यपालों के चयन के लिये परामर्श नहीं किया गया था। सी0 पी0 एम0 के महासचिव श्री ई0 एम0 एस0 नम्बूदरीपाद ने भी कहा कि केरल के राज्यपाल पद पर श्रीमती रामदुलारी सिन्हा की नियुक्ति से पूर्व राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श नहीं किया गया था,[4] जैसा कि गृहमंत्री श्री बूटा सिंह ने दावा किया था। उन्होंने आगे कहा कि,'' जहां तक मैं जानता हूँ, मुख्यमंत्री को राज्यपाल की नियुक्ति के विषय में केन्द्रीय सरकार की सरकारी घोषणा से सूचना मिली।'' यहाँ तक कि हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री देवीलाल ने गृहमंत्री बूटा सिंह के इस दावे को अस्वीकार किया कि उनसे परामर्श किया गया था।[5]

---

1. भवानी सिंह- पूर्वोधृत पृष्ठ- 159
2. ब्रम्हानन्द, स्टेट - गवर्नर, इण्डियन एक्सप्रेस 15 फरवरी, 1988
3. इण्डियन एक्सप्रेस, 20 फरवरी 1988
4. नम्बूदरीपाद ने सरकारिया रिपोर्ट के उल्लंघन की आलोचना की, इण्डियन एक्सप्रेस, 20 फरवरी, 1988
5. इण्डियन एक्सप्रेस, 23 फरवरी, 1988

सरकारिया आयोग की यह सिफारिश कि केन्द्र के सत्तारूढ़ दल के सदस्य को उस राज्य में राज्यपाल नियुक्त न किया जाय, जहां दूसरे दल या दलों के सहयोग से सरकार चल रही है। पिछले अनुभवों से यह स्पष्ट हो चुका है कि संघीय सरकार ने इसके अनुरूप न चलकर प्रायः उल्लंधन ही किया है। बहुत पहले के उदाहरणों को छोड़ दे तो प्रधानमंत्री श्री गांधी ने आन्ध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल और पंजाब के राज्यपाल के रूप में कांग्रेस दल के सदस्यों को चुना। यही नही, 14 नवम्बर, 1988 को उद्घोषित छः राज्यों के राज्यपालों के नाम सरकारिया आयोग की सिफारिशों का उल्लंघन था।[1] आन्ध्रपेदश के वरिष्ठ कांग्रेसी सदस्य ब्रहम्मानन्द रेड्डी को महाराष्ट्र व म0 प्र0 के कांग्रेसी सदस्य गोविन्द नारायण सिंह को बिहार का राज्यपाल बनाया गया। उ0 प्र0 के कांग्रेसी सदस्य सुखदेव प्रसाद जो कि राज्यसभा के सदस्य थे, उन्हें राजस्थान का राज्यपाल बनाया गया। केन्द्र में राज्यमंत्री श्रीमती रामदुलारी सिन्हा जो कि अपने गृहराज्य बिहार की राजनीति में रूचि रखती थीं, उन्हें केरल की साझा सरकार की इच्छा के विरूद्ध वहां का राज्यपाल नियुक्त किया गया। हरियाणा में श्री बरारी, जो गुप्तचर विभाग के मुखिया थे, की राज्यपाल पद पर नियुक्ति का तत्कालीन हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री देवीलाल ने विरोध किया था। श्री वेंकटसुब्बैया को बिहार के स्थान पर कर्नाटक का राज्यपाल बनाया गया। वह भी पूर्व में केन्द्रीय मंत्री रह चुके थे।

इन नियुक्तियों से राजनीतिक क्षेत्र में काफी आलोचना की गयी और श्री नम्बूदरीपाद ने 19 फरवरी, 1988 को कोचीन में एक पत्रकार सम्मेलन मे कहा कि राज्यों के राज्यपालों की हाल की नियुक्तियाँ यह दर्शाती हैं कि प्रधानमंत्री इस परम्परा पर पुनर्विचार नहीं करना चाहते थे कि सत्ताधारी दल के सदस्यों की राज्यपाल पद पर नियुक्ति की जाती है, जिसका कि सरकारिया आयोग ने भी विरोध किया था।[2] श्रीमती राम दुलारी सिन्हा की केरल के राज्यपाल पद पर नियुक्ति का विरोध करते हुए वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चा की केरल राज्य समिति ने फरवरी 1988 में सम्पन्न हुए अपने त्रिदिवसीय

---

1. इण्डियन एक्सप्रेस, 15 फरवरी, 1988
2. इण्डिया एक्सप्रेस, 20 फरवरी, 1988

सम्मेलन के अन्तिम दिन प्रस्ताव पारित किया कि श्रीमती सिन्हा जो कि कांग्रेस (आई) की प्रमुख नेता थीं और नियुक्ति से पूर्व केन्द्र में मंत्री थीं, उनकी इस पद पर नियुक्ति पूर्णत: अप्रजातांत्रिक है।[1]

महाराष्ट्र की राजनीति प्राय: साफ सुथरी रही है और यही कारण है कि श्रीमती गांधी ने भी वहां अपने राजनीतिक प्रतिनिधि की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति नहीं की। परन्तु श्री राजीव गांधी ने पूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी की नियुक्ति कर वहां अपना राजनीतिक हित साधना चाहा और श्री रेड्डी का पत्रकारों को 20 फरवरी,1988 को दिया गया बयान इस शंका की पुष्टि करता है । जब उनसे पूछा गया कि क्या वह राज्य के औपचारिक प्रधान रहेंगे या राज्य के लोकहित से सम्बन्धित मामलों में सक्रिय रूचि लेंगे, उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं सार्वजनिक जीवन में पिछले पचास सालों से हूँ । मैं एक सार्वजनिक व्यक्ति हूं और मैं अपना सामाजिक जीवन बनाये रखना चाहता हूँ । राज्यपाल का कार्य न तो बाधा है और न ही विशेष जेल है, जो मुझे इससे दूर रखे।''[2] यह उनकी सक्रिय राजनीति में रूचि को दर्शाता था।

15 फरवरी, 1988 को एक अनौपचारिक वार्ता में पत्रकारों ने जब श्री गांधी से यह पूछा कि छ: राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति क्या सरकारिया आयोग की सिफारिशों का उल्लंघन नहीं है, तो उन्होंने अपनी कार्यवाही को इस आधार पर उचित ठहराया कि सरकारिया आयोग की रिपोर्ट को अभी तक स्वीकार नहीं किया गया है ।[3] जनवरी 1990 में श्री जगमोहन को जम्मू कश्मीर का राज्यपाल नियुक्त किया गया । जगमोहन की नियुक्ति मुख्यमंत्री से विचार विमर्श करके नहीं की गयी थी, इसलिये इस नियुक्ति के विरोधस्वरूप मुख्यमंत्री फारूक अब्दुल्ला ने त्यागपत्र दे दिया। नये राज्यपाल की नियुक्ति का विरोध करते हुये इसे सरकारिया कमीशन रिपोर्ट का उल्लंघन बताया गया ।[4] इसी

---

1. बी.जे.पी. टू डिमाण्ड गर्वमेन्ट रिकाल इण्डियन एक्सप्रेस, 20 फरवरी, 1988। श्री वाजपेयी ने सरकारिया आयोग की सिफारिशों के उल्लंघन का आरोप लगाया ।
2. गवर्नरस पोस्ट नो जेल- रेड्डी इण्डियन एक्सप्रेस , 21 फरवरी 1988
3. इण्डियन एक्सप्रेस, 16 फरवरी, 1988
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 19 जनवरी, 1990

प्रकार का आरोप त्रिपुरा के मुख्यमंत्री श्री एस. आर. मजूमदार द्वारा जनवरी 1990 में लगाया गया जयश्री रघुनाथ रेड्डी की त्रिपुरा के राज्यपाल पद पर नियुक्ति की गई ।[1]

जुलाई 1996 में रोमेश भण्डारी की उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद पर नियुक्ति की गयी और केन्द्रीय गृहमंत्री श्री इन्द्रजीत गुप्ता ने इस नियुक्ति पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि उन्हें नहीं मालूम कि यह नियुक्ति कैसे हुई है ।[2]

सरकारिया आयोग की यह सिफारिश कि राज्यपाल पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की राजनीति में रूचिनहीं होनी चाहिए या उसने हाल ही में राजनीति मे भाग न लिया हो, तो इस सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य यह है कि आयोग की सिफारिशों के पश्चात राजनीतिज्ञों की इस पद पर नियुक्ति होती रही है । उदाहरण के लिए मोती लाल वोरा शिवशंकर , शीला कौल, सुधाकर राव नाइक, सूरजभान, महावीर प्रसाद, एम.एम. जैकब आदि सक्रिय राजनीतिज्ञ रहे हैं और केन्द्रीय मंत्री या राजनीतिक दलों के वरिष्ठ पदाधिकारी रहे हैं ।[3]

पदावधि :-

आयोग ने राज्यपालों के 5 वर्षीय कार्यकाल का समर्थन किया है। आयोग ने राज्यपालों को स्वेच्छाचारी तरीके से पदमुक्त करने व उनका स्थानान्तरण करने के प्रति ध्यान दिलाया है। संविधान के अनुसार राज्यपाल का कार्यकाल पाँच वर्ष का है ।[4] परन्तु उसे पाँच वर्ष से पूर्व भी पदमुक्त किया जा सकता है, क्योंकि वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद ग्रहण करता है जो जब चाहे अपना प्रसाद प्रतिसंहरण कर सकता है । कई बार राज्यपालों को राष्ट्रपति के प्रसाद प्रतिसंहरण के फलस्वरूप पद त्याग करना पड़ा है । आयोग ने राज्यपालों द्वारा अपनी पाँच वर्ष की सामान्य पदावधि पूर्ण न कर पाने

---

1. दि स्टेट्स मैन, 31 जनवरी, 1990
2. चन्द्र भूषण पाण्डेय – गवर्नर प्रिजर्वर, प्रोटेक्टर एण्ड डिफेण्डर ऑफ दि कान्सटीट्यूशन? पृष्ठ 8
3. शीला कौल ने 1994 में केन्द्रीय मंत्रिमंडल से त्याग पत्र दिया था हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल पद ग्रहण करने के लिए और सुधाकर राव नाइक ने 1993 में महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री पद यसे त्याग पत्र दिया था।
4. अनुच्छेद 156 (3)

के कई मामलों का अध्ययन किया । आयोग का सत्य कहना था कि पाँच वर्ष की पूरी अवधि पूर्ण करने से पूर्व ही पदावधि समाप्त किये जाने की सम्भावना के निरन्तर बने रहने के कारण राज्यपाल के मन में पर्याप्त असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो सकती है तथा इससे दबावों को सहने तथा बाहरी प्रभावों का प्रतिरोध करने, और अपने विवेकाधिकारों का उपयोग करने की उसकी क्षमता को क्षति पहुंच सकती है।[1]

इसी तरह आयोग ने राज्यपालों के एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरणों का विरोध करते हुए कहा कि इससे राज्यपाल पद की महत्ता व प्रतिष्ठा कम हो सकती है । राज्यपाल संविधान के अन्तगर्त उच्च पद का कार्यकारी है। अतएव उसकी सरकारी कर्मचारियों की तरह एक राज्य से दूसरे राज्य में बदली या स्थानान्तरण न किया जाये । इसलिये आयोग ने न केवल पदावधि की निरन्तरता का समर्थन किया वरन् एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण का भी विरोध किया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आयोग ने अपरिवर्तनीय कार्यकाल का सुझाव दिया। आयोग के अनुसार राज्यपाल की पाँच वर्षों की पदावधि में बहुत ही कम मामलों में और वह भी किसी अत्यन्त अपरिहार्य कारण से विघ्न डाला जाना चाहिए ।[2] आयोग ने इस सुझाव का भी परीक्षण किया कि क्या राज्यपाल की पदावधि की सुरक्षा के लिये वही प्रक्रिया अपनायी जाये, जो वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को प्राप्त है। आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यद्यपि राज्यपाल को पदावधि की वही सुरक्षा प्रदान करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा, जो सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को प्राप्त है फिर भी राज्यपाल को सुरक्षा का आभास दिलाने के लिये कुछ संरक्षण आवश्यक हैं इस उद्देश्य के लिये आयोग ने यह सुझाव दिया –

''उन मामलों को छोड़कर जहाँ राष्ट्रपति इस बात से संतुष्ट हो कि राज्य की सुरक्षा के हित में ऐसा करना समयोचित नहीं होगा, यह एक स्वस्थ परम्परा होगी कि जब कभी भी किसी राज्यपाल की पाँच वर्ष की सामान्य पदावधि से पूर्व समाप्त किये जाने का इरादा हो तो उसे अनौपचारिक रूप से प्रस्तावित कार्यवाही के आधारों से अवगत करा दिया जाये एवं इसके विरूद्ध कारण बताने के लिये

---

1. सरकारिया कमीशनरिपोर्ट, भाग .1 पृष्ठ 116 पैरा 4.7.08

2. सरकारिया कमीशनरिपोर्ट, भाग .1 पृष्ठ 116

यथोचित अवसर उपलब्ध कराया जाये। यह वांछनीय है कि राष्ट्रपति (वास्तव में जिसका अर्थ है केन्द्रीय मंत्रिपरिषद) किसी राज्यपाल द्वारा उसके प्रस्तावित पद से हटाये जाने के विरूद्ध उसके द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण यदि कोई हों, की जांच एक सलाहकार दल द्वारा करवाये जिसके सदस्य भारत के उपराष्ट्रपति तथा लोकसभा अध्यक्ष या सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्ति मुख्य न्यायाधीश हों । इस दल की सिफारिशें मिलने के बाद, भारत का राष्ट्रपति इस मामले में, उसके द्वारा उचित समझे गये आदेश पारित कर सकता है ।"[1]

अयोग ने यह भी सुझाव दिया कि जब भी पाँच वर्ष की सामान्य कार्यावधि समाप्त होने से पूर्व कोई राज्यपाल त्यागपत्र देता है या उसे दूसरे राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया जाता है या उसकी पदावधि समाप्त की जाती है, तो केन्द्र सरकार द्वारा संसद के दोनों सदनों के सामने एक वक्तव्य दिया जाये, जिसमें उसकी कार्यावधि की समाप्ति का कारण बनने वाली परिस्थितियों को स्पष्ट किया गया हो, जब किसी राज्यपाल को उसकी पदावधि की समयपूर्व समाप्ति के विरूद्ध कारण बताने का अवसर दिया जाये तो उस वक्तव्य में उसके द्वारा उत्तर में दिये गये स्पष्टीकरण को भी सम्मिलित किया जाये ।[2]

इस बात से कोई भी असहमत नहीं होगा कि यह एक अच्छा सुझाव है और इसको लागू करने मात्र से राज्यपालों की निष्पक्षता सम्बन्धी समस्या का समाधान हो सकता है। कोई भी राज्यपाल मनचाहे तरीके से पदावधि की समाप्ति के भय से ग्रसित नहीं होगा और न ही केन्द्र व राज्यों के मध्य किसी प्रकार की असहमति या विवाद होने पर अविवेकपूर्ण ढंग से कार्य करके राज्यपाल अपनी स्वतंत्र स्थिति बनायेगा। परन्तु आयोग द्वारा राज्यपालों को सुरक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया सम्बन्धी सिफारिश उचित नहीं है। जैसा कि कहा गया है कि ऐसे सभी मामलों में राष्ट्रपति, सलाहकार दल की सलाह से निर्देशित होगा। इस सलाहकार दल में उपराष्ट्रपति, स्पीकर या उच्चतम न्यायालय का अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश होगा। इससे स्पष्ट है कि सलाहकार दल में उपराष्ट्रपति सदैव रहेंगे परन्तु दूसरा सदस्य या तो लोकसभा का स्पीकर या उच्चतम न्यायालय का अवकाश प्राप्त मुख्य

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 117, पैरा 4.8.08

2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 117, पैरा 4.8.09

न्यायाधीश होगा । यह सरकार को पर्याप्त अवसर देता है कि वह मुख्य न्यायाधीश को छोड़कर स्पीकर की सेवायें ले , क्योंकि प्रत्येक सरकार जानती है कि अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश अपनी न्यायिक पृष्ठभूमि के कारण पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखेंगे। यह असम्भव नहीं है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और स्पीकर एक ही राजनीतिक दल से सम्बन्धित न हो और इसलिये वे हमेशा एक असुविधाजनक परन्तु ईमानदार राज्यपाल की बर्खास्तगी से सम्बन्धित राजनीतिक निर्णय लेंगे।[1] श्री बी. जी. वर्गीस का कहना है कि स्पीकर, जो विधायिका प्रमुख है, उसे सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।[2] इससे भी अधिक आपत्तिजनक तथ्य यह है कि सलाहकार दल में दो सदस्य हैं । यह एक सामान्य विवेक का प्रश्न है कि इस दल में कम से कम तीन सदस्य हों, क्योंकि यदि दोनों सदस्यों के बीच असहमति होने पर गतिरोध उत्पन्न हो जाये तो तीसरे सदस्य का मत निर्णायक मत का कार्य करेगा। इसलिये आयोग द्वारा संस्तुत प्रक्रिया दोषरहित नहीं है और यह एक अच्छी सिफारिश को त्रुटिपूर्ण बना देती है ।[3]

सरकारिया आयोग की सिफारिशों के उपरान्त भी केन्द्र सरकार ने राज्यपाल को सामान्य कार्यकाल से पूर्व हटाने व उनके स्थानान्तरण करने की प्रक्रिया को जारी रखा है । सक्रिय राजनीतियों के राज्यपाल पद पर नियुक्ति के बाद भ्रष्टाचार के आरोप लगने पर केन्द्रीय हस्तक्षेप के कारण त्यागपत्र देने के भी उदाहरण हैं । उदाहरण के लिये 21 अप्रैल, 1996 में हिमाचल की राज्यपाल शीला कौल को उनके केन्द्रीय शहरी विकास मंत्री के रूप में किये गये भ्रष्टाचारपूर्ण कार्यों के लिये त्यागपत्र देना पड़ा। यद्यपि 20 अप्रैल, 1996 तक वह कहती रहीं कि आरोप लगाने से वह दोषी सिद्ध नहीं होती और त्यागपत्र नहीं देंगी। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय यह है कि राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर राज्पाल को हटाने में की जा रही देरी पर नाराजगी व्यक्त की थी और तब प्रधानमंत्री ने राज्यपाल को हटाने की सिफारिश की थी। अन्ततः राज्यपाल को त्यागपत्र देना पड़ा।[4] इसी तरह 1 मई, 1996 को

---

1. भवानी सिंह पूर्वोधृत पृष्ठ 161
2. बी.जी. वर्गीस - फार कोआपरेटिव फेडरलिज्म - इण्डियन एक्सप्रेस 17 फरवरी, 1988
3. भवानी सिंह - पूर्वोधृत पृष्ठ 161
4. एशियन रिकार्डर, 20-26 मई , 1996 पृष्ठ 25633

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल मोती लाल वोरा तथा केरल के राज्यपाल शिव शंकर को त्याग पत्र देना पड़ा था। क्योंकि उनके विरूद्ध भी सी.बी.आई. ने आरोप पत्र दाखिल कर दिये थे और अभियोग चलाने के लिये उनका त्याग पत्र देना अनिवार्य था।[1] फरवरी 1998 में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी द्वारा कल्याण सिंह सरकार को अपदस्थ करने के कारण संविधान उल्लंघन व सरकारिया आयोग की सिफारिशों का उल्लंघन करने के आधार पर राष्ट्रपति श्री नारायणन ने स्वयं प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर राज्यपाल के कार्यों की सूची भेजी थी। उस समय काम चलाऊ सरकार ने इस पर कोई कदम नहीं उठाया और 15 मार्च,1998 को केन्द्र में भाजपा सरकार के गठित होने पर अन्ततः रोमेश भण्डारी ने 16 मार्च को अपना इस्तीफा दे दिया ।[2] तमिलनाडु की राज्यपाल फातिमा बीवी द्वारा 14 मई, 2001 को निर्वाचन के लिये अयोग्य घोषित जयललिता को मुख्यमंत्री नियुक्त किया तत्पश्चात तमिलनाडु में राजनीतिक प्रतिशोध की कार्यवाही से उत्पन्न हिंसा व राज्यपाल की संविधान की रक्षा करने में अक्षमता के आधार पर केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति से राज्यपाल को हटाने की सिफारिश की और इस पृष्ठभूमि में फातिमा बीवी ने त्याग पत्र दे दिया ।

इस प्रकार से उपरोक्त कुछ उदाहरण हैं जो सरकारिया आयोग की सिफारिशों को मान देने में सफल रहे हैं, क्योंकि आयोग का मानना था कि विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल को पाँच वर्ष के सामान्य कार्यकाल से पूर्व हटाया जा सकता है। इन सभी उदाहरणों में राज्यपाल द्वारा केन्द्रीय हस्तक्षेप के दबाव में स्वयं ही त्याग पत्र दे दिया गया और सरकार को इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं पड़ी ।

राष्ट्रीय मोर्चा की दिसम्बर 1989 में केन्द्र में सरकार बनने के पश्चात् मंत्रिपरिषद की सलाह पर भारत के राष्ट्रपति ने सभी राज्यों के राज्यपालों को त्याग पत्र देने के लिये कहा ।[3] नियुक्त करने वाली सत्ता के दबाव में त्याग पत्र देना तथा उसके द्वारा बर्खास्त करने में कोई अन्तर नहीं है। केन्द्रीय

---

1. एशियन रिकार्डर, 3-9 जून, 1996 पृष्ठ 25669
2. एशियन रिकार्डर, 2-8 अप्रैल, 1998 पृष्ठ 27185
3. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 16 जनवरी, 1990

गृहमंत्री ने तर्क दिया कि जब कभी भी केन्द्र में नयी सरकार बने, तो राज्यों के राज्यपालों को स्वतः त्याग पत्र दे देना चाहिए और इस सम्बन्ध में परम्परा बननी चाहिए।[1] पूर्व गृहमंत्री का यह कथन, सरकारिया आयोग की सिफारिश का घोर उल्लंघन है और इससे स्पष्ट होता है कि राज्यपाल पद के राजनीतिक प्रयोग के सम्बन्ध में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का दृष्टिकोण पूर्व की सरकारों से भिन्न नहीं था।

1991 में सुरजीत सिंह बरनाला ने तमिलनाडु के राज्यपाल पद पर रहते हुये जब केन्द्र के इशारे पर राष्ट्रपति शासन हेतु रिपोर्ट नहीं भेजी, तो उनका स्थानान्तरण बिहार कर दिया गया। इस सम्बन्ध में उनकी सलाह भी नहीं ली गयी, परिणामस्वरूप उन्होंने इसके विरोध में त्याग पत्र दे दिया। इसी घटनाक्रम से जुड़ी बिहार के राज्यपाल यूनुस सलीम की बर्खास्तगी भी है जब उन्होंने अभिभाषण में तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन लागू करने की आलोचना की और उनके त्याग पत्र न देने पर उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। राज्यपाल ने केन्द्र के इशारे पर कार्य न करने का आधार उनकी बर्खास्तगी के पीछे बताया ।[2]

नवम्बर 2000 में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल सूरज भान का हिमाचल तथा हिमाचल के राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री का स्थानान्तरण उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद पर कर दिया गया । इसके पीछे सूरजभान की उत्तर प्रदशे की राजनीति में अतिसक्रियता के कारण अपनी ही पार्टी की सरकार से मनमुटाव होनाा था।[3]इसी तरह 1993 में त्रिपुरा के राज्यपाल पद पर रोमेश भण्डारी के क्रिया कलापों की कटु आलोचना हुई तो उन्हें शेष कार्यकाल के लिये गोवा का राज्यपाल बनाया गया था।

इस तरह से आयोग की सिफारिशों के उपरान्त भी राज्यपालों का सामान्य कार्यकाल से पूर्व कार्य अवधि की समाप्ति की गयी और राजनीतिक उद्देश्यों के लिये इनका स्थानान्तरण भी किया गया ।

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 18 जनवरी, 1990
2. फ्रन्टलाइन 2- 15 मार्च 1991, पृष्ठ 33-34
3. अमर उजाला - सम्पादकीय 26 नवम्बर 2000

राज्यपालों के लिये सेवा निवृत्ति लाभ एवं अन्य पदों की पात्रता :-

आयोग का मानना है कि पदत्याग अथवा सेवा निवृत्ति के पश्चात किसी राज्यपाल को उसके इस उच्च पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप समुचित साधन सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध कराये जाने चाहिए। इसलिये आयोग ने सुझाव दिया कि राज्यपाल की पदावधि की समाप्ति के बाद, इसकी अवधि को ध्यान में रखे बिना, उसे तथा उसके जीवन साथी, यदि हो, के जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त पश्च सेवा निवृत्ति लाभ उपलब्ध करवाये जायें ।[1] परन्तु उसके साथ ही साथ आयोग की सिफारिश थी कि यह परम्परा होनी चाहिए कि अपना पद त्यागने के बाद कोई राज्यपाल, राज्यपाल के रूप में दूसरी पदावधि या भारत के उपराष्ट्रपति या राष्ट्रपति के पद पर चुनाव लड़ने के अतिरिक्त केन्द्र या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नियुक्ति या लाभदायक पद पर नियुक्ति के लिये पात्र नहीं होना चाहिए । ऐसी परम्परा में यह भी आवश्यक है कि अपना पद छोड़ने या त्यागने के बाद राज्यपाल सक्रिय पक्षपाती राजनीति में नहीं लौटेगा ।[2] आयोग को किसी ऐसे व्यक्ति , जिसने राज्यपाल की पदावधि पूर्ण कर ली हो, की किसी समान या उच्चतर संवैधानिक पद या नियुक्ति पर कोई आपत्ति नहीं है ।[3] यह सिफारिश आंशिक रूप से स्वीकार की जा सकती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राज्यपाल को राज्य की राजनीति में प्रवेश नहीं करना चाहिए परन्तु यदि प्रधानमंत्री आमंत्रित करे तो वह केन्द्रीय मंत्रिमंडल में शामिल हो सकता है और इस हेतु संसद के निर्वाचन में भी भाग ले सकता है । ऐसा इसलिए कि पदानुक्रम में राज्यपाल का क्रम केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्यों के पश्चात् आता है। इसलिये उसका केन्द्रीय मंत्रिमंडल में शामिल होना उसकी पदोन्नति होगी न कि पदावनति ।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय संसद का द्वितीय सदन जिसमें राज्यों का प्रतिनिधित्व है उसमें 12 प्रतिष्ठित व्यक्तियों के मनोनयन का भी प्रावधान है । इसलिये

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट – भाग-1 पृष्ठ 118 पैरा 4.10.02
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट – भाग-1 पृष्ठ 117 पैरा 4.9.04
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट – भाग-1 पैरा 4.9.03

सेवानिवृत्ति राज्यपाल को इस सदन में मनोनीत करके भी उसकी सेवाएं ली जा सकती हैं। इसलिये आयोग का उपरोक्त सुझाव पूर्णतया विवेक संगत नहीं है । शायद आयोग भी इस बात से परिचित था कि इस सम्बन्ध में उसका सुझाव अधिक प्रभावी व तार्किक नहीं है। इसलिये उसका कहना था कि यह सुझाव केवल लिखित रूप में ही न रहेगें वरन् भविष्य में समुचित परम्परा विकसित होने के पश्चात् प्रासंगिक हो जायेंगे । परन्तु हमारे देश में जहां निम्न स्तरीय राजनीतिक नैतिकता पायी जाती है, वहाँ इस प्रकार की परम्परा विकसित हो पायेगी, इसकी आशा बहुत कम है।

राज्यपाल पद का राजनीतिकरण, आयोग की सिफारिशों के बाद समाप्त नहीं हुआ है । असम के राज्यपाल हरदेव जोशी ने दिसम्बर 1989 में पद से त्याग पत्र इसलिये दिया क्योंकि उन्हें राजस्थान में मुख्यमंत्री पद सम्हालना था।[1] 10 सितम्बर,1995 को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल सुधाकर राव नाइक ने राज्यपाल पद से त्याग पत्र दिया ताकि वह सक्रिय राजनीति में भाग ले सकें ।[2] ऐसे भी राज्यपालों के उदाहरण हैं जिन्होंने राज्यपाल पद पर रहते हुये सक्रिय राजनीति में भाग लिया। 1988 में आन्ध्र प्रदेश की राज्य पाल कुमुद बेन जोशी की कार्य प्रणाली विवाद का विषय बनी।[3] तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता तथा राज्यपाल चेन्ना रेड्डी का मामला सर्वविदित है। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल गुलशेर अहमद को मध्य प्रदेश की राजनीति में रूचि लेने के कारण त्याग पत्र देना पड़ा । राजस्थान के राज्यपाल बसन्त दादा पाटिल भी महाराष्ट्र की राजनीति से जुड़े रहे और अर्जुन सिंह जब पंजाब के राज्यपाल थे तो वह प्राय: दिल्ली आया करते थे ओर मध्य प्रदेश की राजनीति में सक्रियता का परिचय प्रदान करते थे ।

राज्यपाल पद त्यागने के पश्चात् सुरजीत सिंह बरनाला केन्द्रीय मंत्री बने। और पुन: राज्यपाल इस सम्बन्ध में सराहनीय उदाहरण जो आयोग की सिफारिशों के अनुरूप है, श्री शंकर दयाल शर्मा व श्री कृष्ण कान्त का है। शंकर दयाल शर्मा राज्यपाल पद त्यागने के पश्चात् उपराष्ट्रपति और फिर राष्ट्रपति बने जबकि कृष्णा कान्त उपराष्ट्रपति पद पर आज कल आसीन हैं।

---

1. भावना मिश्रा – पूर्वोधृत नार्दन इण्डिया पत्रिका, 25 सितम्बर 1993, पृष्ठ 6
2. एशियन रिकार्डर – 1 अक्टूबर – 7 अक्टूबर 1995 पृष्ठ 25106
3. इण्डियन एक्सप्रेस, 1 जनवरी, 1988 सम्पादकीय पृष्ठ 6

मुख्य मंत्री का चयन :-

मुख्यमंत्री के चयन के सम्बन्ध में सरकारिया आयोग ने महत्वपूर्ण सुझाव दिया है। आयोग के अनुसार किसी मुख्यमंत्री का चयन करते समय राज्यपाल द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों से पर्थप्रदर्शन प्राप्त करना चाहिए।[1]

(क) उस दल या दलों के समूह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए जिन्हें विधानसभा में सबसे अधिक समर्थन प्राप्त हो।

(ख) राज्यपाल का कार्य यह भी देखना है कि कोई सरकार बने, ऐसी सरकार बनाने का प्रयास करना नहीं, जो उस द्वारा अनुमोदित नीतियों का पालन करें।

इस प्रकार यदि विधानसभा में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त है तो अपने आप ही ऐसे दल के नेता को मुख्यमंत्री बनने के लिए कहना चाहिए। यदि ऐसा कोई दल न हो जिसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हो तो आयोग ने सुझाव दिया है राज्यपाल को नीचे दिये गये वरीयता क्रम से निम्नलिखित दलों या दलों के समूह को क्रम से सूचित कर उनमें से मुख्यमंत्री का चयन करना चाहिए:-[2]

1. चुनाव के पहले बना दलों का गठबन्धन।
2. अन्य विधायकों जिनमें " निर्दलीय" भी सम्मिलित है, के समर्थन से सरकार बनाने का दावा करने वाला अकेला सबसे बड़ा दल।
3. चुनाव के बाद बना दलों का संघ जिसमें संघ में सम्मिलित सभी घटक सरकार में शामिल हो रहे हों।
4. चुनाव के बाद बना दलों का गठबन्धन, जिसमें कुछ दल सरकार बना रहे हों और "निर्दलीय" सहित शेष दल बाहर रहकर सरकार का समर्थन कर रहे हों।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- भाग-1- पृष्ठ 118, पैरा 4.11.04
2. सरकारिय कमीशन रिपोर्ट- भाग-1- पृष्ठ- 118 पैरा 4.11.04

राज्यपाल को ऊपर वर्णित चयन प्रक्रिया अपनाते समय एक ऐसे नेता का चयन करना चाहिए , जो उसके (राज्यपालों के) विवेकानुसार, जिसके द्वारा विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने की पूरी संभावना हो।[1] किसी मुख्यमंत्री, जब तक कि वह विधानसभा में पूर्ण बहुमत वाले दल का नेता न हो, द्वारा शपथ ग्रहण करने के 50 दिन के अन्दर विश्वास मत प्राप्त किया जाना चाहिए। इस प्रथा का किसी विधि के नियम की पवित्रता के साथ कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।[2]

मुख्यमंत्री की बर्खास्तगी:-

जब कभी किसी मंत्रिपरिषद को बहुमत का समर्थन समाप्त हो जाता है, तो मुख्यमंत्री को अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए उचित अवसर उपलब्ध कराया जाना चाहिए। यथोचित समय क्या है, यह प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। सामान्यतय: 30 दिन का समय यथोचित है, जब तक कि बजट पारित करने जैसा कोई जरूरी कार्य न करना हो, ऐसे मामले में कम समयावधि निर्दिष्ट की जा सकती है। विशेष परिस्थितियों में यह अवधि 60 दिन तक बढ़ाई जा सकती है।[3]

मुख्यमंत्री के अतिरिक्त किसी अन्य मंत्री को बर्खास्त करते समय राज्यपाल को पूर्णतय: मुख्यमंत्री की सलाह पर ही कार्य करना चाहिए।[4]

बहुमत का परीक्षण सदन में होना चाहिए राजभवन में नहीं।

उपरोक्त सभी सुझाव उपयोगी हैं, परन्तु आयोग को उन विशेष परिस्थितियों को निर्दिष्ट करनी चाहिए जिसके द्वारा विधानसभा का अधिवेशन बुलाने का समय 30 दिन से बढ़ाकर 60 दिन किया जा सके। ऐसा इसलिये क्योंकि कोई पक्षपाती राज्यपाल इस कमी या छिद्र बिन्दु का प्रयोग अपनी पसन्द के राजनीतिक दल को लाभ पहुँचाने के लिये करेगा। अत: या तो एकीकृत काल निर्धारित करना चाहिए या

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- भाग-1- पृष्ठ- 118 पैरा 4.11.05
2. सरकारिया कमशीन रिपोर्ट भाग-1- पैरा, 4.11.06
3. सरकारिया कमशीन रिपोर्ट भाग-1-पृष्ठ- 119 पैरा 4.11.13
4. सरकारिया कमशीन रिपोर्ट भाग-1- 119 पैरा 4.11.14

तो विशेष परिस्थितियों का मोटे रूप में वर्णन करना चाहिए यदि उन परिस्थितियों को अग्रिम रूप में विनिर्दिष्ट न किया जा सकता हो।[1]

इस सम्बन्ध में बी0 जी0 वर्गीस का कहना है कि आयोग द्वारा मुख्यमंत्री को 30 दिन और यहां तक कि 60 दिन का समय विधानसभा अधिवेशन बुलाने और बहुमत सिद्ध करने का समय देना अविवेकपूर्ण है। तमिलनाडु में सुन्दरलाल खुराना ने जानकी रामचन्द्रन को 3 हफ्तों को समय दिया, जबकि मेघालय के राज्यपाल भीष्म नारायण सिंह ने पी0 ए0 संगमा को 15 दिन का समय विधानसभा अधिवेशन बुलाकर बहुमत सिद्ध करने के लिये दिया। ऐसी परिस्थितियों में यह सम्भव है कि विधानसभा का अधिवेशन 48 से 72 घंटे के अन्दर बुलाया जाये, क्योंकि अधिक समय देने पर यह खरीद फरोख्त व राजनीतिक घूसबाजी को प्रश्रय देगा।[2]

सरकारिया आयोग की सिफारिशों के तुरन्त बाद ही, फरवरी 1988 में मेघालय के राज्यपाल ने अवैधानिक तरीके से कांग्रेस (आई) सरकार बनने में मदद की, यद्यपि तीन क्षेत्रीय दल हिल पीपुल्स यूनियन (HPU) दि हिल स्टेट्स पीपुल डेमोक्रेटिक पार्टी (HSPDP) और पब्लिक डिमान्टडस इम्पलीमेन्टेशन कन्वेशन (PDIC) ने मिलकर राज्यपाल को लिखित ज्ञापन दिया कि वे बहुमत में हैं और इसकी जाँच की जा सकती है,परन्तु राज्यपाल ने कांग्रेस (आई) को आमंत्रित कर शाम को शपथ भी दिला दी। हिल पीपुल्स यूनियन के नेता श्री कोटबार सिंह ने 'अल्पमत सरकार' के गठन की कटु आलोचना की और लोगों से स्पष्ट मत प्राप्त करने के लिये नये निर्वाचन की मांग की।[3] 19 फरवरी, 1988 को श्री बाजपेयी ने पत्रकार वार्ता में कहा कि राज्यपाल श्री भीष्म नारायण सिंह ने कांग्रेस (आई) सरकार का गठन करके यद्यपि विधानसभा में यह अल्पमत में थी, केन्द्र की सत्ताधारी दल के हित में

---

1. भवानी सिंह, गवर्नर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन पृष्ठ- 164
2. बी0जी0 वर्गीस, फॅार कोआपरेटिव फेडरिलिज्म, इण्डियन एक्सप्रेस, 17 फरवरी, 1988
3. इण्डियन एकसप्रेस, 1 मार्च, 1988 लगभग सभी विपक्षी दलों ने कांग्रेस (आई) के नेतृत्व में साझा सरकार के गठन को अलोकतांत्रिक एवं असंवैधानिक कहा।

कार्य किया है।[1] तमिलनाडु में , जनवरी 1988 में राज्यपाल सुन्दर लाल खुराना ने रामचन्द्रन की मृत्यु के पश्चात्, उनकी विधवा जानकी रामचन्द्रन को मुख्यमंत्री पद हेतु आमंत्रित किया जबकि वह अल्पमत में थीं, और बाद में अपना बहुमत भी नहीं सिद्ध कर पायी।[2] खुराना ने पहले श्रीमती जनकी रामचन्द्रन से सदन के सदस्यों का 'पूर्ण बहुमत' प्राप्त करने को कहा, परन्तु फिर संशोधित करके कहा कि उनका बहुमत, जो उपस्थित है और मतदान में भाग ले रहे हैं। [3] सन् 1995 में उत्तर प्रदेश में राज्यपाल श्री मोतीलाल वोरा ने मुख्यमंत्री मुलायम सिंह को बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिये बिना बहुजन समाज पार्टी की नेता सुश्री मायावती को मुख्यमंत्री बना दिया। अक्टूबर 1996 में भारतीय जनता पार्टी व समतापार्टी मिलकर उत्तर प्रदेश विधान सभा निर्वाचन में सबसे बड़ा राजनीतिक दल था और श्री कल्याणसिंह के नेतृत्व में सरकार गठन का दावा अस्वीकार करते हुए उत्तर प्रदेश में कोई स्थिर सरकार गठिन न हो सकने के आधार पर पुनः राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।[4] फरवरी 1998 में, उ० प्र० के राज्यपाल श्री रोमेश भण्डारी ने साझा सरकार से समर्थन वापस तथा अन्य दलों के विभाजन के आधार पर श्री कल्याण सिंह सरकार को बहुमत सिद्ध करने का मौका दिये बिना, श्री जगदम्बिका पाल को मुख्यमंत्री बना दिया। मामला उच्च न्यायालय होते हुए सर्वोच्च न्यायालय तक गया और सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशानुसार सदन में बहुमत परीक्षण के बाद कल्याण सिंह सरकार पुनः स्थापित हुई।[5]

विधान सभा का अधिवेशन बुलाना :-

जब तक मंत्रि-परिषद को विधान सभा का विश्वास प्राप्त है, राज्यपाल के लिए उन सभी मामलों में उसकी सलाह मानना-जब तक कि वह स्पष्टतया असंवैधानिक न हो-बाध्यकारी माना

---

1. इण्डियन एक्सप्रेस, 20 फरवरी, 1988
2. इण्डिन एक्सप्रेस, 2 जनवरी तथा 3 जनवरी, 1988
3. बी.जी. वर्गीस - फार कोआपरेटिव फेडरेलिज़म, इण्डियन एक्प्रेस, 17 फरवरी 1988
4. पहले 18 अकटूबर 1995 को राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गयी थी और 17 अक्टूबर 1996 को पुनः राष्ट्रपति शासन की घोषणा हुई।
5. जगदम्बिका पाल बनाम भारत संघ 1998, उत्तर प्रदेश लोकल बॉडीस एण्ड एजूकेशनल, केसेज वाल्यूम (1) पृष्ठ 557-558 एस०सी०

जाएगा। कुछ परिस्थितियों की अत्यावश्यकताओं के कारण राज्यपाल विधान सभा बुलाने के अधिकार का प्रयोग स्वविवेक से कर सकता है। वह अपने विवेकाधिकार का प्रयोग केवल यह सुनिश्चित करने के लिये करता है कि राज्य में उत्तरदायी सरकारी तंत्र, संविधान में विचारित प्रतिमानों के अनुरूप कार्य करता रहे:-

(1) जब मुख्यमंत्री राज्यपाल को जानबूझकर विधान सभा की पिछली बैठक के छ:मास के अन्दर उसकी बैठक बुलाने की सलाह नहीं देता या वह विधानसभा की बैठक किसी ऐसी तारीख को बुलाने की सलाह देता है, जो इस छ: मास की अवधि के बाद पड़ती है, तो उस स्थिति में मुख्यमंत्री की लापरवाही या गलत सलाह के बावजूद, राज्यपाल अनु0 174 (1) में विनिर्दिष्ट 6 मास की अवधि के अन्दर विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है।[1]

(2) जब मुख्यमंत्री अपना पद ग्रहण करने के 30 दिन के अन्दर विधानसभा का अधिवेशन बुलाने को तैयार नहीं है या राज्यपाल को विश्वस्त साक्ष्य के आधार पर यह लगे कि सत्ताधारी मंत्रिमण्डल ने विधानसभा का विश्वास खो दिया है, तो राज्यपाल सदन कक्ष परीक्षण के लिये विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है।[2]

(3) यदि मुख्यमंत्री " सदन कक्ष परीक्षण" करवाने के लिए विधानसभा की बैठक बुलाने में लापरवाही करता है या ऐसा करने से इंकार कर देता है तो राज्यपाल को इस प्रयोजन के लिए विधानसभा की बैठक बुलानी चाहिए।[3]

1991 में हरियाणा में विधानसभा अध्यक्ष द्वारा तीन विधायकों को अयोग्य करार दिये जाने के बाद श्री चौटाला की सरकार अल्पमत में आ गयी। राज्यपाल धनिक लाल मण्डल को बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा, परन्तु श्री चौटाला ने इसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उन्होंने पहले ही विधानसभा भंग करने की सलाह दी है, जिसे अन्ततः राज्यपाल ने अस्वीकार कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट, भाग-1 पृष्ठ- 119 पैरा 4.11.19
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1-पृष्ठ- 119-129 4.11.19
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1-पृष्ठ- 120 पैरा 4.11.20

सत्रावसान :-

राज्य विधान मंडल के किसी सदन के सत्रावसान के मामले में राज्यपाल को अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करना चाहिए, परन्तु यदि कोई मुख्यमंत्री उस समय सत्रावसान की सलाह दें, जब मंत्रिमण्डल के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव विचाराधीन हो तो राज्यपाल को ऐसी सलाह तुरन्त नहीं मान लेनी चाहिए। यदि राज्यपाल समझता है कि विपक्ष का अविश्वास प्रस्ताव वास्तविक चुनौती का द्योतक है तो उसे मुख्यमंत्री को सत्रावसान के स्थगन तथा अविश्वास प्रस्ताव का सामना करने की सलाह देनी चाहिए।[1]

विधानसभा को भंग करना-

मंत्रिपरिषद राज्यपाल को विधानसभा भंग करने की सलाह इस आधार पर दे सकती है कि वह मतदाताओं से नया आदेश प्राप्त करना चाहती है। यदि मंत्रिमंडल को विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो, तो राज्यपाल को यह सलाह अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए, परन्तु जब विधानसभा भंग करने की सलाह ऐसे मंत्रिमण्डल द्वारा दी गयी है, जिसने बहुत का समर्थन खो दिया है या समर्थन खो दिया लगता है, तो राज्यपाल को सदन भंग नहीं करना चाहिए और मंत्रिमण्डल को 'सदन कक्ष परीक्षण' के लिये कहना चाहिए।[2]

मुख्यमंत्री के त्यागपत्र के परिणाम स्वरूप कोई भी वैकल्पिक मंत्रिमण्डल की सम्भावना नहीं दृष्टिगोचर होती हो तो किसी भी राज्यपाल के सामने दो विकल्प होते है। वह या तो विधानसभा को भंग कर दे या भंग करने के प्रश्न का निर्णय केन्द्र सरकार पर छोड़ते हुए अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दे। आयोग का मानना है कि राज्यपाल को पहले विधानसभा भंग करने और नये चुनाव करवाने पर विचार करना चाहिए। निर्णय लेने से पहले उसे सम्बन्धित राजनीतिक दलों के नेताओं तथा मुख्य चुनाव आयुक्त से परामर्श करना चाहिए।[3]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 120 पैरा 4.11.22
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1-पृष्ठ- 120- पैरा 4.11.25
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ- 120- पैरा 4.11.27

आयोग का यह भी सुझाव था कि यदि राज्यपाल यह निर्णय कर लेता हैं कि विधान सभा को भंग कर दिया जाना चाहिए और चुनाव शीघ्र कराये जा सकते हैं तो सामान्यतय: उसे सत्ता छोड़ रहे मंत्रिमण्डल से काम चलाऊ सरकार के रूप में कार्य करते रहने को कहना चाहिए। यह परम्परा भी अपनानी चाहिए कि काम चलाऊ सरकार, नीति सम्बन्धी कोई बड़े निर्णय न ले।[1]

यदि राज्यपाल के पास इस बात के पक्के साक्ष्य उपलब्ध हो कि सत्ता छोड़ रहा मंत्रिमंडल गंभीर कुप्रशासन या भ्रष्टाचार के लिये उत्तरदायी रहा है, तो उसके लिए यह उचित ही होगा कि वह ऐसे मंत्रिमंडल की नियुक्ति एक काम चलाऊ सरकार के रूप में करे। ऐसी परिस्थिति में और साथ ही साथ यदि सत्ता छोड़ रहा मंत्रिमण्डल काम चलाऊ सरकार के रूप में कार्य करने के लिए तैयार न हो तो राज्यपाल को विधानसभा को भंग किए बिना राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश करनी चाहिए। तब शीघ्र चुनाव कराने की जिम्मेदारी राज्य प्रशासन की होगी।[2] यह ध्यान रखना चाहिए कि काम चलाऊ सरकार को केवल सीमित अवधि के लिए ही कार्य करना चाहिए। यदि किसी राष्ट्रीय आपदा या राज्य व्यापी उपद्रवों के कारण तत्काल नये चुनाव कराना संभव न हो तब राज्यपाल को विधानसभा भंग नहीं करनी चाहिए। उसके लिए सही मार्ग यह होगा कि विधानसभा को भंग किये बिना अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करें।[3]

एक अन्य सम्भावित स्थिति यह है कि यदि विधानसभा ने अपने पाँच वर्ष के सामान्य कार्यकाल का आधा समय भी पूरा न किया जो तो, नये चुनाव कराना बहुत जल्द होगा जिससे प्रशासन की निरंतरता भंग होगी और राज्य को नये चुनाव भारी खर्च करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में भी राज्यपाल के लिए सही मार्ग यही होगा कि वह विधान सभा को भंग किए बिना अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करें।[4]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1-पृष्ठ- 120- पैरा 4.11.27
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- भाग-1-पृष्ठ- 120, पैरा 4.11.28
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- भाग-1- पृष्ठ- 120 पैरा- 4.11.29
4. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- भाग-1- पृष्ठ- 71 पैरा- 4.11.30

1988 में कर्नाटक विधानसभा, राज्यपाल श्री के0 वी0 कृष्णराव की रिपोर्ट पर भंग कर दी गयी। उच्च न्यायालय में मामला गया और न्यायालय ने कहा कि राज्यपाल की रिपोर्ट वास्तविक तथ्यों और प्रजातांत्रिक परम्पराओं से दूर है। 1992 में नागालैण्ड के राज्यपाल श्री एम0एस0 थॉमस ने मुख्यमंत्री की नागालैण्ड विधानसभा भंग करने की सलाह मानते हुए विधानसभा भंग कर दी और बाद में यह तर्क दिया कि विधानसभा भंग करते समय उन्हें मालूम नहीं था कि सत्ताधारी दल के अनेक सदस्य पाला बदल चुके हैं और सरकार अल्पमत में है।[1]

मार्च 1994 में, सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यदि राष्ट्रपति शासन राजनैतिक दुर्भावना के आधार पर लगाया जाता है तो न्यायालय न केवल उसे अवैध घोषित कर सकता है अपितु भंग की गयी विधानसभा को पुनर्जीवित भी कर सकता है।[2] यह निर्णय उस समय भी दिया जा सकता है, जबकि उसे संसद द्वारा मंजूर कर दिया गया हो। न्यायालय ने अपने बहुमत से दिये गये निर्णय द्वारा तीन राज्यों नागालैण्ड (1988), कर्नाटक (1989) और मेघालय (1991) में राज्य सरकारों की बर्खास्तगी को असंवैधानिक घोषित किया और कहा कि चूंकि तीन राज्यों के चुनाव कराये जा चुके है और नयी सरकारों का गठन हो चुका है, अतः पुरानी विधान सभाओं को पुनजीवित करना सम्भव नहीं है।

विधानसभा परिषद के लिए मनोनयन/नामजदगी :-

एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या राज्यपाल को अपने विवेकानुसार अनुच्छेद 171(3) (ई) एवं (5) के अन्तर्गत विधान परिषद और अनुच्छेद 333 के अनुसार विधानसभा के लिए सदस्य नामजद करने का अधिकार है। अनुच्छेद 171 के अनुसार राज्यपाल राज्य विधान परिषद के लिए कुल सदस्यों के छठवें भाग को नामजद कर सकता है। ये सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन एवं समाज सेवा के विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखने वाले होंगे। अनुच्छेद 333 के अन्तर्गत राज्यपाल विधानसभा के लिए आंग्ल-भारतीय समुदाय के एक व्यक्ति को भी नामजद कर सकता है,

---

1. जनसत्ता, 14 अप्रैल, 1992 सम्पादकीय पृष्ठ-4

2. एस0आर0 बोम्मई बनाम भारत संघ, ए0 आई0 आर0, 1994 एस0 सी0, कॉलम 365

यदि उसकी राय में इस समुदाय को विधानसभा में समुचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। आयोग का विचार है कि अनुच्छेउ 171 एवं अनुच्छेद 333 के तहत राज्यपाल को विवेकाधीन कार्य करने का अधिकार प्राप्त नहीं है । यदि नामजदगी के समय किसी भी मंत्रिमण्डल का गठन न हुआ हो या उसने त्यागपत्र दे दिया हो या विधानसभा में उसने अपना बहुमत खो दिया हो तो राज्यपाल को मंत्रिमंडल के गठन तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

राज्यों में संवैधानिक तंत्र का विफल होना और राज्यपाल की रिपोर्ट :-

कई राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता के फलस्वरूप राज्यपालों ने सभी संभाव्य विकल्पों का आश्रय लिये बिना राज्य में अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन की घोषणा की है। राज्यपालों ने सम्बन्धित राज्यों में न तो प्रतिभागी दलों को मंत्रिमण्डल गठित करने का अवसर दिया है और न ही विधानसभा भंग करके निर्वाचन द्वारा नये जनमत की व्यवस्था की है। ये सभी मामले लगभग इस आधार पर आलोचना के कारण बने कि राज्यपालों ने राष्ट्रपति को राष्ट्रपति शासन लगाने का परामर्श निष्पक्ष रूप से नहीं दिया । इसके अतिरिक्त राज्यपालों ने एक जैसी स्थिति में अलग-अलग ढंग से कार्य किया है।

आयोग का सुझाव है कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर तथा अत्यावश्यक मामलों में ही अंतिम उपाय के रूप में उस समय किया जाना चाहिए, जब अन्य विकल्पों से राज्य में संवैधानिक तंत्र को भंग होने से रोका न जा सके या उसमें कोई सुधार न किया जा सके।[1]

राजनीतिक संकट उत्पन्न होने पर राज्यपाल को विधानसभा में बहुमत का समर्थन रखने वाली सरकार बनाने की सभी संभावनाओं का पता लगाना चाहिए। यदि ऐसी सरकार बनाना संभव न हो और यदि नये चुनाव किसी परिहार्य विलम्ब के बिना किये जा सकते हैं तो यदि उस समय कोई सरकार हो, तो उसे निवर्तमान मंत्रिमंडल से काम चलाऊ सरकार के रूप में काम करते रहने के लिये कहना चाहिए, वशर्ते कि उस मंत्रिमंडल को किसी मुख्य नीति विषयक मुद्दे पर ही पराजित किया गया हो, जो कुप्रशासन और भ्रष्टाचार के आरोपों से सम्बन्धित न हो एवं वह सरकार काम करते रहने के लिये सहमत हो। इसके बाद राज्यपाल को विधानसभा भंग कर देनी चाहिए और संवैधानिक संकट के समाधान का

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ- 166, पैरा 6.8.1

प्रश्न मतदाता पर छोड़ देना चाहिए। अंतरिम अवधि के दौरान काम चलाऊ सरकार को काम करते रहने देना चाहिए। काम चलाऊ सरकार को परम्परा के रूप में केवल रोजमर्रा के सरकारी कार्य करने चाहिए और कोई मुख्य नीति-निर्णय करने से बचना चाहिए।[1]

यदि ऊपर उल्लिखित परिस्थितियां न हो तो राज्यापाल के लिए विधानसभा भंग करना और काम चलाऊ सरकार बनाना उचित नहीं होगा। राज्यपाल को राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा विधानसभा भंग किए बिना ही करनी चाहिए।[2]

प्रत्येक उद्घोषणा संसद के दोनों सदनों के समक्ष यथाशीघ्र प्रस्तुत की जानी चाहिए और हर हालत में अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) में परिकल्पित दो मास की अवधि की समाप्ति से पूर्व प्रस्तुत की जानी चाहिए।[3]

राज्यपाल या राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356 (1) के अधीन जारी की गयी उद्घोषणा संसद के समक्ष प्रस्तुत की जाये और संसद द्वारा उस पर विचार किए जाने से पूर्व विधानसभा भंग नही की जानी चाहिए। यह सुनिश्चित करने के लिये अनुच्छेउ 356 में उपयुक्त संशोधन किया जाना चाहिए।[4]

सामान्य रूप से राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अधीन राज्यपाल की रिपोर्ट पर कार्यवाही करता है। राज्यपाल की रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखी जाती है। यह रिपोर्ट 'स्वत: प्रमाणित' होनी चाहिए, जिसके अनुसार राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 में परिकल्पित स्थिति की या किसी अन्य स्थिति की मौजूदगी के सम्बन्ध में स्वयं तसल्ली कर सके।[5]

राज्यपाल की रिपोर्ट को, जिसके आधार पर अनुच्छेद 356 (!) के अधीन उद्घोषणा जारी की जाती है, पूर्णरूप से और सभी प्रचार माध्यमों द्वारा खूब प्रचारित किया जाना चाहिए। किसी राज्य में

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ -166 पैरा 6.8.4 (क)
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ -166 पैरा 6.8.4 (ख)
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ -166 पैरा 6.8.5
4. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ -166 पैरा 6.8.6
5. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ -166 पैरा 6.8.9

राष्ट्रपति शासन की घोषणा अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर की जानी चाहिए।[1]

सरकारिया आयोग की सिफरिशों की उपेक्षा करते हुए पिछले वर्षो में अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग किया गया है। नागालैण्ड में अगस्त 1988 में राज्यपाल श्री के० वी० कृष्णाराव द्वारा राष्ट्रपति शासन लगाया गया जब मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया था और दूसरे गुट को कोई मौका नहीं दिया गया। इसी तरह, अप्रैल 1989 में कर्नाटक में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया जब शासक दल में फूट हो गयी थी और राज्यपाल ने सदस्यों के अनैतिक खरीद फरोख्त के आधार पर राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। अन्त में केन्द्र सरकार के निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय ने असंवैधानिक कर दिया। इसी तरह दिसम्बर 92 में आयोध्या कांड के पश्चात् उ० प्र० के मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह द्वारा त्यागपत्र दिया गया और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया परन्तु तीन अन्य भाजपा शासित राज्यों, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने इसे अवैध घोषित किया जबकि सर्वोच्च न्यायालय ने धर्म निरपेक्षता की रक्षा के संदर्भ में उचित ठहराया। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में नागालैण्ड (1988) कर्नाटक (1989) और मेघालय (1991) में राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी उद्घोषणा तथा राज्य सरकारों की पदच्युति को असंवैधानिक घोषित किया।

10 अक्टुबर, 1990 में कर्नाटक में राष्ट्रपति शासन की घोषणा तथा राज्य विधानसभा का निलम्बन अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग का उदाहरण है। यह घोषणा तब की गयी जब कि कांग्रेस (आई) विधायी दल में कोई फूट नहीं थी और विधायी दल मुख्यमंत्री वीरेन्द्र पाटिल के स्थान पर नये नेता के चुनाव के लिये बैठक करने वाला था। यद्यपि राष्ट्रपति शासन 17 अक्टूबर, 1990 को समाप्त कर दिया गया और बंगरप्पा के नेतृत्व में नयी मंत्रिपरिषद ने सत्ता सम्हाली, तथापि कहा जा सकता है कि मुख्यमंत्री बदलने के लिये इस अनुच्छेद का दुरूपयोग किया गया। अक्टुबर, 1996 में उ० प्र० विधानसभा निर्वाचन में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था और काफी विचार विमर्श के पश्चात्

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ -166 पैरा 6.8.10 तथा 6.8.11

सबसे बड़े राजनीतिक दल- भाजपा के सरकार गठन के दावे को अस्वीकार करते हुए राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने राज्य में राष्ट्रपति शासन हेतु रिपोर्ट भेजी और राज्य में राष्ट्रपति शासन पुनः लागू हुआ।

यद्यपि आयोग की सिफारिशों के बाद भी अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग किया गया परन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी है जब राष्ट्रपति ने मंत्रिपरिषद की राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सलाह को पुनर्विचार के लिए लौटा दिया। पहला उदाहरण 29 अक्टुबर,1997 में उत्तर प्रदेश का है जब राष्ट्रपति के० आर० नारायणन ने केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सलाह को पुनर्विचार के लिये लौटा दिया और राष्ट्रपति के विचार जानते हुए मंत्रिपरिषद ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन का विचार त्याग दिया।[1]

दूसरा उदाहरण, सितम्बर 1998 का है जब बिहार के राज्यपाल सुन्दर सिंह भण्डारी ने बिहार में कानून और व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति और प्रदेश में जंगल राज के आधार पर केन्द्र में राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिये रिपोर्ट भेजी। राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर वाजपेयी सरकार ने बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने की राष्ट्रपति से सिफारिश की परन्तु राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत इसे संवैधानिक तंत्र की विफलता न मानते हुये राष्ट्रपति शासन की सिफारिश को सरकार के पास पुनर्विचार के लिये लौटा दिया।[2] सरकार ने राष्ट्रपति शासन का विचार त्याग दिया। परन्तु फरवरी 1999 में जहानाबाद के नरंसहार के बाद राष्ट्रपति ने केन्द्र सरकार की सिफारिश पर राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की।[3]

राज्यपाल- कुलाधिपति :-

राज्य विश्वविद्यालय अधिनियमों में सामान्यतयः यह व्यवस्था है कि अपने पद की हैसियत से राज्यपाल संबन्धित विश्वविद्यालय का कुलाधिपति या प्रमुख होगा और उसे कुलपति की नियुक्ति जैसी अनेक शक्तियाँ प्रदत्त होंगी। प्रश्न यह है कि क्या विश्वविद्यालय के कुलाधिपति की हैसियत से राज्यपाल के कार्य अनुच्छेद 163 (1) के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।[4]

---

1. एशियन रिकार्डर 26नवम्बर - 2 दिसम्बर, 1997 पृष्ठ- 26897
2. एशियन रिकार्डर, 29 अक्टूबर - 4 नवम्बर, 1998, पृष्ठ-27666
3. राज्यसभा में समर्थन न मिलने के कारण 8 मार्च, 1999 को यह उद्घोषणा वापस ले ली गयी।
4. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 121 पैरा 4-11-32

राज्यपाल को किसी परिनियम द्वारा सौंपी गई शक्तियाँ एवं कर्त्तव्य दो अलग-अलग श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं। एक श्रेणी के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो राज्यपाल को राज्यपाल की हैसियत से सौंपें गए हैं, जैसा कि अनुच्छेद 154(1) में उपबंधित हैं ऐसे कार्य राज्यपाल के पद से सम्बन्धित हैं, और अनुच्छेद 163(1) के अनुसार उनका निष्पादन उसे मंत्रिमण्डल की सलाह से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अनु० 361(1) के नाते, राज्यपाल को ऐसे कार्यों के लिए किसी न्यायालय में जबाव देही से व्यक्तिगत उन्मुक्ति प्राप्त है।[1]

दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो राज्यपाल को उसकी राज्यपाल की हैसियत से नहीं बल्कि एक दूसरी हैसियत से परिनियम द्वारा सौंपें गए हैं। उदाहरण के लिए जैसे किसी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति की हैसियत से । इस तथ्य के बावजूद कि विश्वविद्यालय में उसका पद उसकी पदेन हैसियत से है। यहाँ राज्यपाल विश्वविद्यालय के मामलों से संबंधित एक परिनियम का पालन करते हुए एक कुलाधिपति के रूप में कार्य करता है, एक राज्यपाल के रूप में नहीं, यद्यपि राज्यपाल अपने पद के नाते ही कुलाधिपति होता है और राज्यपाल न रहने पर वह कुलाधिपति भी नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि वह कुलाधिपति के कार्यों के निष्पादन के लिए राज्य सरकार की सलाह लेने को बाध्य है।[2] यह माना गया है कि अनुच्छेद 361(1) के तहत राज्यपाल को दी गई उन्मुक्ति इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाली शक्तियों एवं कर्त्तव्यों पर लागू नहीं होती। कुलाधिपति के परिनियम संबंधी कार्य अनुच्छेद 154(1) के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते और उन्हें अनुच्छेद 166(3) के तहत ''राज्य सरकार के कार्यों के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि कुलाधिपति का पद राज्यपाल के पद से अलग है। इसलिये आयोग का सुझाव है कि किसी राज्य की कार्यकारी शक्ति के संबंध में ''राज्यपाल'' शब्द को सामान्यतः राज्य सरकार के समतुल्य माना जा सकता है। तथापि कुलाधिपति के पद को चाहे, एक परिनियम के तहत एक पदेन हैसियत से यह राज्य के पास ही होता है। इस प्रकार समतुल्य नहीं माना जा सकता। कुलाधिपति क्योंकि विश्वविद्यालय का एक अधिकारी

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 - पृष्ठ 121, पैरा० 4-11-36

2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ 121 पैरा 4-11-37

होता है, इसलिए वह कुलपति की नियुक्ति जैसे कार्यों के लिए राज्य सरकार की सलाह लेने के लिए बाध्य नहीं है। आन्ध्र-प्रदेश उच्च न्यायालय ने एम. किरनबाबू बनाम आन्ध्रप्रदेश सरकार में यही मत व्यक्ति किया कि राज्यपाल द्वारा कुलाधिपति के रूप में कुलपति के नियुक्ति के अधिकार को चुनौती दी गयी थी। न्यायालय का मानना था कि श्री वेंकेटेश्वर विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति कुलाधिपति ने की थी जो कि राज्यपाल पद से अलग पद है, इसलिए मंत्रि परिषद की सलाह राज्यपाल की कुलाधिपति की भूमिका में बाध्यकारी नहीं है।[1] कुलाधिपति के रूप में सरकारिया कमीशन ने अपना सुझाव देते हुए कहा कि यद्यपि अनुच्छेद 163(1) के तहत हमेशा मंत्रिमण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करना राज्यपाल की बाध्यता नहीं है। राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री या अन्य संबद्ध मंत्रियों से सलाह करने के स्पष्ट लाभ हैं, परन्तु उसे अपना व्यक्तिगत निर्णय ही लेना होगा। किसी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति की हैसियत से विश्वविद्यालय के परिनियम (उदाहरणार्थ- कलकत्ता तथा बर्दवान अधिनियमों) के अनुसार विशिष्ट मामलों में राज्यपाल के लिए सम्भवत: ऐसे परिनियम में वर्णित मंत्री से सलाह लेना अपेक्षित हो सकता है। ऐसे मामलों में राज्यपाल को यह नेक सलाह दी जाय कि वह अन्य महत्वपूर्ण मामलों में भी मंत्री से परामर्श कर लें। दोनों में से किसी भी मामले में उसके लिए यह कानूनी बाध्यता नहीं है कि वह उसे दी गयी सलाह का अवश्य पालन करें।[2]

यह सुझाव आश्चर्यजनक लगता है। राज्यपाल मुख्यमंत्री या अन्य मंत्रियों की सलाह क्यों ले जब अंतिम रूप से वह उनकी सलाह मानने के लिए बाध्य नही है। यह ध्यान रखना चाहिए कि सरकार सामान्यतय: अपनी सत्ता के सम्बन्ध में बहुत महत्वाकांक्षी होता है और यह न केवल अपना सत्ताधिकार बढ़ाना चाहती है वरन् सत्ता के अधिकार सीमित करने वाले किसी भी व्यक्ति चाहे वह राज्यपाल ही क्यों न हो सहन नहीं कर सकती। चूंकि राज्यपाल की कुलाधिपति के रूप में भूमिका अस्पष्ट है और कई राज्यपालों ने इस अस्पष्टता का लाभ उठाकर अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर मंत्रियों को विरोधी बनाया है उस स्थिति में यदि राज्यपाल मंत्रियों से स्वैच्छिक परामर्श लेता है और

---

1. एम. किरनबाबू बनाम आन्ध्रप्रदेश सरकार इत्यादि, ए.आई.आर. 1986 आन्ध्रप्रदेश, पृष्ठ 275
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पैरा 4-11-29 पृष्ठ-120-121

फिर उनके परामर्श के अनुसार कार्य नहीं करता है तो यह उसके व सरकार के मध्य कटुता का संचार करेगा। जब तक राज्यपाल कोई सलाह नहीं लेता और स्वविवेकाधिकार का प्रयोग करता है तब तब उसके व सरकार के मध्य विराम संधि रहती है। यद्यपि अपनी इच्छा से ही वह सरकार को सलाह देने की अनुमति प्रदान करता है तो अनैच्छिक ही सही वह स्वंय को उस सलाह को मानने के लिए बाध्य कर लेता है। क्योंकि सरकार प्राय: राज्यपालों के सम्बन्ध अनौपचारिक सलाह में विश्वास नहीं करती। वह या तो सलाह देती है या फिर कोई मतलब नही रखती है। अत: यह कहना कि सरकार यह जानते हुए कि राज्यपाल सलाह को अस्वीकार भी कर सकता है सरकार सलाह देगी। यह एक अविश्वसनीय बात होगी। इसलिए आयोग का यह सुझाव कि राज्यपाल सरकार की सलाह ले और फिर स्वविवेकानुसार कार्य करे यह राज्याध्यक्ष व सरकार के अध्यक्ष के मध्य कडुवाहट उत्पन्न करेगा। पूर्व के उदाहरणों से स्पष्ट है कि राज्यपाल ने कुलाधिपति के रूप में कार्य करते हुए या तो राजनीतिक संरक्षण प्रदान किया है या फिर स्वंय को राजनीतिक विवाद में शामिल कर लिया है। राज्यपाल तथा कुलाधिपति के पद एक ही व्यक्ति में समाहित होने से सदैव विवाद की स्थिति बनी रह सकती है अत: यह अधिक श्रेयस्कर होगा कि ये दोनों पद अलग-अलग व्यक्तियों के पास हो। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण तमिलनाडु की मुख्यमंत्री सुश्री जयललिता तथा राज्यपाल श्री एम.चेन्नारेड्डी के मध्य उपजा विवाद है, जब राज्य विधानसभा ने 4 जनवरी, 1994 को विधेयक पारित कर राज्य विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति पद पर राज्यपाल के स्थान पर, मुख्यमंत्री को आसीन किया।[1] बिहार में राज्यपाल श्री गोविन्द नारायण सिंह और मुख्यमंत्री श्री भगवत झा आजाद के मध्य राज्य विश्वविद्यालयों में कुलाधिपति को नियुक्ति को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ। केरल की राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा ने कालीकट विश्वविद्यालय की कुलाधिपति के रूप में 1988 में विवादस्पद भूमिका निभायी और केरल विधानसभा ने परम्परागत तरीके से कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल की भूमिका के विरोध में 1989 में प्रस्ताव पास किया।[2]

---

1. एशियन रिकार्डर 29 जनवरी-4 फरवरी, 1994, पृष्ठ- 23715
2. डा. भावना मिश्रा - दि रोल आफ गनर्वनस, इन इण्डिया, नार्दन इण्डिया पत्रिका, 25 सितम्बर 1993, पृष्ठ-6

राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों का अभिरक्षण :-

राज्यपालों को प्रदत्त इस शक्ति की विवादित प्रकृति के कारण आयोग ने इस पर गहन विचार किया और अध्याय पाँच में इस शक्ति की विस्तृत व्याख्या की। अनुच्छेउ 200 तथा 201 विवाद के केन्द्र है। अनुच्छेद 200 में यह व्यस्था की गयी है कि जब कोई विधेयक राज्य विधामंडल में पारित होने के बाद राज्यपाल को प्रस्तुत किया जाता है तो राज्यपाल यह घोषणा करेगा कि :-

(क) वह विधेयक को सहमति देता है, या

(ख) वह उस विधेयक से अपनी सहमति को रोक कर रखता है, या

(ग) वह उस विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखता है, या

(घ) राज्यपाल, यथासंभव शीघ्रता शीघ्र विधेयक को लौटा सकता है (धन विधेयक को छोड़कर) इस संदेश के साथ कि राज्य विधानमंडल इस पर पुनर्विचार करे। लेकिन यदि वह विधेयक विधानमंडल द्वारा बिना संशोधन के दुबारा पारित किया जाता है तो राज्यपाल के लिए उस पर सहमति देना अनिवार्य होगा।

(ङ) राज्यपाल की राय में यदि किसी विधेयक द्वारा उच्च न्यायालय की शक्तियों को अल्पीकृत और उसकी संवैधानिक स्थिति को संकट में डालने का प्रस्ताव है तो राज्यपाल उस पर सहमति नहीं देकर, उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखेगा (दूसरा परन्तुक)।

यदि राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखता है, तब उस विधेयक की अधिनियमिति राष्ट्रपति की सहमति या अस्वीकृति पर निर्भर करेगी।

आरक्षित विधेयक के संबंध में, राष्ट्रपति अनुच्छेद 201 के अन्तर्गत या तो अपनी सहमति की या उस पर से अपनी सहमति को रोके रखने की या पुनर्विचार के लिये लौटाने की कार्यवाही करेगा। राज्य विधान मंडल उस विधेयक की प्राप्ति के छः माह के भीतर उस पर पुर्नविचार करेगा, और यदि उसे दुबारा पारित किया जाता है तो उसे फिर राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा। किसी पुनर्विचरित विधेयक के संबंध में यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति उस पुनर्विचारित

विधेयक को दे दे। यह राष्ट्रपति को संघीय वीटो प्रदान करता है। इस प्रकार आरक्षित विधेयक राष्ट्रपति की मेज पर लम्बी अवधि तक पड़ा रह सकता है और इस प्रकार ऐसे विधेयक पर अपनी सहमति न देकर, रोक रखकर राष्ट्रपति अपनी जेबी वीटो का भी प्रयोग कर सकता है।

सरकारिया आयोग ने अनुच्छेद 200 तथा 201 को विस्तार से अध्ययन किया। आयोग ने इन अनुच्छेदों को बनाये रखने के कई लाभ बताये जो संक्षेप में इस प्रकार है:-

(1) ये संघीय व्यवस्था में मजबूत केन्द्र के सिद्धान्त को सुशोभित करते हैं और संविधान द्वारा अपनाये गये नियंत्रण तथा संतुलन के का सिद्धान्त इस योजना का एक अंग है।[1]

(2) ये अनुच्छेद 254 के दृष्टिकोण से भी आवश्क है। समवर्ती सूची के अन्तर्गत राज्य द्वारा बनाये गये कानून यदि संसद द्वारा बनाये गये कानून के विरूद्ध हैं, तो राज्य द्वारा निर्मित कानून प्रतिकूलता के आधार पर अमान्य हो जायेगें। फिर भी किसी राज्य में उस विषय से सम्बन्धित विशिष्ट परिस्थितियों, समस्याओं और परिस्थितियों के लिए ऐसे विनियमन की आवश्यकता हो सकती है जो केन्द्रीय विधान से असंगत हो। ऐसे विधान को अमान्य होने से उस स्थिति में बचाया जा सकता है जब उन्हें राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर लिया जाता है और बाद में उसे राष्ट्रपति की मंजूरी मिल जाती है। इस प्रकार से अनुच्छेद एक आवश्यक प्रक्रिया जुटाते है जिसके माध्यम से राज्य विधानमण्डल के उन अधिकारों की रक्षा होती है जिनका रूप प्रतिकूलता के आधार पर अनुचित रूप से संक्षिप्त कर दिया जाता है।[2]

(3) कभी-2 राज्य विधानमंडल द्वारा विधेयक पारित करने के बाद राज्यपाल द्वारा उस विधेयक को अनुमति मिलने से पूर्व ही, मंत्रिमंडल त्यागपत्र दे देते हैं और हो सकता है कि नया मंत्रिमंडल उस विधेयक को लागू न करे तथा राज्यपाल को इस बात की सलाह दे सकता है कि वह उक्त विधेयक पर मंजूरी न दे। ऐसा भी हो सकता है कि राज्य विधानमंडल जनमत दबाव में शीघ्रता से कोई विधेयक पास कर दें और पास होने के पश्चात् तुरन्त ही मंत्रिपरिषद

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ- 136 पैरा 5.5.01

2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ- 136 पैरा 5.5.02

को स्वयं विधेयक में कुछ त्रुटियां समझ में आयें और उस पर पुनर्विचार की आवश्कता महसूस करें। ऐसी परिस्थितियों में अनुच्छेद 200 और 201 उन्हें इस दुर्दशा से बचने की राह दिखाती है।[1]

(4) राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित विधेयक के माध्यम से राष्ट्रपति समवर्ती सूची से सम्बन्धित विषयों में केन्द्र व राज्यों के कानूनों के मध्य एकरूपता व सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं।[2]

(5) उच्च न्यायालय की स्थिति या अन्तर्राज्य व्यापार एवं वाणिज्य को प्रमाणित करने वाले विधेयकों को आवश्यक रूप से राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करना अपेक्षित है। ऐसे विधेयकों के लिये भी अनुच्देद 200 तथा 201 आवश्यक है।[3]

आयोग द्वारा अनुच्छेद 200 और अनुच्छेद 201 को बनाये रखने के पक्ष में तर्क दिये जाने के पश्चात् आयोग ने अनुच्छेद 200 अन्तर्गत राज्यपाल के स्वविवेकाधिकार कार्यक्षेत्र का परीक्षण करने के पश्चात् विचार व्यक्त किया कि "अनुच्छेद 200 स्पष्ट रूप से अथवा आवश्यक निहितार्थ द्वारा राज्यपाल को अपने कर्तव्य निष्पादन में सामान्य स्वविवेकाधिकार प्रदान नहीं करता, जिसमें राष्ट्रपति के विचारार्थ भेजे जाने वाले विधेयक का आरक्षण भी शामिल है।"[4] तथापि बिरले ही अपवादात्मक मामलों में वह अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है जहाँ उसकी यह राय हो कि विधेयक के उपबंध प्रत्यक्ष रूप से असंवैधानिक हैं जैसे किसी विशिष्ट मामले में विधेयक की विषयवस्तु स्पष्ट रूप से राज्य विधान मंडल की विधायी क्षमता के बाहर है अथवा जहाँ इसके उपबंध प्रत्यक्ष रूप से संविधान की योजना और उसके ढाँचे के अनुरूप नहीं है, और जिनसे राष्ट्र की प्रभुता, एकता और अखण्डता का खतरा हो सकता है, अथवा जिनसे स्पष्ट रूप से मौलिक अधिकारों का हनन हो अथवा जिनसे अन्य संवैधानिक सीमाओं और उपबंधों का अतिक्रमण होता हो।[5]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ- 136 पैरा 5.5.03
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ- 136 पैरा 5.5.04
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ 137 पैरा 5.5.05
4. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ 137 पैरा 5.6.06
5. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ 145 पैरा 5.11.01

इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकारिया आयोग ने भी स्वीकार किया कि राज्यपाल का विवेकाधिकार सीमित हैं, परन्तु राष्ट्रपति का नहीं क्योंकि राष्ट्रपति पुनर्विचारित विधेयक को वीटो कर सकता है, जबकि राज्यपाल नहीं। तथापि आयोग इस तथ्य से सचेत था कि राष्ट्रपति अनिश्चित काल के लिए अपनी सहमति रोक सकता है, इसलिए आयोग ने निम्न सुझाव दिये:-[1]

(क) एक परिपाटी के अनुसार राष्ट्रपति के विचार किए जाने के लिए रखे गये किसी विधेयक का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस तिथि से चार माह की अवधि के भीतर किया जाना चाहिए जिस तिथि को यह संघ सरकार को प्राप्त होता है।

(ख) तथापि यदि राज्य सरकार से स्पष्टीकरण मांगना अथवा अनुच्छेड 201 के परन्तुक के अधीन राज्य विधानमंडल के पुन: विचार के लिए विधेयक को वापस करना आवश्यक समझा जाए तो यह कार्यवाही उस तिथि से 2 माह के भीतर की जाए जिस तिथि को संघ सरकार को मूलपत्र प्राप्त हुआ था।

(ग) स्पष्टीकरण मांगने के लिए भेजा जाने वाला पत्र स्वत: पूर्ण होना चाहिए अलग-अलग स्पष्टीकरण न मांगा जाए।

(ध) राज्य से अनुच्छेद 201 के परन्तुक के अधीन स्पष्टीकरण प्राप्त होने अथवा पुनर्विचारित विधेयक प्राप्त होने के बाद, उस मामले का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस तारीख से 4 माह की अवधि के भीतर किया जाए, जिस तारीख को राज्य सरकार से स्पष्टीकरण अथवा पुनर्विचारित विधेयक प्राप्त हुआ हो।

इसी प्रकार राज्यपाल के लिए सुझाव दिया गया है कि राष्ट्रपति के लिए आरक्षित विधेयक को राज्यपाल को तुरन्त राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अपवादात्मक मामलों को छोड़कर उसे एक माह के अन्दर कार्यवाही कर लेनी चाहिए तथा आपवादिक मामलों को छोड़कर इन नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।[2]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ- 146 पैरा 5.19.07
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट- पृष्ठ 142 पैरा 5.16.04

अन्तत: आयोग ने सुझाव दिया कि जब कभी राष्ट्रपति राज्य विधेयक पर सहमति रोकता है तो जहां तक व्यवहार्य हो, सहमति न देने का कारण राज्य सरकार को सूचित किया जाना चाहिए।[1]

इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि ये सुझाव विद्यमान परिस्थितियों का पुर्वानुमान हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश आयोग ने उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित स्थिति नहीं ली है। वह कवेल सुझाव देता है और इन सुझावों के लागू करने के लिये ठोस तरीके नहीं बताता। उसके मतानुसार जहां तक व्यवहार्य हो ऐसा करना चाहिए। ये अपने सुझावों को प्रभावी बनाने तथा संविधान के अनुरूप बनाने के लिये संविधान में किसी संशोधन की प्रस्तावना नहीं करता। एक निश्चित समय सीमा प्रस्तावित की गई है परन्तु संविधान में संशोधन न करने पर आयोग के सुझाव केवल पवित्र इच्छाएं और कागजी संरक्षण/रक्षोपाय बन कर रह जायेंगे।[2] इस सम्बन्ध में उचित यह होगा कि राष्ट्रपति के लिए आरक्षित विधेयक की तिथि से चार माह बीत जाने के पश्चात् विधेयक पर सहमति देना समझ लिया जाये। इसी तरह पुनर्विचारित विधेयक को राष्ट्रपति द्वारा वीटो नहीं किया जाना चाहिए। घोषित अवैधानिकता या असंवैधानिकता के मामले में राष्ट्रपति अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय से सलाह ले सकता है। परन्तु आयोग ने पवित्र विचार व्यक्त किये हैं, इस आधार पर कि ये भविष्य में स्वस्थ परम्पराओं के बनने व विकसित होने पर स्थापित हो जायेगें। परन्तु अपने सुझावों को प्रभावी बनाने के लिए संविधान संशोधन करने के विचार को दृढ़ता से अस्वीकार करते हुए कहा कि " समय सीमा निर्धारण के लिए संविधान में संशोधन करने की आवश्यकता नही है।"[3] यह आयोग के सम्पूर्ण सुझावों को अप्रभावी बना देता है।

अध्यादेश :-

उस अवधि के दौरान जब राज्य विधान मण्डल सत्र में न हो, ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जब राज्य सरकार को तत्काल कार्यवाही करनी आवश्यक हो। ऐसी परिस्थिति का सामना करने के लिए यदि आवश्यक हो तो, राज्यपाल अनुच्छेद 213 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी कर सकता है।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट पृष्ठ 146 पैरा 5.19.11
2. भवानी सिंह- गवर्नर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया कमीशन पृष्ठ 196
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ- 142 पैरा 5.16.02

राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह से करेगा न कि अपने विवेकानुसार दूसरे इस अनुच्छेद का प्रयोग निम्न स्थितियों में किया जाएगा।[1]

(क) राज्यपाल (वास्तव में मंत्रिपरिषद) को इस बात की तसल्ली कर लेनी चाहिए कि ये वही परिस्थितियों हैं जिनमें तत्काल कार्यवाही करनी आवश्यक है।

(ख) विधान सभा का सत्र न चल रहा हो या जहाँ राज्य में विधायी परिषद भी हो वहाँ विधानमंडल के दोनो सदनों का सत्र न चल रहा हो।

अनुच्छेद 213(1) के परंतुक में राज्यपाल को यह आदेश दिया गया है कि वह निम्नलिखित स्थितियों में, राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कोई अध्यादेश जारी नहीं करेगा :–[2]

(क) संविधान के अधीन वैसे ही उपबंध वाले विधेयक पर विधानमण्डल में विचार करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी आवश्यक हो, या

(ख) राज्यपाल ने वैसे ही उपबंधों वाले विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आराक्षित करना जरूरी समझा हो, या

(ग) वैसे ही उपबंध वाला राज्य विधान मंडल का अधिनियम संविधान के अधीन, अमान्य होने पर जब तक कि वह राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित न किया जाय और उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो जाय।

इस अनुच्छेद के अन्तर्गत प्रख्यापित अध्यादेश विधान मंडल द्वारा पारित व राज्यपाल द्वारा सहमति प्राप्त अधिनियम की भांति ही प्रभावी होगा परन्तु ऐसा प्रत्येक अध्यादेश विधानमंडल की अगली बैठक की 6 सप्ताह की अवधि के पश्चात् प्रभावी नहीं रहेगा वशर्तें कि विधानमंडल के संकल्प द्वारा इसको वापस न लें लिया गया हो या राज्यपाल ने इसे वापस न लिया हो।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट पृष्ठ 143 पैरा 5-18-0।
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पैरा 5-18-03

यदि और जहाँ तक, इस अनुच्छेद के अधीन अध्यादेश में कोई ऐसा उपबंध दिया गया है, जो विधानमंडल द्वारा अधिनियम और राज्यपाल द्वारा सहमति प्राप्त अधिनियम के रूप में नहीं माना जाता है तो उस अध्यादेश का वह उपबंध शून्य माना जाएगा। परन्तु राज्य विधान मंडल के ऐसे अधिनियम के, जो समवर्ती सूची में बताये गये किसी विषय के बारे में संसद के किसी अधिनियम अथवा किसी वर्तमान विधि के विरुद्ध है, प्रभाव को दिखाने वाले उपबंधों के प्रयोजनों के लिये कोई अध्यादेश जो राष्ट्रपति के अनुदेशों के अनुसरण में इस अनुच्छेद के अधीन प्रख्यापित किया गया है, राज्य के विधान मंडल के विचारार्थ आरक्षित किया गया है तथा राष्ट्रपति ने इस पर अपनी सहमति दे दी है।[1]

सरकारिया आयोग के अनुसार किसी राज्य में राज्यपाल द्वारा कोई अध्यादेश 1967 तक पुनर्प्रख्यापित नहीं किया गया था। इसके बाद यद्यपि कुछ राज्य सरकारों ने उसी अध्यादेश को विधान मंडल में कोई अधिनियम बनाने का प्रयास किए बिना अनिश्चित काल तक जारी रखा। एक राज्य में कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश जारी करके इसे विधानमंडल द्वारा अधिनियम करना आरम्भ कर दिया। यह स्थिति गम्भीर हो गयी। उस राज्य के राज्यपाल ने 1967-81 के दौरान 256 अध्यादेशों का प्रख्यापन किया है और इन सभी अध्यादेशों को 1 से 14 वर्षों के बीच समय-समय पर पुर्नरत्यापित करके जारी रखा है। इन 256 में से लगभग 69 को राष्ट्रपति के पूर्व अनुदेशों से बार-बार प्ररत्यापित किया गया है।[2]

वास्तव में यह एक गलत परम्परा है और कई विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने इस परम्परा का विरोध किया है। आयोग ने इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय का उदाहरण दिया है :- ''राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित प्रत्येक अध्यादेश विधान मंडल में प्रस्तुत किया जाय और विधान मंडल की अगली बैठक होने के छः सप्ताह के बाद इसका कार्यान्वयन रोक दिया जायेगा या यह अवधि समाप्त होने से पहले यदि विधान सभा इसे अनुमोदित न करने का संकल्प पारित कर देती है, और विधान परिषद, यदि कोई हो, इसे स्वीकृति दे देती है तो इसका कार्यान्वयन रोक दिया जाएगा.........चूंकि

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ 143 पैरा 5-18-04

2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 143 पैरा 5.18.07।

अनुच्छेद 174 आदेश देता है कि विधानमंडल की बैठक वर्ष में दो बार होगी, किन्तु पहले सत्र की अंतिम बैठक और अगले सत्र की पहली बैठक के लिए निर्धारित तारीख के बीच छः मास का अंतराल नहीं होगा, और राज्यपाल द्वारा दिये गये अध्यादेश का विधानमंडल की अगली बैठक की छ:सप्ताह के बाद कार्यान्वयन रोक दिया जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि किसी अध्यादेश की अधिकतम अवधि साढ़े सात माह से ज्यादा नहीं होती है, बशर्तें कि इसे विधान मंडल द्वारा किसी अधिनियम में परिवर्तित न किया जाय या उस अवधि की समाप्ति से पहले विधान मंडल के किसी संकल्प द्वारा आस्वीकृत न कर दिया जाये। संविधान के निर्माताओं ने यह अपेक्षा की थी कि यदि अध्यादेश के उपबंधों को लागू रखना हो तो विधान मंडल के लिये इस सम्बन्ध में आवश्यक अधिनियम पारित करने के लिए यह समय पर्याप्त होगा, लेकिन यदि इस अवधि के दौरान विधान मंडल ऐसा अधिनियम पारित नहीं करता है, तो अध्यादेश प्रभावी नहीं होगा। कार्यपालिका विधानमंडल से पूँछे बिना अध्यादेश के उपबंधों को लागू नहीं रख सकती है।[1]

फिर भी न्यायालय ने यह स्वीकार किया, कि ऐसी स्थिति भी हो सकती है जब विधानमंडल के किसी एक सत्र में अत्याधिक विधायी कार्य होने या विधानमंडल का सत्र समाप्त होने में बहुत थोड़ा समय रहने की वजह से और जब राज्यपाल विधि सम्मत रूप से यह मानता हो कि अध्यादेश का पुनर्प्रख्यापन आवश्यक है, तो ऐसी स्थिति में सरकार के लिए अध्यादेश में निहित उपबंधों के समान उपबधों वाले विधेयक को विधान मंडल में प्रस्तुत करना और इस पर अगली कार्यवाही करना असंभव हो जाता है। जहाँ कहीं भी ऐसा मामला हो वहाँ अध्यादेश के पुनर्प्रख्यापन का विरोध नहीं होगा, किन्तु अन्यथा, पुनर्प्रख्यापन की पद्धति अपनाकर संविधान द्वारा तय की गयी अवधि से ज्यादा समय तक उसी तरह के उपबंधों वाले अध्यादेश का प्रख्यापन करना कार्यपालिका का अपनी शक्तियाँ का झूठा प्रदर्शन ही होगा।[2] इस सन्दर्भ में न्यायालय ने यह भी कहा कि ''यह कानून है कि संवैधानिक प्राधिकारी ऐसा कोई काम अप्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता है जिसके प्रत्यक्ष रूप से करने की अनुमति न दी गयी हो। यदि कोई ऐसा संवैधानिक उपबंध हो, जिसमें किसी संवैधानिक प्राधिकारी को किसी

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ - 144 पैरा 5-18-09
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ - 144 पैरा 15-18-10

कार्य को करने का निषेध हो तो वह (प्राधिकारी) कोई बहाना बनाकर ऐसे उपबंध में दिया गया कार्य नहीं किया जा सकता है। ऐसा करना संवैधानिक उपबंधों की अवहेलना करना होगा।[1]

सर्वोच्चन्यायलय के इन विचारों के प्रकाश में आयोग ने निम्न सिफारिशें कीः—

(1) राज्य सरकारे यंत्रवत और बार-बार अध्यादेश पुनर्प्रख्यापित करने की गलत परम्परा से दूर रहेंगी तथा इसके बजाय विधान मंडल में अधिनियम पारित करवायेंगी।[2]

(2) अनुच्छेद 213 के खण्ड (2) की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य सरकार को केन्द्र सरकार के समान पद्धति अपनानी चाहिए, अर्थात जब किसी अध्यादेश के उपबंधों को इसकी प्रवर्तन अवधि के बाद जारी रखना हो तो राज्य सरकार राज्य विधान मंडल का विधायी कार्यक्रम निर्धारित करके अगले सत्र में एक ऐसा अधिनियम पारित करे जिसमें वे उपबंध शामिल हो। ऐसे अवसर बहुत कम होने चाहिए जब राज्य सरकार को यह लगे कि वह किसी अध्यादेश को इस कारण से पुनर्प्रख्यापित करने को बाध्य है कि चालू सत्र में राज्य विधान मण्डल के पास बहुत अधिक विधायी कार्यवाही है या उस सत्र में विधान मंडल के पास समय की कमी है। किसी भी स्थिति में किसी अध्यादेश को दूसरी बार पुनर्प्रख्यापित करने का प्रश्न कदापि नहीं उठना चाहिए।[3]

3. किसी अध्यादेश के प्रख्यापन या पुनर्प्रख्यापन का निर्णय केवल दिये गये ऐसे तथ्यों के आधार पर किया जाय, जिसके अनुसार शीघ्र कार्यवाही करना आश्यक हो, और यह निर्णय राज्य मंत्रिपरिषद द्वारा सम्मिलित रूप से लिया जाना चाहिए।[4]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ - 144 पैरा 5-18-10
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ - 144 पैरा 5-18-12।
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 144 पैरा 5-18-14
4. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 144 पैरा 5-18-15

4. राज्यपाल द्वारा जिस अध्यादेश का पुनर्प्रख्यापन किया जाना हो और जो अनुच्छेद 213(1) के परन्तुक के अधीन अनुदेशों के लिए राष्ट्रपति को प्राप्त हुआ हो, उस,के बारे में कार्यवाही करने के विषय में एक समुचित परिपाटी विकसित की जानी चाहिए।[1]

5. राष्ट्रपति को ऐसे किसी अध्यादेश को पहली बार पुनर्प्रख्यापित करने से नहीं रोकना चाहिए जिसके उपबंध अन्यथा ठीक हों, किन्तु जो किसी अधिनियम के रूप में इस कारण अधिनियमित न किये जा सके हों कि विधान मंडल के पास इतना समय नहीं था कि वह उस सत्र में इसके उपबंधों पर विचार कर सके। अनुदेश देते समय, संघ सरकार राज्य सरकार को यह बात सुस्पष्ट कर दें कि उसी अध्यादेश का दूसरी बार पुनर्प्रख्यापन करने का राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदन नहीं किया जाएगा, और यदि उस अध्यादेश के उपबंधों को और अधिक समय तक लागू रखना आवश्यक समझा जाए तो राज्य सरकार को उन उपबंधों के संबंध में आवश्यक विधेयक पारित कराने के लिए राज्य विधान मंडल की बैठक की समय से पहले व्यवस्था कर लेनी चाहिए और यदि आवश्यक हो तो इस प्रकार के पारित विधेयक के संबंध में राष्ट्रपति की मंजूरी भी प्राप्त कर लेनी चाहिए।[2]

6. सिफारिशें यथा आवश्यक परिवर्तनों के साथ किसी राज्य अध्यादेश के प्रख्यापन के लिए राष्ट्रपति से अनुदेश मांगने की कार्यवाही पर भी लागू होंगी। तथापि अध्यादेश के अत्यावश्यक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए, राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को अनुच्छेद 213 (1) परन्तुक के अधीन अनुदेश प्राप्त करने के लिये भेजे गये प्रस्तावित अध्यादेश का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा अतिशीघ्र किया जाना चाहिए और किसी भी स्थिति में यह एक पखवाड़े के भीतर ही किया जाना चाहिए।[3]

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ - 146 पैरा 5-19-15
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 146 पैरा 5-19-16
3. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 146 पैरा 5-19-17

इस तरह आयोग की शिफारिशें काफी महत्वपूर्ण हैं, परन्तु अध्यादेशों को अपरिहार्य व विशेष परिस्थितियों में पुनर्प्रख्यापित करने का सुझाव सहमति योग्य नहीं है, क्योंकि किसी भी सरकार के पास कार्य करने हेतु सचिवालय होता है, जो सही समय व उचित प्रक्रिया के माध्यम से अध्यादेशों को विधायिका के सम्मुख रखने में सहायता कर सकता है। दूसरी बात प्राय: विधायी कार्य को पूरा करने के लिये विधायीका का अधिवेशन देर रात तक चलता रहता है और यदि समयाभाव के कारण अध्यादेश पर विचार न किया गया हो तो विकल्प रूप में अधिवेशन की समयावधि बढ़ायी भी जा सकती है, जिससे शेष कार्यों को पूर्ण किया जा सके। इसलिये कार्य का बोझ या समय का अभाव अध्यादेशों के पुनर्प्रख्यापन को न्यायोचित नहीं ठहरा सकते।[1] आधुनिक समय में इस शक्ति का दुरूपयोग किया गया है और प्राय: अध्यादेशों का सहारा कार्यपालिका की अनियमितताओं और गलतियों को छुपाने के लिये लिया गया है। बहुत बार सरकारों ने विधायिका के सत्रावसान के तुरन्त बाद अध्यादेश जारी किये हैं।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अध्यादेशों का पुनर्प्रख्यापन बहुत कम, अपरिहार्य व विशेष परिस्थितियों में किया जाना चाहिए परन्तु इन परिस्थितियों का निर्धारण कौन करेगा ? सरकार किसी भी कारण को अपरिहार्य बताकर विवादित परिस्थिति से बच जायेगी। न्यायपालिका द्वारा अध्यादेश जारी करने के औचित्य निर्धारण से न केवल न्यायपालिका के कार्य में वृद्धि होगी वरन् इससे अन्य न्यायिक कार्यों की भी उपेक्षा हो जायेगी। इस सम्बन्ध में उचित यही होगा कि केवल अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत देश में वाह्य आक्रमण के भय के समय ही अध्यादेश पुनर्प्रख्यापित किये जाये, अन्य परिस्थितियों में नहीं।

अध्यादेश प्रख्यापन को सम्बन्ध में 1997 में उ० प्र० की मुख्यमंत्री सुश्री मायावती तथा राज्यपाल रोमेश भण्डारी के मध्य कटुतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए। राज्यपाल ने पाँच अध्यादेशों पर सहमति देने से इंकार कर दिया था, क्योंकि विधानसभा अधिवेशन प्रारम्भ होने वाला था। ऐसी स्थिति श्री कल्याण सिंह के समय में भी आयी थी। श्री कल्याण सिंह सरकार के समय अध्यादेशों के प्रख्यापना के सम्बन्ध में उठाये गये औचित्य के एक प्रश्न पर विधान सभा में विस्तार से चर्चा हुई थी और अध्यक्ष श्री केशरी नाथ त्रिपाठी ने व्यवस्था की थी कि अध्यादेशों का प्रख्यापन कोई गैर कानूनी कार्य नहीं है। सत्र बुला भी लिया गया है, तो भी अध्यादेशों का प्रख्यापन विधि सम्मत है।[2]

---

1. भबानी सिंह - गर्वनर रोल आइडेन्टीफिकेशन एण्ड सरकारिया सरकारिया कमीशन पृष्ठ - 202
2. हृदय नारायण दीक्षित - अध्यादेशों की आड़ में मुख्यमंत्री - राज्यपाल में जंग-दैनिक जागरण, 28 जुलाई 1997।

राज्यपाल की राष्ट्रपति को पाक्षिक रिपोर्ट :-

प्रत्येक राज्यपाल राष्ट्रपति को राज्य के प्रशासन के महत्वपूर्ण क्रियाकलापों से संबंधित एक पाक्षिक रिपोर्ट भेजता है। सामान्य प्रथा यह है कि रिपोर्ट की एक प्रति मुख्यमंत्री को भी भेजी जाती है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल आकस्मिक व महत्वपूर्ण मामलों से सम्बन्धित तदर्थ रिपोर्ट भी राष्ट्रपति को भेज सकता है। यह सम्भव है कि इनमें से कुछ रिपोर्ट राज्य प्रशासन के सम्बन्ध में आलोचनात्मक हो। ऐसी रिपोर्ट भेजते समय राज्यपाल स्वयं व्यक्तिगत निर्णय लेता है और हो सकता है कि वह मुख्यमंत्री को विश्वास में न लें। आयोग राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजी जाने वाली पाक्षिक रिपोर्टों तथा मुख्यमंत्री को दी जाने वाली उनकी प्रतियों के विषय में सुस्थापित परम्परा में विश्वास व्यक्त करता है परन्तु फिर भी कुछ मामलों में ऐसी रिपोर्टों को मुख्यमंत्री को भेजने के लिये छूट प्रदान करता है। ऐसी महत्वपूर्ण घटनाओं की रिपोर्ट को पाक्षिक रिपोर्ट में सम्मिलित न कर एक अलग-तदर्थ रिपोर्ट में भेजा जाना चाहिए । आयोग का कहना है कि जब तक ऐसा करने के पक्ष में अभिभावी कारण उपलब्ध न हों, राज्यपाल को ये तदर्थ या पाक्षिक रिपोर्ट भेजते समय मुख्यमंत्री को विश्वास में ले लेना चाहिए।[1]

विवेकाधिकार की आवश्यकता :-

आयोग का मानना है कि अनुच्छेद 163 द्वारा राज्यपाल को प्रदत्त विवेकाधिकार विल्कुल न छेड़ा जाय। संविधान में संशोधन करके इसके प्रयोग का विनियमित करना या इसके क्षेत्र को सीमत करना न तो संभव है और न ही उपयुक्त।[2] आयोग का मानना है कि ऐसे सभी अवसरों पर जब राज्यपाल को यह लगे कि अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह मानना उसके लिए संवैधानिक रूप से अनुचित है, तो उसे अपने मंत्रियों को सही मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित करने का हर संभव प्रयास करना चाहिए। उसे अपने विवेकाधिकार का प्रयोग केवल अंतिम हथियार के रूप में ही करना चाहिए।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1 पृष्ठ 122 पैरा 1.12.06
2. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ - 121 पैरा 4-13-03

राज्यपालों के लिये मार्ग निर्देश :-

राज्यपालों को उसके स्वविवेकाधिकारों का प्रयोग करने के संबंध में मार्ग निर्देश दिये जाने चाहिए या नहीं इस संबंध में अनेक विचार आयोग के सम्मुख आये। आयोग ने राज्यपाल की बहुप्रतिमा वाली भूमिका को ध्यान में रखते हुए तथा उसके कार्यों एवं कर्त्तव्यों के स्वरूप को देखते हुए मत व्यक्त किया कि यह न तो व्यवहार्य होगा और न ही वांथनीय होगा कि उसके द्वारा स्वविवेकाधिकार का प्रयोग करने के लिए मार्ग दर्शन के लिए मार्ग निर्देशों का एक सम्पूर्ण सेट तैयार किया जाए। ऐसी दो स्थितियाँ पैदा हो ही नहीं सकतीं जो एक जैसी हों तथा जिनमें राज्यपाल को अपने स्वविवेकाधिकार का प्रयोग करना पड़े। उनके राजनीतिक अर्थ भेद भी अवश्य ही अलग होंगे, लेकिन जिससे भावी परिस्थितियों का पता लगाना और ऐसी सभी परिस्थितियों के लिये व्यवस्था करना असंभव हो जाएगा। उसे इतनी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह जैसी परिस्थिति हो उसके अनुकूल अपने पूर्ण निर्णय का प्रयोग कर, संविधान के अनुरूप संसदीय प्रणाली के कानून और परम्पराओं की रक्षा कर सके।[1]

इस प्रकार से सरकारिया आयोग ने राज्यपाल के स्व विवेकाधिकार को बनाये रखने में विश्वास प्रकट किया और इन अधिकारों के प्रयोग करने हेतु किसी प्रकार के दिशा निर्देशों को भी स्वीकार नहीं किया। यह सर्वविदित तथ्य है कि राज्यपाल की कार्य प्रणाली को लेकर जो भी विवाद हुये हैं या केन्द्र व राज्य के मध्य, जो भी कटुतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुये हैं, उसके लिये राज्यपालों द्वारा पक्षपातपूर्ण ढंग से अपने स्वविवेकाधीन अधिकारों का प्रयोग करना है। विशेष रूप से मुख्यमंत्री की नियुक्ति, मंत्रिपरिषद की बर्खास्तगी, अनुच्छेद 356 का प्रयोग तथा विधानसभा भंग करने के सन्दर्भ में राज्यपाल द्वारा केन्द्रीय सरकार के हित रक्षण में ही स्वविवेक का प्रयोग किया गया है। आयोग का यह कहना कि अपने इस अधिकार का प्रयोग राज्यपाल को अन्तिम हथियार के रूप में करना चाहिए। यह तभी संभव है जब कि केन्द्रीय सरकार राज्य में अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिये राज्यपाल का प्रयोग न करे या फिर राज्यपाल पद पर इतने चरित्रवान और निष्पक्ष व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय जो पद की गरिमा बनाये रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हों और जिन्हें भविष्य में किसी राजनीतिक पद की या सक्रिय राजनीति में जाने की कोई महत्वाकांक्षा न हो।

---

1. सरकारिया कमीशन रिपोर्ट भाग-1- पृष्ठ 124 पैरा 4.115.06

अन्नत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि आयोग की सिफारिशों के उपरान्त भी राज्यपाल पद का राजनीतिक दुरूपयोग हुआ है और केन्द्र ने राज्यपालों के माध्यम से राज्य की राजनीति व प्रशासन में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि आयोग की सिफारिशों के अनुरूप केन्द्र तथा राज्यपालों द्वारा व्यवहार करने के उदाहरण संख्या में बहुत कम हैं तथापि यह कहा जा सकता है कि गहन अन्धकार में आशा की एक किरण ही प्रकाश भरने के लिये पर्याप्त होती है, और यदि उस एक किरम का ही केन्द्र सरकार व राज्यपाल अनुगमन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो जायें तो विवाद की सभी सम्भावनाएं निर्मूल साबित होंगी।

अष्टम् अध्याय

निष्कर्ष

निष्कर्ष

पिछले अध्ययों में किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि संविधान लागू होने के समय से ही राज्यपाल का पद विवाद का विषय बना है, विशेष रूप से जहाँ पर उन्होंने स्वविवेक का प्रयोग अपने संवैधानिक कर्त्तव्य के निष्पादन में किया है। यह विवाद विविध आयामों सहित 1967 के पश्चात् अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया, जब अनेक राज्यों में विपक्षी दलों या गठबन्धन सरकारों का गठन हुआ। ऐसी स्थिति में राज्यपालों ने संवैधानिक प्रावधानों का पक्षपात पूर्ण ढंग से प्रयोग किया। परिस्थिति तब और दयनीय हो गई, जब केन्द्र में सत्ताधारी दल चाहे वह कांग्रेस पार्टी, जनता पार्टी या विभिन्न दलों की गठबन्धन सरकार हो, सबने राज्यपाल पद का अपने दलीय स्वार्थों की पूर्ति हेतु दुरूपयोग किया है।

राज्यपाल पद के दुरूपयोग से जुड़े विवादों के कारण ही, समय-समय पर इस पद को समाप्त करने की माँग होती आ रही है। 1984 में आन्ध्र प्रदेश की तेलगू देशम् सरकार की, राज्यपाल द्वारा बर्खास्तगी के कारण, तेलगू देशम् पार्टी इस पद को समाप्त करने की पक्षधर हो गयी। सरकारिया आयोग की प्रश्नावली के उत्तर में भी, आन्ध्रप्रदेश सरकार ने राज्यपाल पद समाप्त करने की माँग की थी। अकाली दल के नेता श्री प्रकाश सिंह बादल ने भी राज्यपाल पद समाप्त करने की माँग की थी। सरकारिया आयोग के सुझावों पर विशेष चर्चा का उत्तर देते हुये, केरल के मुख्यमंत्री श्री ई. के. यननार ने 25 अप्रैल, 1988 को कहा कि समय आ गया है कि राज्यपाल पद समाप्त कर देना चाहिए। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल सरकार ने भी सरकारिया आयोग की प्रश्नावली का उत्तर देते हुए राज्यपाल पद की समाप्ति की माँग की थी। पश्चिम बंगाल राज्य सरकार का कहना था कि यदि राज्यपाल का पद बनाये रखना है तो उसे केवल कुछ 'सांकेतिक कार्य' ही दिये जाने चाहिए तथा उसे केवल मंत्रिपरिषद की सलाह से ही कार्य करना चाहिए। सी.पी. आई (एम) का भी कहना था कि विदेशी शासन की विरासत में मिला राज्यपाल पद के स्थान पर वैकल्पिक व्यवस्था की जानी चाहिए।

राज्यपाल पद की समाप्ति की माँग नयी नहीं है। 16 अप्रैल, 1974 को तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के करुणानिधि ने भी विधान सभा में प्रस्ताव प्रेषित कर राज्यपाल पद की समाप्ति की माँग उठाई थी।

परन्तु राज्यपाल पद की समाप्ति की माँग उचित नहीं है। केन्द्र का यह दायित्व है कि वह राज्यों को अव्यवस्था के समय, सुरक्षा प्रदान करें। राज्यपाल पद की समाप्ति संविधान में एक शून्य (Void) उत्पन्न कर देगा। राज्यपाल राज्य सरकार को सलाह व सहायता देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, वह प्रशासन व जनता तथा केन्द्र व राज्य के मध्य महवपूर्ण सम्पर्क सूत्र का कार्य करता है। कई राज्यों के राज्यपालों ने ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। राज्य के मुख्यमंत्रियों व जनता ने उनके इन कार्यों की प्रशंसा की है। उदाहरणार्थ धर्मवीर, आयंगर, प्रो० नुरूल हसन, बी० के० नेहरू व सिद्धार्थ शंकर रे आदि राज्यपाल पद की महत्ता निर्धारित करने के लिए आवश्यक है कि राज्यपाल की राज्य सरकार व केन्द्र सरकार दोनों के लिए उपयोगिता का अध्ययन किया जाय।

संसदीय शासन व्यवस्था में राज्यपाल सामान्य काल में संवैधानिक प्रमुख हैं, परन्तु वह शक्तियों का सुरक्षा कोष भी हैं जिसमें मंत्रिपरिषदीय संकट के समय, समस्त शक्तियाँ उसमें निहित हो जाती हैं। संवैधानिक प्रमुख के रूप में में भी उसे सक्रिय व सावधान रहना पड़ता है क्योंकि किसी भी समय उसे स्वविवेक व व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना पड़ सकता है।

संविधान के अनुसार मुख्यमंत्री व मंत्रिपरिषद, राज्यपाल के 'प्रसादपर्यन्त' पद पर कार्य करते हैं। राज्यपाल की अनुपस्थिति में मुख्यमंत्री को कौन नियुक्त करेगा विशेष रूप से उन परिस्थितियों में जब किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होगा। राज्यपाल की अनुपस्थिति में यह पूरी आशंका है कि मुख्यमंत्री किसी भी शक्ति का पक्षपातपूर्ण एवं मनमाने ढंग से असीमित प्रयोग करेगा।

यदि राज्यपाल का पद नहीं रहेगा तो, विधान सभा का अधिवेशन आहूत करने, सत्रावसान करने और विधान सभा भंग करने की शक्ति का प्रयोग कौन करेगा। इस सम्बन्ध में यह तर्क दिया जा सकता है कि ये कार्य मुख्यमंत्री करेगा, परन्तु मुख्यमंत्री सदन को आहूत करने में रुचि नहीं लेगा, यदि उसे सदन में बहुमत का समर्थन खो देने की आशंका हो। इसके अतिरिक्त राज्यपाल उस समय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जब सत्ताधारी दल सदन में बहुमत खो दे एवं वैकल्पिक सरकार के गठन की आवश्यकता हो। इसके अतिरिक्त अस्थिर गठनबन्धन सरकार के समय में भी राज्यपाल महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। एक सम्भावना और है कि यदि राज्यपाल न हो और मुख्यमंत्री राज्यपाल पद के कार्य सम्पादित करें तो वह अपनी रूचि के विरुद्ध विधेयकों को अनुमति नहीं देगा तथा ऐसे

अध्यादेश भी जारी कर सकता है जिससे उसकी स्थिति और शक्तिशाली हो जाये। राज्यपाल द्वारा विधेयकों को आरक्षित करने व अध्यादेश जारी करने या उससे मना करने पर राज्य सरकार की अनुचित नीतियों पर तो अंकुश लगता ही है, साथ ही साथ गलत नीतियों पर राज्य सरकार को पुनर्विचार करने को विवश भी करता है।

न्यायिक क्षेत्र में राज्यपाल को क्षमादान की शक्ति प्राप्त है। यदि इस शक्ति का प्रयोग मुख्यमंत्री पर छोड़ दिया जाय तो राजनीतिक व्यक्ति होने के कारण बहुत सम्भव है कि वह अपने दल से सम्बन्धित या अमीर या प्रभावी व्यक्ति को क्षमादान अथवा उसकी सजा को कम कर दे। इसके अतिरिक्त राज्यपाल की अनुपस्थिति में केन्द्र को राज्य प्रशासन की असफलता सम्बन्धी रिपोर्ट भेजने वाला भी कोई न होगा।

राज्यपाल उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये नामों का पैनल राष्ट्रपति को भेजता है। यह कार्य यदि मुख्यमंत्री करेगा तो बहुत सम्भव है कि न्यायाधीश पद का भी राजनीतिकरण हो जाये। राज्य सचिवालय के अधिकारी राज्यपाल के नाम पर प्रशासन का संचालन करते हैं। सचिवालय के सचिव, संयुक्त सचिव, उपसचिव, सहायक सचिव आदि, राज्य सरकार के सचिव हैं, न कि मंत्रियों व मुख्यमंत्री के । उनके सेवा सम्बन्धी मामलों में राज्यपाल अन्तिम सत्ता है। यदि यह शक्ति मुख्यमंत्री को प्रदान की गई तो, ये अधिकारी एक राजनीतिक व्यक्ति के इशारे पर कार्य करने के लिए विवश होंगे।

राज्यपाल के उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्यों के कारण ही सम्भवत: अशोक कुमार सेन ने कहा था कि, हमारे संविधान का कभी यह आशय नहीं था कि राज्यपाल का पद केवल अलँकारिक हो। राज्य में संवैधानिक सरकार के संचालन हेतु राज्यपाल वह धुरी प्रदान करता है, जिसके चारों तरफ राज्य प्रशासन घूमता है। राज्यपाल केन्द्रीय सरकार का राज्य सरकारों के मध्य स्थायी सम्पर्क सूत्र बनाता है। वह अपने पद को उस यंत्र के रूप में साकार करता है, जिसके माध्यम से राज्य सरकार संविधान के अनुरूप चलायी जा सके।'' इसी प्रकार पूर्व राज्यपाल श्री प्रकाश ने भी मत व्यक्त किया है कि राज्यपाल का पद बनाये रखना चाहिए।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने हेतु गठित सरकारिया आयोग ने राज्यपाल की भूमिका पर विस्तृत विचार किया तथा केवल तीन राज्यों ने इस पद को समाप्त करने की माँग की। सरकारिया

आयोग ने भी इस पद को बनाये रखने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त यह ध्यान रखना होगा कि किसी पद पर आसीन व्यक्ति यदि गलत व्यवहार करता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पद की उपयोगिता ही समाप्त हो गयी है। 25 नवम्बर, 1949 को डा० अम्बेडकर ने कहा था, ''मैं महसूस करता हूँ कि संविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि वे लोग, जिन्हें संविधान को अमल में लाने का काम सौंपा जाए, खराब निकलें, तो निश्चित रूप से संविधान भी खराब सिद्ध होगा। दूसरी ओर संविधान चाहे कितना भी खराब क्यों न हो, यदि वे लोग जिन्हें संविधान को अमल में लाने का काम सौंपा जाए, अच्छे हों तो संविधान अच्छा सिद्ध होगा। जब तक संसदीय सरकार की व्यवस्था है तब तक राज्यपाल का पद समाप्त करना कठिन कार्य है, क्योंकि वह राज्य का संवैधानिक प्रमुख है यदि मुख्यमंत्री को राज्याध्यक्ष बना दिया गयो तो बहुत सम्भव है कि वह निरंकुश हो जाये। राजनीतिक व्यक्ति होने के कारण उसका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण होगा, अत: वह जनता की आँख व कान नहीं बन सकता है।

राज्यपाल राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करता है। साध ही साथ उसे कुछ विवेकाधीन अधिकार भी प्रदान किये गये हें। इन विवेकाधीन अधिकारों का प्रयोग करने में ही राज्यपाल केन्द्र का एजेन्ट होने या केन्द्र के निर्देशन में कार्य करने का आरोपी बनता है। केन्द्र ने भी 1967 के पश्चात् राज्यपालों की नियुक्ति करने में इस तथ्य को ध्यान में रखा है। प्राय: केन्द्रीय हस्तक्षेप के भय के कारण ही राज्यों ने कुछ राज्यों के राज्यपाल नियुक्त होने वाले व्यक्तियों का विरोध किया है। 1967 के पश्चात् कांग्रेस का कई राज्यों में प्रभुत्व समाप्त हो गया। कांग्रेस दल ने राज्यों में अपने विश्वासपात्र व्यक्यिों को राज्यपाल पद पर नियुक्ति करके, राज्यों में विपक्षी दलों व गठबन्धन सरकारों को गिराने एवं दल-बदल कराने में उनका प्रयोग किया है। कांग्रेस के पश्चात्, जनतापार्टी सरकार सत्ता में आई तो मोरारजी देसाई ने भी विस्मृत गाँधीवादियों को इस पद पर नियुक्त करके अपने विश्वास पात्रों को पद प्रदान करने की परम्परा का अनुगमन किया। जनता दल के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने तो इसकी चरम सीमा का उल्लंघन करते हुए केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ, सभी राज्यों के राज्यपालों से त्यागपत्र माँग लिया। इस सम्बन्ध में श्री पी.वी. नरसिंहाराव प्रसंशा के पात्र हैं, जिन्होंने केन्द्र में सत्ता सम्हालने के पश्चात् पूर्व सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों को पद से नहीं हटाया। बाद में भाजपा के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार ने भी नरसिंहाराव का अनुगमन किया। राज्यपालों की नियुक्ति से जुड़ा विवाद यह है कि राज्य के मुख्यमंत्रियों, विशेष रूप से विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों से राज्यपाल

की नियुक्ति से पूर्व परामर्श नहीं किया जाता है। दूसरा तथ्य यह है कि ऐसे नियुक्त किये गये राज्यपाल राजनीतिज्ञ होते हैं जो अपने पद से हटने के पश्चात पुनः सक्रिय राजनीति में लौट जाते हैं। अतएव पद पर रहते हुए वे इसी उद्देश्य से पक्षपात पूर्ण ढंग से कार्य करते हैं। इस सम्बन्ध में विवाद को दूर करने के लिये आवश्यक है कि राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों से प्रभावकारी सलाह ली जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु, संविधान में आवश्यक संशोधन किया जाय, जैसा कि सरकारिया आयोग ने सूझाव दिया है । हाल ही में प्रारम्भ (16 नवम्बर 2001) हुई, ''अन्तर्राज्यीय परिषद'' की बैठक में सरकारिया आयोग की सिफारिशों पर व्यापक चर्चा हुयी, इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्री से सलाह करने को बाध्यकारी बनाया जाय, तथा राज्यपाल पद पर सक्रिय राजनीतिज्ञों की नियुक्ति नहीं की जानी चाहिए। परन्तु राजनीतिज्ञों व लोक सेवकों, दोनों ही वर्गों के राज्यपालों ने अपने क्रिया कलापों से स्वयं को विवाद का विषय बनाया है। उदाहराणार्थ- जी.डी. तपासे (राजनीतिज्ञ) रामलाल (राजनीतिज्ञ) जगमोहन (लोक सेवक) रोमेश भण्डारी (लोक सेवक) कृष्ण पाल सिंह (राजनीतिज्ञ) आदि। इस सम्बन्ध में उचित यही होगा कि न तो सक्रिय राजनीतिज्ञ और न ही लोकसेवा में कार्यरत व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाय। किसी राजनीतिज्ञ के राजनीतिक जीवन में, राज्यपाल का पद अन्तिम सोपान के रूप में प्रदान किया जाना चाहिए एवं ऐसे अवकाश प्राप्त लोक सेवकों को तो राज्यपाल पद पर बिल्कुल नियुक्त नहीं करना चाहिए. जो अपने सेवाकाल में किसी न किसी कारण विवादित रहे हैं, जैसे उत्तर प्रदेश में नियुक्त राज्यपाल रोमेश भण्डारी पूर्व में त्रिपुरा व गोवा के राज्यपाल के रूप में विवादित हो चुके थे। यही नहीं अपने लोक सेवा के काल में भी वह अपनी निरेकुश शैली की वजह से आलोचना के केन्द्र थे। इसी प्रकार भूतकाल में विवादास्पद कार्यकाल वाले राज्यपालों को पुनः नियुक्ति नहीं देनी चाहिए। जैसे कि एम. चेन्ना रेड्डी तमिलनाडु के राज्यपाल के रूप में विवादित होने से पहले उत्तर प्रदेश व राजस्थान के राज्यपाल के रूप में भी विवादित हो चुके थे। राज्यपाल समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए। यह प्रतिष्ठा उसने चाहे समाज सेवा, अर्थशास्त्री, शिक्षाविद, कानून वेत्ता, न्यायाधीश या राजनीतिक चिन्तक (कार्यकर्त्ता नहीं) के रूप में प्राप्त की हो। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि इन व्यक्तियों को संविधान का कार्यकारी ज्ञान भी प्राप्त होना चाहिए।

राज्यपाल के पद से सम्बन्धित राष्ट्रपति के 'प्रसाद पर्यन्त' सिद्धान्त भी पिछले दशक में विवाद का विषय रहा है। इसी सिद्धान्त का दुरूपयोग करके, राज्यपालों को निश्चित कार्यकाल से पूर्व हटाया

गया, या उन्हें स्थानात्तरित किया गया है। इस तरह राज्यपाल सबसे कम सुरक्षित संवैधानिक पदाधिकारी है। भारत के राष्ट्रपति को पाँच वर्ष के निश्चित कार्यकाल से पूर्व अनुच्छेद 61 के अन्तर्गत केवल संविधान उल्लंघन के आधार पर महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है। इसी प्रकार उच्च एवं उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को भी संविधान में निहित प्रक्रिया द्वारा ही उनकी अक्षमता, और कदाचार के साबित होने के आधार पर महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है। इसी प्रक्रिया से भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक तथा निर्वाचन आयुक्त को पद से हटाने का प्रावधान संविधान में निहित है। यहाँ तक कि लोक सेवा आयोग के सदस्य व अध्यक्ष को भी साबित कदाचार के आधार पर ही हटाया जा सकता है। यदि देखा जाय तो राज्य के अध्यक्ष-राज्यपाल को उसके पद से हटाना बहुत आसान है जबकि यदि एक सरकारी चपरासी को भी पदमुक्त करना हो तो उसे कारण बताने के साथ ही निश्चित प्रक्रिया के आधार पर ही हटाया जा सकता है। पदानुक्रम में वरिष्ठ एक उच्च संवैधानिक पदाधिकारी (राज्यपाल) को कार्यकाल की सुरक्षा न प्रदान करना वास्तव में भारतीय संविधान की विडम्बना ही कही जा सकती है। इसी असुरक्षा की भावना से भी राज्यपाल केन्द्र के हाथों की कठपुलती बनने या राज्य में दुर्भावना पूर्ण कार्यवाही करने से नहीं हिचकते हैं। इसलिये राज्यपाल पद से सम्बन्धित विवादों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि राज्यपाल के पद को सुरक्षा प्रदान की जाय एवं उसे उसके निश्चित कार्यकाल (5 वर्ष) से पूर्व केवल तभी हटाया जाय, जब उसके विरुद्ध कदाचार व अकर्मण्यता का आरोप सिद्ध हो गया हो। साथ ही उसे उसके पद से हटाने के लिए संविधान सभा में विचारित महाभियोग प्रक्रिया का पालन किया जाय या फिर भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 में उल्लिखित महाभियोग प्रक्रिया या संघलोक सेवा आयोग के सदस्यों के हटाने हेतु अनुच्छेद 317 में वर्णित प्रक्रिया द्वारा ही उसे उसके पद से हटाया जाय। यदि संविधान में इस प्रकार संशोधन करके राज्यपाल को पदमुक्त करने की व्यवस्था करना सम्भव न हो, तो सरकारिया आयोग की इस सम्बन्ध में की गयी सिफारिश को व्यवहारिक रूप प्रदान करके भी इस दिशा में उपयोगी कार्य किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त राज्यपाल पद को स्वतंत्रता प्रदान करने हेतु, आवश्यक है कि पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात्, उसे सक्रिय राजनीति में जाने से प्रतिबन्धित किया जाय एवं अवकाश प्राप्ति के पश्चात् उसे समुचित सुविधाएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाय। हमने अपने पिछले अध्यायों के

अध्ययन में देखा कि बहुत से असन्तुष्ट राजनीतिज्ञों को राज्य की राजनीति से दूर रखने के लिए राज्य से बाहर राज्यपाल के रूप में नियुक्ति दे दी गयी। ऐसे व्यक्ति राज्यपाल पद पर रहते हुए स्वयं को राज्य की राजनीति से दूर न रख सके और अनुकूल अवसर प्राप्त होते ही, पद से त्यागपत्र देकर सक्रिय राजनीति में लौट गये। अतः 16 नवम्बर, 2001 को अन्तर्राज्यीय परिषद में राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने इस सम्बन्ध में उचित निर्णय लिया है कि राज्यपालों को द्वितीय कार्यकाल के लिये, योग्य समझा जाय और कार्यकाल की समाप्ति की पश्चात् सक्रिय राजनीति में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगाया जाये, परन्तु राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति पद का वह उम्मीदवार हो सकता है। यद्यपि अभी तक ये सुझाव ही हैं और केन्द्रीय मंत्रिमंडल द्वारा अनुमति मिलने पर तथा संसद में पारित होने के पश्चात् ही अमल में लाये जा सकेंगे। वास्तव में यह सहमति सही दिशा में जाने के लिये सराहनीय कदम है। द्वितीय कार्यकाल का अवसर प्रदान करके राज्यपालों के मन से, इस आशंका को दूर किया जा सकेगा कि इस पद पर नियुक्ति के पश्चात शीघ्र ही उनके सार्वजनिक जीवन का अन्त हो जायेगा और सक्रिय राजनीति में लौटने पर प्रतिबंध लगाने से ऐसी महत्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति इस पद पर नियुक्ति के इच्छुक नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के उच्च पदानुक्रम व निष्पक्ष भूमिका वाले पदों की अर्हता प्रदान करके राज्यपालों को अपने पद की गरिमा बनाये रखने की प्रेरणा मिलेगी।

राज्यपाल को राज्य में केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में और राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में दोहरी भूमिका के कारण संविधान के अन्तर्गत, अति महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। इस दोहरी विपरीत, स्थितियों में सन्तुलन बनाये रखने व परिस्थितियों का मूल्यांकन करके वह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके इसलिए उसे कुछ विवेकाधीन शक्तियाँ भी प्रदान की गयी हैं। हमने अपने इस अध्ययन में यह देखा है कि राज्यपाल पद से जुड़े लगभग सभी विवाद तब उत्पन्न हुये हैं, जब राज्यपाल ने अपनी स्वविवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग किया है विशेष रूप से मुख्यमंत्री की नियुक्ति, पदच्युति, विधान सभा को आहूत करने, सत्रावसान व विधान सभा भंग करने के मामलों में। सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल इन सभी कार्यों को बिना किसी विवाद के सम्पन्न करता है परन्तु समस्या तब उत्पन्न होती हैं जब इन कार्यों हेतु राज्यपालों को स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ता है। स्वविवेकाधीन कार्यों से जुड़ी राज्यपालों की विवादित भूमिका के परिप्रेक्ष्य में कुछ दिशा निर्देशों का होना आवश्यक है। विचारणीय एवं महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि किसी विशेष परिस्थिति में कुछ निश्चित दिशा निर्देशों का

प्रयोग करना व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि राजनीति में परिस्थितियाँ एवं घटनाचक्र बदलते रहते हैं तथा पहले से तैयार सुझावों के आधार पर समय-समय पर उत्पन्न होने वाली समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता है। निः सन्देह इस क्षेत्र में एक दिशा निर्देश राज्यपाल को दिया जा सकता है कि संविधान के सन्दर्भ में अपनी भूमिका को उचित रूप से समझकर उसे कार्यवाही करना चाहिए। संघात्मक शासन प्रणाली की प्रजातांत्रिक व्यवस्था में उसे संवैधानिक प्रमुख के पद पर आसीन किया गया है। कई परिस्थितियाँ हैं जहाँ उसे विवेकाधीन कार्य करना है परन्तु विवेकाधीन शक्ति का प्रयोग उसका स्वयं का होना चाहिए जो समस्त तथ्यों के वास्तविक अवलोकन पर आधारित हो न कि भय व पक्षपात के आधार पर। अपने निर्णयों पर पहुँचने से पूर्व उसे जानना चाहिए कि संसार में केवल वही बुद्धिमान व्यक्ति नहीं है और यह अपेक्षाकृत अच्छा होगा कि वह आवश्यकता पड़ने पर दूसरों से सलाह ले। इसकी पूर्ति हेतु उसे बुद्धिमानी से अपने सलाहकारों का चयन करना होगा। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो उसी प्रकार के गलत निर्णय की पुनरावृत्ति होने की सम्भावना है जिस प्रकार फातिमा बीवी ने मई 2001 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री पद पर निर्वाचन के अयोग्य ठहराई गयी, जयललिता की नियुक्ति के समय किया। यदि वह संविधान विशेषज्ञों से परामर्श ले लेतीं तो उच्चतम न्यायालय की आलोचना से बच सकती थीं।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति व पदच्युति के विषय में यदि सरकारिया आयोग की सिफारिशों का पालन किया जाये, तो बहुत सीमा तक इस सन्दर्भ में उत्पन्न विवादों को दूर किया जा सकता है। राज्यपाल को बहुमत का परीक्षण विधान सभा कक्ष में ही कराना चाहिये एवं मंत्रिपरिषद को बहुमत प्राप्त है या नहीं इसका निर्णय सदन कक्ष में शक्ति परीक्षण करके ही करना चाहिए। किसी भी मंत्रिपरिषद को शक्ति परीक्षण का अवसर दिये बिना, बर्खास्त नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1998 में, उत्तर प्रदेश के मामले में हस्तक्षेप कर कल्याण सिंह की पुनः मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति से यह आशा की जा सकती है कि अब राज्यपाल, पूर्व की भांति मनमाने तरीके से मंत्रिपरिषद को आसानी से बर्खास्त नहीं कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में राज्यपालों को शक्ति परीक्षण के लिये ज्यादा समय नहीं देना चाहिए, क्योंकि इससे दल-बदल तथा राजनीतिक क्रय-विक्रय को प्रोत्साहन मिलता है। अतः राज्यपाल को अधिक से अधिक एक सप्ताह के अन्दर शक्ति परीक्षण करा लेना चाहिए। यदि कोई मुख्यमंत्री ऐसा करने से मना करता है, तो प्रथम दृष्टया उसे बहुमत का समर्थन खोने देने का प्रमाण मानकर बर्खास्त कर देना चाहिए।

केन्द्र द्वारा राज्यपालों का सर्वाधिक दुरूपयोग अनुच्छेद 356 के माध्यम से किया गया है। केन्द्र द्वारा अपने दल से भिन्न, राज्य सरकार को इसी अनुच्छेद का प्रयोग करके बर्खास्त किया गया। यदि राज्य में अपने दल की सरकार का पतन हुआ, तो राष्ट्रपति शासन लागू कर विधान सभा भंग की गयी जिससे राज्य में विपक्ष की सरकार न बन सके। जबकि विपक्षी राज्य सकार को बर्खास्त करके यदि केन्द्रीय दल की राज्य में सरकार गठन की सम्भावना थी, तो विधान सभा को केवल निलम्बित रखा गया। यहीं नहीं, राज्यों में राष्ट्रपति शासन केवल राज्यपाल की रिपोर्ट पर नहीं लगाया गया। वरन् केन्द्र द्वारा स्वयं, इस समबन्ध में पहल की गयी। जहाँ राज्यपाल ने रिपोर्ट दी है, उनमें से भी कई राज्यों में केन्द्र के निर्देशन में दी गयी। यदि किसी राज्यपाल ने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे उसके पद से हटा दिया गया। जैसा कि तमिलनाडु में सुरजीत सिंह बरनाला के साथ हुआ था। अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग करने का प्रयत्न प्रत्येक केन्द्रीय सरकार ने किया चाहे वह कांग्रेस रही हो, जनता पार्टी, जनता दल के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार या भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन सरकार। श्रीमती इन्दिरागाँधी के काल में इसका दुरूपयोग सम्भवत: इसलिये अधिक हो सका क्योंकि कांग्रेस का लोक सभा व राज्यसभा में बहुमत रहता था। साथ ही श्रीमती गाँधी राष्ट्रपति पद पर ऐसे ही व्यक्ति को निर्वाचित करवाती थीं, जो उनके इशारों पर कार्य कर सके। परन्तु कालान्तर में किसी एक दल की सरकार न बनने के कारण भी इस शक्ति का दुरूपयोग उतनी आसानी से करना सम्भव नहीं हो सका। भाजपा के नेतृत्व वाली राजग गठबन्धन सरकार को राज्यसभा में बहुमत का अभाव होने के कारण बिहार में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा को वापस लेना पड़ा। इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति के लिये यह एक अच्छी बात है। कि राष्ट्रपति पद पर ऐसे व्यक्ति आसीन हो रहे हैं जो भारतीय राजनीतिक परिदृश्य का केवल केन्द्रीय मंत्रिपरिषद की आँखों से अवलोकन नहीं करते वरन् स्वयं के ज्ञान व चिन्तन का सहारा लेकर ऐसे गम्भीर व विवादित विषयों पर अन्तिम निर्णय लेते हैं। यही कारण है कि राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायण ने अक्टूबर 1997 में उत्तर प्रदेश में तथा दुबारा सितम्बर 1998 में बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने सम्बन्धी केन्द्रीय मंत्रिमंडल की सलाह को पुनर्विचार के लिये लौटा दिया। इससे पूर्व जब कुछ राज्यपालों की रातनीति में अतिसक्रियता विवाद का कारण बन रही थी, तो राष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरमन ने राज्यपालों को पत्र लिखा और उनसे कहा कि वे एक वर्ष में दो बार से अधिक ग्रह नगर न जायें तथा जब भी जायें, तो दस दिन से अधिक न रहें एवं जाने से पहले

राष्ट्रपति को सूचित करे दें। यद्यपि यह पत्र राज्यपालों के लिए आदेश नहीं था, फिर भी उनके लिये अपनी कार्यप्रणाली सुधारने के लिये एक संकेत अवश्य था। इसके अतिरिक्त भ्रष्टाचार की आरोपी हिमाचल की राज्यपाल सुश्री शीला कौल को भी पद से हटाने में सचेत राष्ट्रपति का योगदान था। 1998 में भी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी की, उनके क्रिया कलापों के आधार पर पद से हटाने सम्बन्धी पत्र राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन द्वारा प्रधानमंत्री को लिखा गया था।

राज्यपाल पद से जुड़ी एक अन्य विवादास्पद भूमिका अनुच्छेद 356 के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत, राज्यपालों ने अनेक बार केन्द्रीय हस्तक्षेप को प्रभावी होने दिया है। इस अनुच्छेद का 1997 में जब बिना राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर व्यापक रूप में एक साथ कई राज्यों में प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया, तो न्यायालय ने हस्तक्षेप करने से मना कर दिया। था। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने 1994 में अपने ही फैसले को उलटते हुए निर्णय दिया कि यदि राष्ट्रपति शासन राजनीतिक दुर्भावना के आधार पर लगाया जाता है तो न्यायालय न केवल उसे अवैध घोषित कर सकता है, अपितु भंग की गयी विधान सभा को पुनर्जीवित भी कर सकता है। राष्ट्रपति शासन की उद्‌घोषणा के लिये राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को प्रेषित लिखित रिपोर्ट भी आवश्यक है। न्यायालय ने आगे कहा कि राष्ट्रपति शासन की उद्‌घोषणा करते समय विधान सभा भंग नहीं की जानी चाहिए, वरन् उसे निलम्बित रखना चाहिए एवं ससंद के अनुमोदन के पश्चात् ही उसे भंग करना चाहिए। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय के इस न्यायिक निर्णय से निश्चित ही अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग व राज्यपालों की विवादास्पद भूमिका पर प्रभावकारी नियंत्रण स्थापित होगा। न्यायालय की सक्रियता के कारण यद्यपि उचित व अनुचित का निर्धारण करने में सहायता मिली है, परन्तु भविष्य में आशंका भी उत्पन्न होती है कि प्रत्येक मामले, चाहे सही हो या गलत वह न्यायालय में घसीटा जायेगा, जिससे न्यायालय पर तो कार्य का बोझ बढ़ेगा ही साथ ही साथ न्यायिक निर्णय के इन्तजार में, समय पर उचित कार्यवाही करना भी सम्भव नहीं हो सकेगा।

अपने अध्ययन में हमने यह पाया है कि कुछ अति महत्वाकांक्षी व्यक्ति, जो राज्यपाल पर नियुक्त हुये हैं, उन्होंने स्वयं को राज्य में मुख्यमंत्री के समानान्तर सत्ता बनाने में कोई संकोच नहीं किया है एवं तब दोनों ही प्रमुखों- (राज्य प्रमुख व सरकार प्रमुख) के मध्य सम्बन्धों में कडुवाहट

आयी है। ऐसे राज्यपालों ने जान बूझकर राज्य सरकार की सलाह के विपरीत कार्य किया है। इस सम्बन्ध में आन्ध्रप्रदेश में कुमुदबेन जोशी व एन. टी. रामाराव, केरल में रामदुलारी सिन्हा व ई. के. नयनार, बिहार में गोविन्द नारायण सिंह व भगवत झा आजाद, तमिलनाडु में एम. चेन्ना रेड्डी व जयललिता, उत्तर प्रदेश में रोमेश भण्डारी व मायावती आदि के मध्य उपजे तनावपूर्ण सम्बन्ध व विवाद सर्वविदित हैं। इन राज्यपालों ने विधेयकों के आरक्षण से लेकर विश्वविद्यालय के कुलपतियों की नियुक्ति व अध्यादेश प्रख्यापन के सम्बन्ध में, या तो सलाह को अस्वीकार किया है या विलम्बकारी तरीके को अपनाया है। इन राज्यपालों ने न केवल राज्य की राजनीति व प्रशासन में हस्तक्षेप व सक्रिय भागीदारी की है, वरन् मुख्यमंत्रियों को नीचा दिखाने व सरकार के कार्यों के मध्य बाधा उत्पन्न करने में भी कोई अवसर हाथ से नहीं जाने दिया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति भारतीय राजनीति में उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में राज्यपाल पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति में दृढ़ इच्छा शक्ति होना चाहिए कि वह स्वयं को मुख्यमंत्री के साथ सत्ता प्रतिस्पर्धा में लिप्त होने से रोक सके। यद्यपि कुछ मामलों में, उसे मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिये बाध्य नहीं किया गया है, परन्तु यदि वह उन कार्यों में भी मंत्रिपरिषद की उचित सलाह को स्वीकार कर ले और यदि सलाह उचित नहीं है तो मंत्रिपरिषद को सही दिशा अपनाने के लिये प्रेरित करे। राज्यपाल यदि केवल अन्तिम उपाय के रूप में स्वविवेक का प्रयोग करे तो इस प्रकार की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा को रोका जा सकता है।

राज्यपालों की भूमिका में एक नया आयाम उसकी विधान सभा सत्र आहूत करने व विधान सभा भंग करने की शक्ति ने प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में लगभग एक सी परिस्थितियों में अलग-अलग राज्यपालों ने अलग-अलग मापदण्ड अपनाये हैं। यही नहीं एक ही राज्यपाल ने दुर्भावनावश एक सी परिस्थिति में अलग-अलग कार्यवाही की है। इस सम्बन्ध में सरकारिया आयोग की सिफारिशें काफी महत्वपूर्ण हैं। यदि उनका अनुपालन, किया जाये, तो इस क्षेत्र में जुड़े विवादों को समाप्त करने या कम करने में आशातीत सफलता प्राप्त हो सकती है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्यपाल की भूमिका सर्वदा विवादास्पद ही रही है। कई राज्यपाल ऐसे हुये हैं, जिन्होंने अपनी अच्छी छाप छोड़ी है। उन्होंने केवल केन्द्र के इशारे पर कार्य नहीं किया है। इस सम्बन्ध में सुरजीत सिंह बरनाला का उदाहरण, सराहनीय है, जिन्होंने तमिलनाडु

के राज्यपाल पद पर रहते हुए केन्द्र की इच्छा के अनुरूप राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल होने की रिपोर्ट नहीं दी। धनिक लाल मंडल ने ओमप्रकाश चौटाला के अल्पमत होने पर शक्ति परीक्षण का आदेश दिया और विधान सभा भंग करने की सिफारिश को अस्वीकार किया। चौटाला द्वारा आदेश न मानने पर, राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। घर्मवीर, पावटे, और श्रीमन नारायण ने राज्य के प्रशासनिक और आर्थिक विकास में पूर्ण योगदान दिया। सिद्धार्थ शंकर रे ने पंजाब में आतंक्वादी गतिविधियों को रोकने में सक्रिय सहयोग किया। प्रो० नूरूलहसन एक आदर्श राज्यपाल के रूप में गिने जायेंगे। ये सभी राज्यपाल 1967 के बाद की विषम परिस्थितियों में भी, स्वयं को प्रभावी बनाये रखने में सफल रहे हैं। राज्यपालों के सम्बन्ध में उपजे विवादों को कम करने की दिशा में कुछ कदम केन्द्र सरकार ने भी उठाये हैं। जैसे नरसिंहराव के प्रधानमंत्री बनने पर वी.पी. सिंह सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों को हटाया नहीं गया और यह पहला अवसर था जब केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होने पर ऐसा नहीं किया गया। भाजपा की राजग सरकार ने भी सत्ता में आते ही एक मुश्त राज्यपालों का परिवर्तन नहीं किया है और जैसा कि उनका दावा है कि अब तक साढ़े तीन साल के कार्यकाल में उस सरकार ने राज्य सरकारों की मंजूरी के बिना एक भी राज्यपाल की नियुक्ति नहीं की है। यह वास्तव में प्रशंसनीय व अनुकरणीय कदम है, परन्तु इस तरह के कदम भविष्य में भी अपनाये जायेंगे यह कहना अति दुष्कर है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में राज्यपाल का पद अति महत्वपूर्ण है। संविधान निर्माताओं ने उसे केवल अलंकारिक स्वरूप ही नहीं प्रदान किया है वरन् संविधान के परिरक्षण, संरक्षण व प्रतिरक्षण हेतु कुछ परिस्थितियों में उसे सक्रिय कार्यकर्ता की भूमिका भी प्रदान की है। पद का दुरूपयोग तभी रोका जा सकता है जब भारत में ऐसी राजनीतिक संस्कृति का जन्म एवं विकास हो, जिसमें केन्द्र व राज्यों के स्तर पर विभिन्न राजनीतिक दलों की सरकारें सहयोगात्मक रूप से कार्य कर सकें। कितने ही सुझाव, दिशा निर्देश व परम्पराएं विकसित हो जायें, अन्त में सब कुछ कार्य करने वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है। जैसा कि राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, यदि लोग जो चुनकर आयेंगेष योग्य चरित्रवान और ईमानदार हुए तो, वे दोषपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम बना देंगे। यदि उनमें इन गुणों का अभाव हुआ तो संविधान देश की कोई मदद नहीं कर सकता। आखिरकार, एक मशीन की तरह संविधान भी निर्जीव है। इसमें प्राणों का संचार उन व्यक्तियों के द्वारा

होता है, जो इस पर नियंत्रण करते हैं तथा इसे चलाते हैं। यह कथन, राज्यपाल पद के सन्दर्भ में पूर्णतया सत्य है। इसे निर्विवाद बनाये रखने के लिये, राज्यपाल पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति तथा केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल दोनों को दृढ़ प्रतिज्ञ होना पड़ेगा कि वे किसी भी पक्षपातपूर्ण, दुर्भावनापूर्ण व अनुचित कार्यवाही में लिप्त न होंगे।

SELECTED BIBLIOGRAPHY

CONSTITUTIONAL DOCUMENTS

1. Constituent Assembly Debates (1947-49) 51 tro 67 (Lok Sabha)

2. The Government of India Act 1935.

3. The Draft constitution of India, 1949.

4. The Present Constitution of India.

5. Proceedings of Lok Sabha Debates (1959 and 1967 to 1970), New Delhi.

REPORTS

1. The Report of centre State Relations Inquiry committee. 1971 (Rajamannar Committee Report)

2. The Report of Sarkaria commission on centre state Relations. 1988, (Part I).

3. Report of the study team of A.R.C. on centre state Relationship (1968, New Delhi).

4. West Bengal Governments Documents, 1977

5. Baghvan Sahay Committee Report (1970)

TABLE OF IMPORTANT CASES

1. Bijayananda V. President of India AI.R. 1974 ori 52.

2. Dr. Hare Krishna Mehtab v. C.M. Orrisa A.I.R. 1976, 175.

3. K. K Aboo V Union of India, A. I. R. 1965, Ker., 229

4. Rao Birender Singh V. Union of India A. I. R. 1`968, S.C. 441 (Punjab).

5. State of Rajasthan V. Union of India A. I. R. 1977 S.C. 1361.

6. Sunder Lal Patwa V. Union of India, A. I. R. M.P., 1993.

7. S. R. Bommai V. Union of India A.I.R. S.C. 1994 Kant.

8. Narendra Kumar Singh Gaur Vs. Union of India & Others UP LBEC 1998, Vol-1 p. 536.

9. Jagdambika Pal Vs. Union of India & Other UPLBEC 1998 Vol-1. p. 557.

10. Hari Shankar Jain & Others Vs. Union of India & Others 1996 UPLBEC, Vol.-4, p. 2515.

11. K. Nagraj & Others Vs State of Andhra Pradesh & Others 1985 I SCC. p 523.

12. T. Venkata Reddy Vs. State of Andhra Pradesh 1985, 3 SCC, 198.

13. Wadhwa Vs. State of Bihar AIR 1987, SC 579.

14. M. Kiran Babu Vs. Govt. of Andra Pradesh AIR 1986, 275.

15. State of Punjab Vs Satyapal Dang & others, AIR. 1969, SC. 903.

16. Prof. Pratima Asthana Vs Chancellor, Gorakhpur University, 1991, UPLBEC, Vol-1. p. 448.

17. Prof. B. S. Rajput, Vs. Chancellor & others UPLBEC, 1995, Vol-2. p. 818.

JOURNALS AND MAGAZINES

1. Journal of constitutional and parliamentary studies, New Delhi.

2. Journal of Indian Political science, Delhi University.

3. Asian Recorder, New Delhi.

4. Mainstream, New Delhi.

5. Economic & Politial weekly

समाचार पत्र व पत्रिकायें

1. भारत (हिन्दी और अंग्रेजी)

2. इंडिया टूडे (हिन्दी और अंग्रेजी मासिक पत्रिका)

3. दिनमान (हिन्दी)

4. संसदीय पत्रिका

5. दि स्टेट्मैन (ईयर बुक) (अंग्रेजी)

6. माया

7. धर्मयुग

8. द वीक (अंग्रेजी)

9. टाइम्स आफ इंडिया (दिल्ली, लखनऊ)

10. द हिन्दू (दिल्ली)

11 फ्रन्टलाईन

12. दि टेलीग्राफ

13. हिन्दुस्तान टाइम्स (दिल्ली)

14. इंडियन ऐक्सप्रैस (दिल्ली)

15. दैनिक जागरण (इलाहाबाद)

16. जनसत्ता (दिल्ली)

17. राष्ट्रीय सहारा (लखनऊ)

18. नवभारत टाइम्स (लखनऊ, दिल्ली)

19. अमृत प्रभात पत्रिका (कलकत्ता)

20. अमर उजाला

BOOKS IN ENGLISH

(1) Austin, Granville — Indian Constitution; Cornerstone of a Nation,
Claredon, Oxford Press, 1972.

(2) Basu, D.D. — Commentary on the Constitution of India Vol, IV, Calcutta, S.C. Sarkar and Sons, 1968.

(3) Chanda Asok — Ferderalism in India A Study of Union State Relations-
George Allens And Unwin Ltd. 1965.

(4) Dhawan, Rajeev — President's Rule in India,
Bombay; N.M. Tripathi Pvt. Ltd., 1979.

(5) Chabra, Harinder Kumar — State Politics in India (A Study of centre State Relations)
Surjeet Publications, Delhi 1977.

(6) Chatterjee, Sibranjan — Governor's Role in the Indian Constitution,
Mittal Publications, New Delhi, 1992.

(7) Choudhary, Valmiki — President and the Indian constitution
Allied Pubishers Pvt. Limited. 1985.

(8) Dahiya, M.S. — Office of the Governor in India
Sundeep Parkashan, 1979. (New Delhi)

(9) Das, HariHar & Sanyukt Mahapatra — Centre State Relations in India,
Ashish Publishing House, New Delhi 1986.

(10) Dua, B.D. — Predintial Rule in India 1950-1974. A Study in Crisis Politics,
S. Chand & Comany Ltd. New Delhi, 1979.

(11) Eddy, J.P. & F.N. Lawtan, — India's New Constitution A Survey of the Government of India Act-1935.
Macmillan & Co., London

(12) Fadia, B.L. — State Poitics In IndiaVol. I.
Radiant Publishers New Delhi, 1984.

(13) Gani, H.A. — Governor in the Indian Constitution-Certain controversies and Sarkaria Commission

Ajanta Publications (India) 1990.

(14) Gehlot, N.S. — State Governors in India Trends & Issues Gitanjali Publishing House, New Delhi; 1985.

(15) Grover, Virender (Edt.) — Federal System, State Autonomy and Centre State Relation in India-Political System in India.

Deep & Deep Publications, New Delhi.

(16) Gupta, U.N. — Indian Ferderalism and Unity of Nations Allahabad, Vohara Pubishing House, 1968.

(17) Iqbal Narayan — State Politics in India.

Meenakshi Prakashan, Meerut, 1976.

(18) Iqbal Narayan — Twilight on Down; Political Changes in India (1967-71). Agra; Shiv Lal and Sons, 1972.

(19) Jain, H.M. — Union Executive,

Chaitanya Publishing Hosue, Allahabad 1969.

(20) Jain, M.P. — Indian Constitutional Law,
N.M. Tripathi Pvt. Ltd. Bombay, 1987.

(21) Kashyap, S.C. — The Politics of Defections-A Study of State of Politics in India.
National Publishing House, Delhi,1969.

(22) Kashyap, S.C. — Union State Relations in India,
Institute of Constitutional and Parliamentary Studies, Delhi, 1969.

(23) Keith, A.B. — A constitutional History of India (Allahabad) Central Book Depot. 2nd Edt. 1961.

(24) Maheshwari, S.R. — President's Rule in India.
The Macmillan Comp. of India Ltd. Meerut 1977.

(25) Mathur, P.L. — Role of Governor in Non-Congress State, Rawat Publications, Jaipur, 1988.

(26) Pandey, - Chandra Bhushan — Governor, Preserver, Protector and Defender of the Constitution ?
Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 1999.

(27) Pylee, M.V. — Constitutional Government in India,
Asia Publshing House Bombay,1965.

(28) Rao, B. Shiva — The Framing of India's Constitution-A Study.
Indian Institute of Public Adminstration, New Delhi,1968.

(29) Rao, B. Shiva — The Farming of India's Constitution, Select Documents, Vol IV,
N.M. Tripathi, Pvt. Ltd. Bombay,1968.

(30) Sen, Ashok, K. — Role of Governor's in Emerging Pattern of Centre State Relations in India.
National Publshing House, Delhi, 1975.

(31) Siwach, J.R. — Politics of president's Rule in India, Institute of Advanced Study, Shimla, 1979.

(32) Siwach, J.R. — Dynamic of Indian Govenment and Politics.
Sterling Publishers Pvt. Ltd. New Delhi.

(33) Sahni, Sati — Centre State Relations
Vikas Publishing House Pvt. Ltd.

(34) Singh, Bhawani — Governor : Role Identification and Sarkaria Commissions
Printwell Jaipur 1991.

(35) Sinha, Binod Kumar — Governor as a factor of Indian Federalism Classical Publishing Company, New Delhi.

(36) Vekataraman, R. — My Presidential Years.

Rupa Publication, New Saradk, Delhi.

(37) Markandan, K.C. — Centre - State Relations (The perspective ABS Publications, Jalandhar.

(38) — The Governor-Sage or Saboteur.

Roli Books Internationals, Darya Ganj, New Delhi.

(39) Varadchari, V.K. — Governors in the Indian Constitution, Heritage Pubishers, New Delhi, 1980.

(40) Sharama, Sri Ram — A constitutional History of India MacMillan & Co. 2nd Edition.

(41) Sharma, Shri Ram — Constitional History of India. Macmillan & Co.

(42) Mukherjee, Panchanan — Indian Constitutional Documents edited.

(43) Santhanan, K. — Union state relations in India.

Asia Publishing House.

(44) Sri Prakasa — State Governoris in India.

Meenakshi Prakashan Meerut.

(45) Mahajan, Vidyadhar- — Select Modern Governments S. chand & Company.

हिन्दी में

1. सिवाच जे. आर. — भारत की राजनीतिक व्यवस्था, हरियाणा साहित्य अकादमी (चण्डीगढ़)
2. बसु, दुर्गा दास — भारत का संविधान – एक परिचय प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया, प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1989
3. बसु, दुर्गा दास — भारत की संवैधानिक विधि, प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1989।
4. शर्मा, राम अवतार यादव सुषमा — केन्द्र राज्य संबंध, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1986
5. कूरियन, के. मैथ्यू वर्गीस, पी एन. — केन्द्र राज्य संबंध एम. जी. वसानी द्वारा मैकमिलन इंडिया लिमिटेड के लिये प्रकाशित (दिल्ली) 1980
6. कश्यप, सुभाष — भारतीय राजनीति के नये मोड़- दल बदल राज्यों की राजनीति, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।
7. सईद, एस. एम. — भारतीय राजनीतिक व्यवस्था सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1992।
8. कोठारी, रजनी — भारत में राजनीति, ओरिएण्ट एंड लॉगमैन लिमिटेड, दिल्ली 1973।

9. जॉन्स मौरिस — भारतीय शासन एवं राजनीति,
सुरजीत प्रकाशन, दिल्ली।

10. कश्यप सुभाष — हमारा संविधान भारत की संविधान और संवैधानिक विधि
नेशनल बुकट्रस्ट, इण्डिया।

11. बी. एल. फाड़िया — भारत में लोक प्रशासन
साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा।

12. एम. वी. पायली — भारतीय संविधान एक परिचय
विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि० ।

13. पाण्डेय, जय नारायण — भारत का संविधान,
सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद

14. सुशीला कौशिक, (सं) — भारतीय शासन एवं राजनीति
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,

15. भारत का संविधान, (1990) — भारत सरकार, विधि व न्याय मंत्रालय विधायी विभाग, राजभाषा खण्ड नयी दिल्ली।
राज्यों और संघ क्षेत्रों में राष्ट्रपति शासन लोकसभा सचिवालय, नयी दिल्ली 1991।

16. राय, चौधरी, मजूमदार — भारत का वृहत् इतिहास,
मैकमिलन इण्डिया लि०

17. डा० ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा — प्राचीन भारतीय संस्कृतिक कला, राजनीति धर्म दर्शन।

18. हरिशचन्द्र वर्मा — मध्यकालीन भारत का वृहत् इतिहास भाग- I

हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

19. हरिशचन्द्र वर्मा — मध्यकालीन भारत का वृहत् इतिहास भाग-2

हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

20. बी. एल. ग्रोवर — आधुनिक भारत का इतिहास,

एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि० नई दिल्ली।

21. डा० आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव — भारत का इतिहास 1000 ई० से 1707 ई० तक।

22. पुखराज जैन — राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय संविधान

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

ARTICLES CONSULTED

1. Ashoke, K. — Role of the governor in emerging pattern of Centre State Relations.

"Journal of Constitutional and Parliamentary Studies", New Delhi Vol. 5, No. 3, July-Sep. 1971.

2. Hirawat Saroj — Changing role of the Governors in appointing the coalition ministry in the context of Maharashtra an Appraisal.

Journal of Constitution and Parliamentary Studies, Vol. X Oct. Dec., 1977

3. Chalapathi Ram, M. — Governor's Role, Link 24(43) 6 June, 1982, p.33.

4. Ghosh, Amanika — Constitutional Position and power of the Governor vis-vis the present Practice. Parlance 8(2-3) Nov.-Dec. 1984. p 21-23.

5. Jain, H.M. — Role of Governors

Journal of Constitutional and Parliamentary Studies 20 (1-4) January-December 1986 P-115-27.

6. Jain, H.M. — (i) Governors in Changed Political Setup, Vol.-6, No.-14, Mainstream Dec.2, 1967.

7. Sahay, S. — Arbitary use of Article 356 Vol. XXXI No.7, Mainstream Dec. 26, 1992.

8. Chittaranjan, C.M. — To democracy defence Vol. VI No. 74, Mainstream, Dec 2, 1967.

9. Chatterjee Sibranjan — The Role of Governor in Indian Politics, Indian Journal of Political Science, Vol. XXXII Oct. Dec. 1971, No.4.

10. Marwaha, Rajinder K. — The Role of Governors in India, A critique. Journal of Political Studies 23(1) Feb. 1990, p.-58-62

11. Massey, I.P. — Role of Governor-

Journal of Constitutional and Parliamentary studies 20 (1-4) Jan -Dec. 1986 p. 50-58.

12. Mody, Nawaz B. — Role of Governor Since 1967 Journal of Constitutional and Parlianentary studies 20 (1-4) Jan-Dec. 1986, p. 94-114.

13. Nayanar. E. K. — Role of Governor, Popular Jurist 6(2) March-April 1989 p. 17-19.

14. Sheoran, Chandra Pal — Governor in centre state Relations Journal of Constitutional and Parlimentary studies 20 (1-4), Jan-Dec. 1986, P. 71-94.

15. Singh, Bhawani and Hirawat Saroj- — Governors discretion and Politics of Nominations in Indian State Journal of state Politics and Administration 3(2) July-Dec. 1980, p. 10-16.

15. Siwach, J.R. — Politics of defection and the Role of Governor- A case study, Kurshetra University Research Journal 5(2) October 1971, P. 190-96.

16. Roy, P. K. — 100 days of Central Rule in U.P., The Hindu, April, 1, 1992.

17. Singh, Bhishma Narain — Not a Subordinate of Centre, Hindustan Times, New Delhi, Nov. 20, 1994.

18. Siwach, J.R. (i) Powers of the Governor to Summon the State Legislature, Kurukshetra University Research Journal, Vol. II Part I

(ii) The President's Rule, the Politics of Suspending & Dissolving the State Assemblies Constitutional & Parliamentary Studies Vol. IX, No.-4 Oct.-Dec. 1977.

19. Jag Mohan Nagland Govenor Defend himself, Mainstream, May 2, 1992.

20. Pant, Nalini The Governor and Article 356 Problems and Challenges, Journal for Study of State Government Varanasi, Vol. 5 July-Dec., 1971.

21. Noorani, A.G. - 1. Centre's Veto on state's Laws Indian Express, March 2, 1988.

Noorani, A.G. 2. President's Duty. Tackling An Errant Governor. The Statesman (Calcutta) Oct. 8, 1993.

Noorani A.G. 3. Governor And the President, Indian Express Dec. 10,1988.

22. Sahay, S. 1. Adversory Role of Governors, Hindustan Time 1, Dec. 1988.

Sahay, S.	2. Romoval of Governors A wrong precedent.
	The Hindustan Times, Jan 24. 1990
23. Yadav, Ajay	No. option But President's Rule.
	Northern India Patrika, Feb 2, 1997.
24. Singh, Amrik	The Governors Role As chancellor The Times of India, Dec. 2 1989.
25. Sundaram, P.S.	Governor - C.M. War Hotting up
	Indian Express, March 2, 1988.
26. Mishra, Bhavana	The Role of Governors in India
	Northern India Patrika, Sept. 25, 1993.
27. Vergheese, B.G.	For co-operative Federalism
	Indian Express, Feb, 17, 1988.
28. Malhotra, Inder	Too slow on Sarkaria Report
	Times of India, Dec. 13, 1991.
Malhotra, Inder	A high Office Sadly Debased
	The times of India, July, 6, 1989.
29. Rao K.V.	Guidelines for the Governors-Political System in India, Edit, by 'Verinder Grover'.

30. Gehlot, N.S. The governor's set their own Rules Parliamentry Studies New DElhi, Voo. XVI No 10 Oct., 1972.

हिन्दी में ·

1. अरूण शौरी — क्या ताकतवरों की सुविधा के लिये कानून होता है ? दैनिक जागरण, 18 जनवरी, 1993।

2. मोहन सिंह — भारतीय संविधान में केन्द्रीय हस्तक्षेप के प्रावधान, दैनिक जागरण 19 दिसम्बर, 1992।

3. बृजेन्द्र प्रताप गौतम — संविधान में राज्यपाल का पद और उसका उभरता स्वरूप।

4. के. संथानम् — संविधान सभा और राज्यपाल के पद का परिकल्पना संसदीय पत्रिका (1967)।

5. के. विक्रम राव — दरकार है राज्यपाल के रोल पर नये सोच की। राष्ट्रीय सहारा (लखनऊ) 16, जनवरी, 1996।

6. सुरेन्द्र द्विवेदी — विवादास्पद क्यों बन रहे हैं राज्यपाल राष्ट्रीय सहारा (लखनऊ) 31 जनवरी, 1994।

7. हृदय नारायण दीक्षित — अध्यादेशों की आड़ में मुख्यमंत्री - राज्यपाल में जंग। दैनिक जागरण, 28 जुलाई, 1997।

8. सुभाष कश्यप — अनुच्छेद 356 और राज्यपाल की भूमिका राष्ट्रीय सहारा (लखनऊ) 29 अक्टूबर, 1996।

9. के. विक्रम राव — राज्यपाल की छवि को ग्रहण । अमर उजाला, 4 जून, 1999।

10. सुरेन्द्र मोहन — राज्यपालों की भूमिकाओं के खतरे
दैनिक जागरण, 23 मार्च 1999।

11. कुलदीप कुमार — क्या भ्रष्टाचार अब कोई मुद्दा नहीं रह गया है ?
अमर उजाला, 17 मई 2001।

12. राजेन्द्र द्विवेदी — भारतीय राजनीति में राज्यपालों की विवादास्पद भूमिका
राष्ट्रीय सहारा, 9 जुलाई, 1993।

13. नेमीशरण मित्तल — संविधान की गरिमा का बहाल होना ।
अमर उजाला, 28 सितम्बर, 2001।